Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

Macro Economics

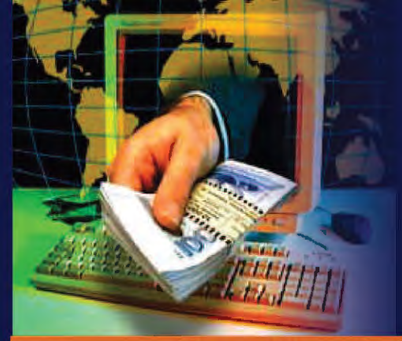

Institute of **Open** and
Distance Education

Faculty of Commerce

Macro Economics

2BCOM6P

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY
Chhattisgarh, Bilaspur
A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

2BCOM6P

समष्टि अर्थशास्त्र

[MACRO ECONOMICS]

2BCOM6P, Macro Economics

Edition: March 2024

Compiled, reviewed and edited by Subject Expert team of University

1. Dr. Rahul Sharma

(Associate Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Supriya Singh

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

3. Dr. Anshul Shrivastava

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning:

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by:

Dr. C.V. Raman University

Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.),

Ph. +07753-253801,07753-253872

E-mail: info@cvru.ac.in

Website: www.cvru.ac.in

अध्याय | पृष्ठ क्रमांक

इकाई - I

1. समष्टि अर्थशास्त्र - अवधारणा एवं प्रकृति 01
(Macro Economics - Concept and Nature)

इकाई - II

2. राष्ट्रीय आय 14
(National Income)

इकाई - III

3. मजदूरी के सिद्धान्त 30
(Theories of Wages)

4. ब्याज के सिद्धान्त 52
(Theories of Interest)

5. रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त 69
(Classical Theories of Employment)

6. कीन्स का रोजगार सिद्धान्त 77
(Keynesian Theories of Employment)

इकाई - IV

7. मौद्रिक सिद्धान्त - मुद्रा की माँग एवं पूर्ति 90
(Monitory Theories - Demand and Supply of Money)

8. मुद्रा का मूल्य 100
(Value of Money)

9. मुद्रा का तरलता सिद्धान्त 108
(Liquidity Theories of Money)

इकाई - V

10. वाणिज्यिक बैंकिंग 112
(Commercial Banking)

11. साख नियंत्रण 131
(Credit Control)

12. केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली 149
(Central Banking System)

13. मुद्रा स्फीति एवं मुद्रा संकुचन 161
(Inflation and Deflation of Money)

●●●

1

समष्टि अर्थशास्त्र-अवधारणा एवं प्रकृति
(MACRO ECONOMICS - CONCEPT AND NATURE)

समष्टि अर्थशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Macro Economics)

समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण व्यवस्था से है या सभी उपविधान का योगमात्र है जैसे कि घरेलू सरकार व व्यावसायिक क्षेत्र जिससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का निर्माण होता है। यह अर्थशास्त्र की वह शाखा है, जो कि एक विशेष प्रकार के व्यवहार का अध्ययन न करके समस्त इकाइयों का एक साथ अध्ययन करती है जैसे कि कुल राष्ट्रीय आय, कुल उपभोग, कुल उत्पादन एवं कुल रोजगार। अन्य शब्दों में मैक्रो अर्थशास्त्र में समस्त अर्थव्यवस्था के उपविभाजन के क्षेत्रों का पृथक से अध्ययन करते हैं तथा उसके योग को ज्ञात करते हैं। विशिष्ट आर्थिक इकाइयों का संकलन जो कि एक पृथक इकाई माना जाता हो उसके योग को मैक्रो अर्थशास्त्र में अध्ययन करते हैं। अत: मैक्रो अर्थशास्त्र कुल का अध्ययन करता है और इसी कारण इसे कुल या योग का अर्थशास्त्र कहा जाता है। **प्रो. के.ई. बोल्डिंग** के अनुसार, "मैक्रो अर्थशास्त्र व्यक्तिगत इकाइयों का अध्ययन नहीं करती बल्कि राष्ट्रीय आय का अध्ययन करती है, यह अकेले मूल्य का अध्ययन नहीं करती, बल्कि मूल्य स्तर का अध्ययन करती है, व्यक्तिगत उत्पादन का अध्ययन न करके राष्ट्रीय उत्पादन का अध्ययन करती है।" अत: अर्थव्यवस्था में विभिन्न प्रकार के योगों एवं औसत का अध्ययन व उनका उच्चावचन आदि का ज्ञान मैक्रो का ही अंग है। **गार्डनर एकले** का मत है कि, "मैक्रो अर्थशास्त्र वृहद स्तर पर आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। यह आर्थिक जगत की सम्पूर्ण दिशा का अध्ययन करके उसका सही वर्णन करने में सहायक सिद्ध होता है।" यहाँ यह कहा जा सकता है कि मैक्रो अर्थशास्त्र को एक पृथक शाखा के रूप में रखकर अध्ययन किया जा सकता है, क्योंकि व्यक्तिगत इकाइयों के योग को सदैव आर्थिक व्यवहार के अध्ययन में उपयोग नहीं किया जा सकता है। **बोल्डिंग** के अनुसार "मैक्रो अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र की वह शाखा है, जो कि कुल का अध्ययन करता है और किसी अकेली इकाई का अध्ययन नहीं करता तथा इन योग का अध्ययन अपने स्वाभाविक रूप में करता है तथा वह कैसे एक दूसरे से सम्बन्धित है। इसका भी अध्ययन किया जाता है।"

व्यष्टि अर्थशास्त्र
(Micro Economics)

व्यष्टि अर्थशास्त्र कुल उत्पादन, कुल व्यय रोजगार का अध्ययन न करके किसी विशिष्ट वस्तु या सेवा के उत्पादन का अध्ययन करता है। एक व्यक्ति विशेष क्या व्यय करता है तथा एक फर्म या एक उद्योग कितना माल उत्पादित करता है, इसका अध्ययन ही माइक्रो अर्थशास्त्र का विषय है। इस प्रकार यह एक विशेष वस्तु के मूल्य, मजदूरी या आय का अध्ययन करता है। जैसे माइक्रो अर्थशास्त्र यह स्पष्ट करता है कि एक अकेली फर्म एक विशेष उत्पाद का विक्रय मूल्य कैसे निर्धारित करता है तथा कितना उत्पादन उस व्यक्ति की आय को अधिकतम कर सकता है तथा वह व्यक्ति कैसे अपने लाभ को अधिकतम कर सकता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति किस प्रकार अपने श्रम, सामग्री व पूँजी उपकरणों की सहायता से उत्पादन की लागत को न्यूनतम कर सकता है।

के. ई. बोल्डिंग के अनुसार, "माइक्रो अर्थशास्त्र एक विशेष फर्म, विशेष मकान, व्यक्ति, मूल्य, मजदूरी, आय, व्यक्तिगत उद्योग व विशेष वस्तु का ही अध्ययन करता है।"

व्यष्टि अर्थशास्त्र को 'मूल्य सिद्धान्त' भी कहा जाता है तथा यह स्पष्ट करता है कि कुल उत्पादन का निर्माण किस प्रकार हुआ है। किस प्रकार अन्य की अपेक्षा अन्य वस्तुओं का उत्पादन अधिक किया जाता है। जब कभी भी माइक्रो अर्थशास्त्र का अध्ययन किया जाए तो इसका आशय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के एक छोटे से भाग का ही अध्ययन करना है। उदाहरणार्थ यदि श्रम के रोजगार का अध्ययन करना हो तो हमें एक विशेष प्रकार के श्रम का अध्ययन करना होगा। यहाँ यह कह सकते हैं कि माइक्रो अर्थशास्त्र का सम्बन्ध एक विशेष आर्थिक इकाई से होता है तथा व्यक्तिगत व्यवहारों का एक विस्तृत-अध्ययन किया जाता है। यदि माइक्रो अर्थशास्त्र में मूल्य के विश्लेषण का अध्ययन करना हो तो एक विशेष उत्पाद के मूल्य का अध्ययन करना होगा न कि अर्थव्यवस्था में सामान्य मूल्य स्तर का अध्ययन करना होगा। **गार्डनर एकले** के अनुसार "माइक्रो अर्थशास्त्र उद्योगों के उत्पादन के विभाजन का अध्ययन करता है तथा स्रोतों का विभाजन विभिन्न प्रतियोगी उपभोगों में करता है।" यह आय वितरण की समस्याओं का अध्ययन करता है। इसका हित विशेष माल व सेवा की सापेक्षिक मूल्यों का अध्ययन करने में है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि माइक्रो अर्थशास्त्र अकेले पेड़ का अध्ययन करता है न कि पूरे जंगल का। माइक्रो अर्थशास्त्र अर्थव्यवस्था की किसी एक समस्या का अध्ययन करता है, पूरी अर्थव्यवस्था का अध्ययन नहीं करता है। इसका सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों महत्व है। सैद्धान्तिक रूप में माइक्रो अर्थशास्त्र एक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था का अध्ययन करता है। व्यावहारिक रूप में यह आर्थिक नीतियों के निर्माण का अध्ययन करता है जिससे उत्पादन में कुशलता को बढ़ाया जा सके। माइक्रो अर्थशास्त्र जटिल आर्थिक सिद्धान्तों को सरल बनाता है तथा व्यवहार की प्रक्रिया को सरल रखकर अर्थव्यवस्था का अध्ययन करता है। माइक्रो अर्थशास्त्र का सम्बन्ध अर्थशास्त्र की अन्य शाखाओं से भी है जैसे कि राजस्व, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, बैंकिंग, यातायात आदि।

समष्टि अर्थशास्त्र का विकास

(Development of Macro Economics)

समष्टि अर्थशास्त्र का सिद्धान्त गत दो-तीन दशकों में ही विकसित हुआ है। आय व रोजगार का सिद्धान्त जो कि मैक्रो अर्थशास्त्र की जान माना जाता है, उसका उदय भी 1929-33 की महान मन्दीकाल में हुआ। इसी प्रकार से रोजगार, आय एवं ब्याज व मुद्रा का जॉन कीन्स का सामान्य सिद्धान्त 1936 में विकसित हुआ। आधुनिक मैक्रो अर्थशास्त्र का विकास अपने विश्लेषणात्मक रूप में बाद में हुआ। इस विश्लेषण के प्रकाश में, कीन्स ने स्वतंत्र विश्व में सरकार की मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीति का प्रतिपादन किया, परन्तु कीन्स द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन का सम्पूर्ण समाजीकरण संभव न हो सका। केन्द्रीय नियंत्रण की आवश्यकता के अतिरिक्त, उपयोग की सीमान्त उत्पादकता एवं विनियोग की तत्परता के मध्य एक समायोजन करना आवश्यक था। अतः इससे पूर्व की भाँति ही, अर्थव्यवस्था में और अधिक समाजीकरण करना आवश्यक नहीं माना गया।

1950 व 1960 के मध्य अर्थशास्त्रियों ने यह मान लिया कि अधिकांशतया आधारभूत मैक्रो अर्थशास्त्र का विश्लेषण पूर्ण हो चुका है। उस समय यह विश्वास किया गया था कि यदि उस समय के राजनीतिज्ञ कीन्स द्वारा प्रतिपादित अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन करते तो अर्थव्यवस्था में रोजगार, उत्पादन एवं मूल्य पर स्थायित्व लाया जा सकता था। उस समय के भौतिकवादी, वणिकवादी एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों जैसे एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो एवं कार्ल मार्क्स आदि का अध्ययन समाज में कुल आय एवं आर्थिक पद्धति में व्यवहार की ओर ही केन्द्रित रहा। वास्तव में, आधुनिक मैक्रो आर्थिक सिद्धान्त कीन्स द्वारा प्रतिपादित आय एवं रोजगार के सिद्धान्त पर विकसित सिद्धान्त का ही एक रूप है।

आधुनिक मैक्रो आर्थिक सिद्धान्त में निम्न बातों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है :-

(1) पूर्ण रोजगार में विकास की दर, स्तर एवं विधि क्या होगी।

(2) एक निश्चित समय में वास्तविक उत्पादन का स्तर किस प्रकार निर्धारित होगा।

(3) स्फीति की दर एवं स्तर किस प्रकार निश्चित होगी।

अत: यह कहा जा सकता है कि मैक्रो अर्थशास्त्र कुछ कुल मात्रा के निर्धारण सम्बन्धी समस्याओं से सम्बन्धित रहता है। व्यक्तिगत उत्पादन का व्यवहार ही सकल राष्ट्रीय उत्पादन को जन्म देता है तथा इसका वितरण ही राष्ट्र के सदस्यों की आय मानी जाती है। अत: मैक्रो अर्थशास्त्र में सकल राष्ट्रीय उत्पाद, कुल उपभोग, कुल विनियोग, श्रम का कुल योग व कुल रोजगार व राष्ट्रीय आय सभी आर्थिक चलों की प्राथमिक स्थिति है, जिसका अध्ययन मैक्रो अर्थशास्त्र में किया जाता है।

समष्टिगत अर्थशास्त्र का अर्थ

(Meaning of Macro Economics)

समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता सूक्ष्म अर्थशास्त्र की सीमाओं तथा कुछ अन्य बातों के परिणामस्वरूप प्रतीत होती है। समष्टिगत या 'व्यापक अर्थशास्त्र' में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया जाता है जैसे राष्ट्रीय आय, रोजगार, सम्पूर्ण उत्पादन, उपभोग, बचत, कुल विनिमय आदि। इसी प्रकार कुल माँग, कुल पूर्ति, सामान्य मूल्य-स्तर आदि का अध्ययन व्यापक अर्थशास्त्र में ही किया जाता है। इसमें समूचे आर्थिक पद्धति का अध्ययन किया जाता है, किसी एक इकाई या एक पद्धति का नहीं। अत: यह स्पष्ट है कि समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र विशेष मदों का अध्ययन करके सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के योग एवं उनके औसतों का अध्ययन करता है। अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित बड़े योगों को व्यापक मात्राएँ या व्यापक चर कहा जाता है। इसे योग सम्बन्धी अर्थशास्त्र भी कहते हैं। राष्ट्रीय आय का अध्ययन केन्द्रीय स्थान रखने के कारण इसे आय व रोजगार विश्लेषण, या आय सिद्धांत या राष्ट्रीय आय विश्लेषण कहा जाता है। इसे योग सम्बन्धी अर्थशास्त्र भी कहा जाता है।

समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ -

व्यापक अर्थशास्त्र की मुख्य परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं-

(1) **प्रो. चेम्बरलेन** – "व्यापक मण्डल कुल सम्बन्धों की व्याख्या करता है।"

(2) **गार्डन एकेल** – "व्यापक अर्थशास्त्र आर्थिक समस्याओं का वृहद् रूप से विचार करता है। इसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण पहलू से होता है। यह सम्पूर्ण आकार को प्रदर्शित करता है।"

(3) **प्रो.बोल्डिग** – "व्यापक अर्थशास्त्र विशेष मदों की अपेक्षा, आर्थिक मात्रा के योगों, औसतों की प्रकृति, सम्बन्धों एवं व्यवहार का अध्ययन करता है।"

(4) **प्रो. शूल्ज** – "व्यापक अर्थशास्त्र का मुख्य उपकरण राष्ट्रीय आय विश्लेषण ही है।"

समष्टि अर्थशास्त्र की विषय सामग्री

(Subject Matter of Macro Economics)

वास्तविक व्यवहार में, मैक्रो अर्थशास्त्र का सम्बन्ध नीति निर्माण के मामले, आर्थिक नीति, विनिमय दर नीति व औद्योगिक व लाइसेन्सिंग नीति आदि के निर्माण से है। मैक्रो अर्थशास्त्र की विषय सामग्री में निम्न को सम्मिलित करते हैं :-

(1) देश में आय, रोजगार एवं मौद्रिक मूल्यों के स्थायित्व के लिए मौद्रिक व प्रशुल्क नीति का निर्धारण करना।

(2) आय, रोजगार व मूल्यों के निर्धारण में मुद्रा के महत्व का अध्ययन करना।

(3) कुल माँग के सिद्धान्त का अध्ययन करना।

(4) विकास अर्थशास्त्र के स्थायीकरण के लिए देश में मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीति का निर्धारण करना व उसे लागू करना।

व्यष्टि एवं समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर

(Distinction between Macro and Micro Economics)

व्यष्टि एवं समष्टि अर्थशास्त्र में भेद करना कठिन है, क्योंकि एक स्थिति में जो मैक्रो अर्थशास्त्र है वही दूसरी स्थिति में माइक्रो अर्थशास्त्र हो सकता है। उदाहरणार्थ, बन्द अर्थव्यवस्था में बचत, रोजगार व उपभोग आदि का अध्ययन पूर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्टि से मैक्रो अर्थशास्त्र है, क्योंकि यह समूह का

NOTES

अध्ययन करता है। दूसरी ओर माइक्रो अर्थशास्त्र में पूर्ण अर्थव्यवस्था के एक भाग का ही अध्ययन किया जाता है जैसे कि उपभोक्ता का व्यवहार एवं अकेली फर्म का अध्ययन करना। इस सम्बन्ध में मैक्रो व माइक्रो अर्थशास्त्र में स्पष्ट भेद करना संभव नहीं हो पाता है, क्योंकि जब एक देश के दूसरे देश से व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं तो एक समूचा देश अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे में एक इकाई माना जाता है और उसकी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन मैक्रो अर्थशास्त्र बन जाता है। अन्य देशों या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्दर्भ में एक देश के अध्ययन को मैक्रो अर्थशास्त्र माना जा सकता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को ध्यान में रखने पर यही अध्ययन माइक्रो अर्थशास्त्र की विषय सामग्री बन जाता है। अन्य शब्दों में माइक्रो अर्थशास्त्र एक खुली अर्थव्यवस्था है जबकि मैक्रो अर्थशास्त्र एक बन्द अर्थव्यवस्था है। अत: स्पष्ट है कि मैक्रो अर्थशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्तिगत इकाइयों से नहीं होता जैसे एक घर या एक फर्म, परन्तु माइक्रो अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया जाता है जैसे एक उद्योग, उपभोक्ता की मांग, राष्ट्रीय आय, पूर्ण रोजगार आदि। माइक्रो अर्थशास्त्र में अधिकतम या न्यूनतम की समस्या का अध्ययन करते हैं जबकि मैक्रो अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण मात्रा व उससे सम्बन्धित बातों का ही अध्ययन किया जाता है।

प्रारम्भ में माइक्रो एवं मैक्रो अर्थशास्त्र में कोई भेद नहीं था, क्योंकि अर्थशास्त्रियों ने इस विभाजन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था। मैक्रो अर्थशास्त्र के साथ-साथ माइक्रो अर्थशास्त्र के अध्ययन पर जोर डाला गया। 1929-32 की महानमन्दी के समय अर्थशास्त्रियों का ध्यान मैक्रो अर्थशास्त्र की ओर गया। **जे.एम. कीन्स** के सामान्य सिद्धान्त के प्रकाशन के बाद, अर्थशास्त्रियों ने मैक्रो अर्थशास्त्र पर अधिक महत्व देना प्रारम्भ कर दिया। कीन्स का अर्थशास्त्र भी एक मैक्रो अर्थशास्त्र है जो कि आर्थिक पद्धति के कार्यों का अध्ययन समूह में करता है। इसका यह आशय नहीं है कि माइक्रो अर्थशास्त्र का आर्थिक जगत में महत्व कम हो गया है। वास्तव में आर्थिक पद्धति के सही ढंग से अध्ययन करने हेतु यह आवश्यक है कि माइक्रो एवं मैक्रो दोनों अर्थशास्त्र का अध्ययन सही ढंग से किया जाए।

समष्टि अर्थशास्त्र का महत्व

(Importance of Macro Economics)

समष्टि अर्थशास्त्र के महत्व को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है:-

(1) **माइक्रो अर्थशास्त्र को समझना** - माइक्रो अर्थशास्त्र को समझने हेतु मैक्रो अर्थशास्त्र का अध्ययन करना जरूरी था। समूह का अध्ययन किए बिना कोई भी माइक्रो अर्थशास्त्र की समस्या का समाधान संभव नहीं है। मैक्रो अर्थशास्त्र ही सामान्य व वृहत विश्लेषण का अध्ययन कर सकता है जो कि आर्थिक समस्याओं का अध्ययन सही ढंग से करके नियोजकों को सही नीति निर्देश व निर्माण में सहायता प्रदान कर सकता है। इससे देश की मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीति के निर्माण में भी सहायता प्राप्त होती है।

(2) **राष्ट्रीय आय का अध्ययन** - राष्ट्रीय आय, सकल राष्ट्रीय उत्पाद, कुल विनियोग व रोजगार आदि को समझने में मैक्रो अर्थशास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। कीन्स ने राष्ट्रीय आय को शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) न मानकर सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) माना है, क्योंकि अल्पकाल में पुनर्स्थापन एवं मरम्मत व्यय को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता है। अत: स्पष्ट है कि अल्पकाल में जनता की कुल आय को ज्ञात करने में सकल राष्ट्रीय उत्पाद एक महत्वपूर्ण उपकरण है।

(3) **आर्थिक विकास का अध्ययन** - आर्थिक विकास से आशय यह है कि देश में एक उच्च कोटि की विकसित आर्थिक पद्धति है। इसमें पूँजी निर्माण की ऊँची दर एवं ऊँची तकनीकी विकास का समावेश रहता है। मैक्रो अर्थशास्त्र की सहायता से आर्थिक विकास की विचारधारा को सरलता से समझा जा सकता है तथा देश में विकास सम्बन्धी नीतियों का निर्माण सरलता से संभव हो जाता है।

(4) **अर्थव्यवस्था का अध्ययन** - मैक्रो अर्थशास्त्र द्वारा आय प्राप्ति की प्रक्रिया तथा वे शक्तियाँ जो कि अर्थव्यवस्था में आय का निर्धारण करती हैं, उनका परीक्षण सरलता से किया जा सकता है। मैक्रो अर्थशास्त्र की सहायता से समूह सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करना आसान हो जाता है जैसे कि बेरोजगार की समस्या, गरीबी की समस्या, मौद्रिक व प्रशुल्क नीतियों सम्बधी मामले आदि।

(5) **अर्थव्यवस्था का कार्य** – मैक्रो अर्थशास्त्र किसी भी अर्थव्यवस्था के कार्यों के अध्ययन करने में सहायता प्रदान करता है। यह साम्य प्रक्रिया व अंश के अध्ययन करने में सहायता प्रदान करता है तथा अर्थव्यवस्था में आय एवं उत्पादन को प्राप्त करने सम्बन्धी स्रोतों का अध्ययन भली प्रकार से करने में सहायता प्रदान करती है।

(6) **आर्थिक उच्चावचन** – आर्थिक उच्चावचन के सिद्धान्त का अध्ययन भी मैक्रो अर्थशास्त्र की सहायता से किया जा सकता है। इसके अध्ययन में समूह उपभोग, समूह विनियोग व समूह बचत आदि का अध्ययन समूह में करना होता है। इसी की सहायता से रोजगार, उत्पादन एवं आय में होने वाले परिवर्तनों की जानकारी आसानी से हो जाती है।

(7) **स्फीतिक एवं अस्फीतिक का अध्ययन** – अर्थव्यवस्था में वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य स्थिर नहीं रहता है। इनमें तेजी व शीघ्रता से परिवर्तन आते रहते हैं। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन आने से समाज के विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। मैक्रो अर्थशास्त्र की सहायता से मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन सरलता से संभव हो जाता है। यदि देश में स्फीतिक या अस्फीतिक स्थिति है तथा मैक्रो अर्थशास्त्र की सहायता से उसके कारणों एवं प्रभावों का अध्ययन सरलता से किया जा सकेगा।

समष्टिगत अर्थशास्त्र की विशेषताएँ
(Characteristics of Macro Economics)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर समष्टिगत अर्थशास्त्र की प्रमुख विशेषताऐं निम्न प्रकार हैं :-

1. **परिवर्तनशील समष्टि इकाइयां** (Variable Macro Units) :– समष्टिगत अर्थशास्त्र में समष्टि या वृहत इकाइयों, जैसे– राष्ट्रीय आय, कुल उत्पादन, कुल रोजगार, सामान्य कीमत स्तर आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमें समष्टिगत इकाइयों को स्थिर न मानकर परिवर्तनशील माना जाता है।

2. **सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित** (Related to the Whole Economy) :– समष्टिगत अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित नीतियों का अध्ययन किया जाता है। इन नीतियों का प्रभाव किसी एक वैयक्तिक इकाई पर नहीं देखा जाता वरन् सम्पूर्ण समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का समष्टिगत अर्थशास्त्र में विश्लेषण किया जाता है।

3. **परस्पर निर्भरता** (Inter - dependence) :– अर्थव्यवस्था की विभिन्न समष्टिगत मात्राएं परस्पर सम्बद्ध होती है तथा किसी एक में परिवर्तन होने पर अन्य मात्राओं के साम्य भी परिवर्तित होते हैं। उदाहरणार्थ– यदि एक देश में कुल निवेश में वृद्धि होती है, तब गुणक प्रभाव के कारण उस देश में आय, रोजगार एवं उत्पादन आदि में भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था की विभिन्न मात्राऐं परस्पर निर्भर रहती हैं।

समष्टिगत अर्थशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Macro Economics)

समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक माना जाता है, जिसमें अर्थव्यवस्था के बड़े समूहों, योगों एवं औसतों का अध्ययन किया जाता है। इसमें राष्ट्रीय आय, रोजगार की स्थिति, कुल उत्पादन, मौद्रिक व बैंकिंग समस्याएँ, सामान्य मूल्य स्तर, विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजस्व एवं आर्थिक विकास के सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है। व्यापक अर्थशास्त्र को 'आयं एवं रोजगार' का सिद्धांत कहा गया है। कुल राष्ट्रीय आय व उससे सम्बन्धित मुख्य कार्यों व तत्वों का अध्ययन व विश्लेषण करने के कारण इसे 'आय सिद्धांत' कहा गया है। आय सिद्धांत को रोजगार सिद्धांत भी कहा गया है, क्योंक इसमें कुल राष्ट्रीय आय व उससे सम्बन्धित कार्यों का अध्ययन किया जाता है। आय के निर्धारक तत्व देश के पूर्ण रोजगार को निर्धारण करने में सहायक सिद्ध होते हैं। आय के निर्धारण तत्वों का समस्त रोजगार पर प्रभाव पड़ने के कारण इसे रोजगार सिद्धांत भी कहा जाता है। **लार्ड कीन्स** ने ही आय व रोजगार सिद्धांत या व्यापक अर्थशास्त्र को आगे बढ़ाया है। इसे **'कीन्सीयन अर्थशास्त्र'** भी कहा जाता है। समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है :–

NOTES

(i) आय, उत्पादन एवं रोजगार का सिद्धांत, जिसमें उपभोग कार्य का सिद्धांत एवं विनियोग कार्य के सिद्धांत को सम्मिलित किया जाता है।

(ii) मूल्यों के सिद्धांत, जिसमें मुद्रा प्रसार, मुद्रा संकुचन एवं मुद्रा पुनःस्फीति के सिद्धांत आदि आते हैं।

(iii) आर्थिक वृद्धि के सिद्धांत, जिसका सम्बन्ध आय, उत्पादन व रोजगार के दीर्घकालीन विकास से सम्बन्धित रहता है।

(iv) वितरण का व्यापक सिद्धांत जो कि राष्ट्रीय आय में मजदूरी व लाभ के भाग से सम्बन्धित है।

समष्टिगत अर्थशास्त्र के विश्लेषण के प्रकार

(Types of Macro-Economic Analysis)

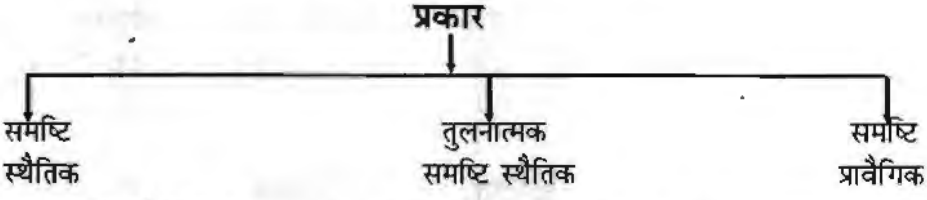

(1) **समष्टि स्थैतिक** (Macro-Statics)– इसमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन स्थायी स्थिति में किया जाता है, परन्तु इसमें यह नहीं बताया जाता कि आर्थिक दशा उस साम्य स्थिति पर किस प्रकार पहुँची है। यह केवल साम्य का अध्ययन है। वर्तमान संसार में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं और विभिन्न यौगिक अपनी क्रिया एवं प्रतिक्रिया द्वारा नवीन सन्तुलन स्थापित करते हैं। इन विभन्न सन्तुलन स्थितियों का अध्ययन समष्टि स्थैतिक विश्लेषण कहलाता है। इसे निम्न समीकरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

$$Y = C + I$$

यहाँ Y = कुल आय, C = कुल उपभोग एवं I = कुल विनियोग।

समीकरण से स्पष्ट है कि कुल आय सदैव कुल उपभोग एवं कुल विनियोग के बराबर रहती है, परन्तु यह स्थिति किस प्रकार पहुँचती है, यह समीकरण से स्पष्ट नहीं हो पाता। इस समीकरण में समय का विचार नहीं किया गया है। इसमें न तो समय का विवेचन और न परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है–

चित्र 1 में C उपभोग वक्र है, जो आय के प्रत्येक स्तर पर उपभोग की मात्रा को बताता है। C+I वक्र उपभोग एवं विनियोग पर होने वाले व्यय को व्यक्त करता है। 45° कोण पर Y=C+I या कुल आय = कुल व्यय रेखा के बराबर है। चित्र में OY बिन्दु पर अर्थव्यवस्था में सन्तुलन की स्थिति बनी रहती है। राष्ट्रीय आय इसी स्तर पर कुल आय एवं कुल व्यय के बराबर होती है।

चित्र में X अक्ष पर आय तथा Y अक्ष पर उपभोग एवं विनियोग को लिया गया है।

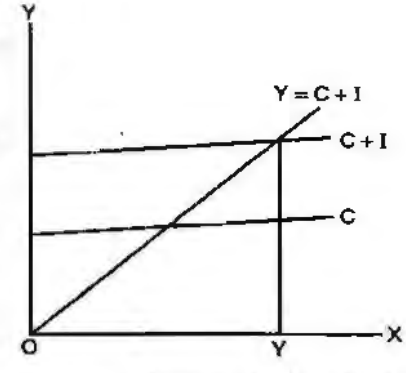

(2) **तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक** (Comparative Macro-Statics)– अर्थव्यवस्था में सदैव परिवर्तन होने से उसमें कभी भी स्थिरता नहीं पायी जाती। अर्थव्यवस्था में इन परिवर्तनों के कारण ही नवीन सन्तुलन बिन्दु स्थापित होते रहते हैं। तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक में इन विभिन्न सन्तुलन बिन्दुओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। अत: इस प्रणाली में सन्तुलन की दो पृथक् स्थितियों की एक दूसरे से तुलना की जाती है। इसमें उस परिवर्तन का अध्ययन नहीं किया जाता जिसमें एक सन्तुलन स्थिति से हटकर दूसरी संतुलन स्थिति को प्राप्त किया जाता है। कीन्स ने इसे 'बदलता रहने वाला साम्य' कहा

है। इसी को कीन्स ने प्रावैगिक विवेचना माना है और वास्तव में यही तुलनात्मक स्थैतिक दशा मानी जाती है। कीन्स ने अपने विश्लेषण में इसी तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण को ही अपनाया है। इसमें यह बात प्रकट नहीं की जाती है कि अर्थव्यवस्था एक सन्तुलित स्थिति से हटकर दूसरी सन्तुलन स्थिति को प्राप्त कर लेती है। इसे चित्र - 2 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है–

चित्र-2 में OY आय रेखा है तथा C+I उपभोग व विनियोग रेखा है। यदि विनियोग की मात्रा में वृद्धि होकर Δ1 हो जाती है तो इस विधि से सन्तुलन में ΔY के बराबर वृद्धि हो जाती है और सन्तुलन OY से बढ़कर OY' हो जाता है। अत: Δ1 के उपभोग एवं विनियोग प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यवस्था में साम्य की स्थिति Y से बढ़कर OY' हो जाती है। अत: तुलनात्मक समष्टि भाव विश्लेषण द्वारा एक नवीन सन्तुलन बिन्दु को प्राप्त करने हेतु अर्थव्यवस्था में समायोजन करना होता है।

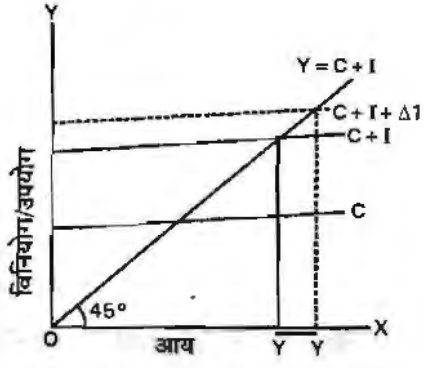

(3) **समष्टि प्रावैगिक** (Macro-Dynamics)– हिक्स, टिनवर्जन, फ्रिश्च, बोल्डिंग, राबर्टसन, सैम्युलसन तथा हैरोड आदि अर्थशास्त्रियों ने समष्टि प्रावैगिक विश्लेषण को महत्व दिया। इसमें अर्थव्यवस्था में उपभोग, विनियोग, उत्पादन, वितरण आदि में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया जाता है और उनके समायोजन की व्याख्या की जाती है। समष्टि प्रावैगिक के मुख्य लक्षण निम्न प्रकार हैं–

(i) आर्थिक घटकों के परिवर्तनों के असमान गुणों का अध्ययन किया जाता है।

(ii) समायोजन की उस प्रक्रिया का भी अध्ययन करते हैं, जिसके द्वारा देश की अर्थव्यवस्था नवीन सन्तुलन की अर्थव्यवस्था को प्राप्त करती है।

(iii) इससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के परिवर्तनों का दृश्य एक चलचित्र की भाँति प्रस्तुत हो जाता है।

(iv) इसमें आर्थिक घटकों में निरन्तर होने वाले परिवर्तन का अध्ययन करके कारण एवं परिणाम को पृथक-पृथक रूप से रखा जा सकता है।

समष्टि प्रावैगिक प्रणाली को चित्र-3 की सहायता से सरलता से समझाया जा सकता है–

प्रारम्भिक सन्तुलन की अवस्था में OY आय है जबकि विनियोग में Δ1 वृद्धि हो जाती है तब इस वृद्धि के परिणामस्वरूप समस्त सन्तुलन आय में ΔY वृद्धि हो जाती है और सन्तुलन आय Y के स्थान पर Y' हो जाती है। चित्र में C+I वक्र प्रारम्भिक कुल व्यय वक्र है। व्यय वक्र उपभोग पर किया गया व्यय एवं कुल विनियोग का योग होता है। जब विनियोग में I वृद्धि हो जाती है तो कुल व्यय वक्र C+I बढ़कर C+I+Δ1 हो जाता है तथा सन्तुलन आय-व्यय बिन्दु A से हटकर A' हो जाता है। समष्टि सन्तुलन आय में वृद्धि किस प्रकार होती है इसकी प्रक्रिया ABDCE रेखा द्वारा प्रदर्शित की गयी है।

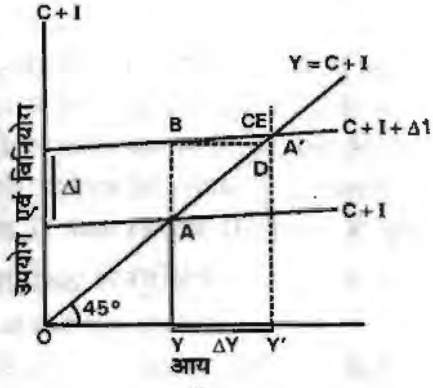

चित्र 3

समष्टिगत अर्थशास्त्र का प्रयोग एवं इसकी आवश्यकता

(Use and Need of Macro Economics)

समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता सूक्ष्म अर्थशास्त्र की सीमाओं तथा कुछ अन्य बातों के परिणामस्वरूप प्रतीत होती है। सरकारी नीतियों के पालन करने एवं सफलतापूर्वक

NOTES

संचालन करने हेतु समष्टिगत अर्थशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक माना जाता है। समष्टिगत अर्थशास्त्र के प्रयोग एवं उसकी आवश्यकता को निम्न प्रकार रखा जा सकता है–

(1) **आर्थिक नीतियों के निर्माण में सहायक** – सरकार की आर्थिक नीतियों का सम्बन्ध समूहों व योगों से रहता है तथा व्यक्तियों से नहीं होता। समय-समय पर सरकार द्वारा वैयक्तिक इकाइयों पर भी ध्यान दिया जाता है, परन्तु मुख्य कार्य कुल रोजगार, कुल आय, मूल्य स्तर, व्यापार के सामान्य स्तर आदि के नियंत्रण में होता है। विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित समस्याओं को समष्टिगत या व्यापक आर्थिक विश्लेषण की सहायता से सरकार आर्थिक नीतियों के निर्माण में सहायता प्रदान करती है।

(2) **जटिल अर्थव्यवस्था का सामूहिक संचालन करना** – वर्तमान अर्थव्यवस्था अत्यन्त जटिल होने के कारण आर्थिक तत्व एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र में समस्त अर्थव्यवस्था के आर्थिक संगठन एवं संचालन का सही ज्ञान प्राप्त किया जाता है जबकि विशिष्ट अर्थशास्त्र में केवल वैयक्ति इकाइयों का ही ज्ञान कराया जाता है।

(3) **विरोधाभासों के कारण भी आवश्यक** – समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्रीय विरोधाभास से आशय उन धारणाओं से है जो किसी एक व्यक्ति के लिए तो सही सिद्ध हो सकती हैं, लेकिन उनका प्रयोग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर लागू करने से वह व्यर्थ सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ बचत एक व्यक्ति की दृष्टि से लाभदायक है, परन्तु यदि सभी व्यक्ति बचत करने लगें तो सम्पूर्ण देश के लिए हानिकारक होगी। इन विरोधाभासों के कारण भी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के पृथक् अध्ययन की आवश्यकता रहती है।

(4) **व्यापक क्षेत्र** – समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र में अनेक व्यापक विषयों का अध्ययन किया जाता है जैसे कि राष्ट्रीय आय, रोजगार के सिद्धांत, सामान्य मूल्य स्तर, मुद्रा एवं वित्त, आर्थिक विकास के सिद्धांत, विदेशी विनिमय आदि। इन समस्त विषयों की जानकारी, में व्यापक अर्थशास्त्र की आवश्यकता रहती है, जिसमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था एवं बड़े योगों व औसतों का अध्ययन किया जाता है।

(5) **उपभोक्ता वस्तुओं व पूँजीगत वस्तुओं के साधनों का वितरण** – समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र एक ओर उपभोक्ता वस्तुओं तथा दूसरी ओर पूँजीगत वस्तुओं के मध्य साधनों के वितरण से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करता है। व्यापक अर्थशास्त्र में साधनों के वितरण का अध्ययन दो बड़े भागों में किया जाता है और यह दो बड़े भाग ही मिलकर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का निर्माण करते हैं।

(6) **विशिष्ट अर्थशास्त्र में आवश्यक** – विशिष्ट अर्थशास्त्र के विकास के लिए भी व्यापक अर्थशास्त्र आवश्यक माना गया है। विशिष्ट अर्थशास्त्र विभिन्न नियमों व सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है परन्तु उसे ऐसा करने में व्यापक अर्थशास्त्र की सहायता लेनी होती है। जैसे एक फर्म का सिद्धांत का निर्माण अनेक फर्मों के व्यवहार को सामूहिक रूप से अध्ययन करके ही किया गया। इसी प्रकार व्यक्तियों के समूहों के व्यवहार का अध्ययन करके ही उपयोगिता द्वारा नियम का निर्माण किया गया।

समष्टिगत अर्थशास्त्र के दोष एवं सीमायें

(Defects and Limitations of Macro Economics)

यद्यपि समष्टिगत या व्यापक आर्थिक विश्लेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका है, परन्तु इसकी कुछ सीमायें एवं खतरे हैं, जिन्हें निम्न प्रकार से रखा जा सकता है –

(1) **समूह की अपेक्षा समूह की रचना महत्वपूर्ण** – व्यापक अर्थशास्त्र के विरोध में यह कहा जाता है कि समाज या समूह महत्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि उसकी रचना अधिक महत्वपूर्ण होती है। उदाहरणार्थ यदि 1998-99 में मूल्य-स्तर सामान्य हो और उसमें कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर न हों और सामान्य मूल्य-स्तर स्थिर हों, तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल्यों के सम्बन्ध में कोई नवीन कदम उठाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु ऐसा सोचना त्रुटिपूर्ण होगा, क्योंकि शायद कृषि उपजों के मूल्य गिर सकते हैं और उद्योगों के उत्पादन के मूल्य बढ़ गये हों और सामान्य मूल्य स्तर में कोई परिवर्तन न हुआ हो। अत: समूह व योग के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना उस समय तक उचित

नहीं होगा, जब तक कि समूहों की रूपरेखा, बनावट व प्रकृति आदि के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त न हो जाये।

(2) **समूहों की माप सम्बन्धी कठिनाइयाँ** – जिन इकाइयों से आर्थिक समूह का निर्माण होता है, वे प्राय: विभिन्न स्वभाव वाली होती हैं। भिन्न-भिन्न मात्राओं की मापक इकाइयाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं जैसे, 100 किलो चावल को 4 मीटर कपड़े के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। इन सबको एक साथ जोड़ने के लिए मुद्रा के सामान्य मापदण्ड का प्रयोग करना होता है परन्तु मुद्रा का मूल्य निरन्तर परिवर्तित होने से आर्थिक योगों की तुलना करना कठिन हो जाता है।

विशिष्ट विश्लेषण से आगे सामान्य निष्कर्षों का प्रतिपादन करने पर भिन्न प्रकार की जातीय, आर्थिक तत्वों व घटकों के कारण अनेक जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। माँग मूल्य के प्रत्येक स्तर पर पूर्ति के विभिन्न संयोग प्राप्त होते हैं और पूर्ति के प्रत्येक संयोग पर विभिन्न माँग मूल्य प्राप्त होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में एक सामान्य माँग वक्र के स्थान पर माँग क्षेत्र एवं पूर्ति क्षेत्र का अध्ययन करना होगा। ऐसी स्थिति में मिलाप बिन्दु पर सन्तुलन क्षेत्र होगा। इसे चित्र 4 में दिखाया जा सकता है–

चित्र - 4 में X- अक्ष पर कुल उत्पादन तथा Y अक्ष पर औसत मूल्य लिया गया है। DD माँग रेखा तथा SS पूर्ति रेखा है तथा मिलान बिन्दु B है। माँग व पूर्ति में परिवर्तन होने पर माँग वक्र एवं पूर्ति वक्र बढ़कर क्रमश: D_1D_1 तथा S_1S_1 हो जाते हैं, जिनका नवीन सन्तुलन बिन्दु D हो जाता है।

चित्र-4 में DD व D_1D_1 के मध्य का क्षेत्र माँग क्षेत्र एवं SS एवं S_1S_1 के मध्य का क्षेत्र पूर्ति क्षेत्र और रेखांकित क्षेत्र ABCD सन्तुलन क्षेत्र बताता है। सन्तुलन अनिश्चित रहता है और इस कठिनाई को दूर करने हेतु निर्देशांकों का सहारा लिया जाता है, परन्तु निर्देशांक का निर्माण करने में अनेक सांख्यिकीय कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं जैसे कि आधार-वर्ष का चुनाव, औसत व भार का चुनाव, आँकड़ों का संग्रह आदि। इन कठिनाइयों के कारण ही निर्देशांक का निर्माण सही ढंग से नहीं हो पाता। इससे निकाले गये निष्कर्ष अशुद्ध व त्रुटिपूर्ण रहते हैं।

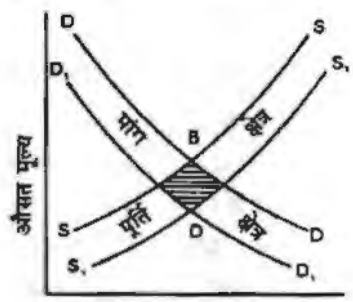

चित्र 4

(3) **निष्कर्ष सदा सही नहीं होते** – समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध योगों से रहता है और कभी-कभी व्यक्ति तथा समूहों के परिणामों के योग को व्यापक विश्लेषण का आधार मान लेते हैं, परन्तु यह सदैव सत्य नहीं है कि जो निष्कर्ष व्यक्तियों व समूहों के सम्बन्ध में लागू हों, वह सम्पूर्ण समाज व अर्थव्यवस्था में भी लागू हो। उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति बैंक से धन निकाले तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु यदि सभी जमाकर्ता अपना धन बैंक से निकालने लगें तो बैंक के टूटने की सम्भावना बढ़ जाएगी। इसी प्रकार यदि एक व्यक्ति बचत करे तो अच्छा है, परन्तु यदि समाज के सभी व्यक्ति बचत करना प्रारम्भ कर दें तो यह एक अभिशाप सिद्ध होगा। आर्थिक विरोधाभास के बारे में **प्रो. बोल्डिंग** का मत है कि 'समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र में व्यक्ति को व्यक्तिगत अनुभव से कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए। व्यक्ति में प्राय: दैनिक अनुभव के आधार पर समान निष्कर्ष निकालने की आदत होती है। यदि इस आदत का निरन्तर अनुसरण किया जाये तो, यही आदत सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में अनेक त्रुटियाँ उत्पन्न कर दे। किसी व्यक्तिगत उत्पादन का मूल्य स्वयं की माँग व पूर्ति से ही निर्धारित नहीं होता बल्कि अन्य उत्पादों की माँग व पूर्ति का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

प्रो. बोल्डिंग का मत है कि व्यक्ति व समाज की प्रकृति में महान अन्तर पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ जिस प्रकार एक जंगल में अनेक वृक्ष होते हैं, उसी प्रकार समाज में अनेक व्यक्ति होते हैं। एक पेड़ व जंगल में जो अन्तर है वही अन्तर एक व्यक्ति व समाज में पाया जाता है। अत: जो तथ्य एक व्यक्ति के लिए सही हो, वह सम्पूर्ण समाज के लिए ठीक हो, ऐसा आवश्यक नहीं होता।

(4) **समूह महत्वपूर्ण व रोचक हो** – **प्रो. बोल्डिंग** का मत है कि समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र में प्रयोग होने वाले समूह महत्वपूर्ण व रोचक होने चाहिए। पारस्परिक सम्बन्ध रखने वाले तत्वों से ही

समूह बनाया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ सामान्य मूल्य स्तर एक ऐसा समूह है, जिसका निर्माण विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों के आधार पर किया जाता है। समस्त वस्तुओं में से कुछ वस्तुओं के मूल्य तेजी से घटते एवं बढ़ते रहते हैं, परन्तु जब समस्त प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों के योग द्वारा सामान्य मूल्य-स्तर का अध्ययन किया जाता हो, तो परिणाम वास्तविकता से दूर ही रहते हैं। इसी दोष के कारण बोल्डिंग का मत है कि समूह को बनाने वाली मदें परस्पर सम्बन्धित रोचक एवं महत्वपूर्ण होनी चाहिए।

उदाहरणार्थ –

(a) 6 आम + 8 आम = 14 आम : यह समूह कुछ महत्व रखता है और रोचक है।

(b) 6 आम + 7 सन्तरे = 13 फल : यह समूह भी महत्व रखता है और रोचक भी है।

(c) 6 आम + 7 मकान = 0 : समूह निरर्थक व महत्वहीन है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र की कठिनाइयाँ या तो वैयक्तिक इकाइयों के योग के आधार पर निष्कर्ष निकालने के कारण हैं या सीधे ही योग के अध्ययन करने से है क्योंकि ऐसा करने में ही योग के विभिन्न अंगों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर ध्यान नहीं दिया जाता है।

व्यष्टिगत या विशिष्ट तथा समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र की पारस्परिक निर्भरता

(Mutual Dependence of Micro and Macro Economics)

व्यष्टिगत या विशिष्ट आर्थिक विश्लेषण एवं व्यापक आर्थिक विश्लेषण दोनों ही एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। यह दोनों विश्लेषण एक दूसरे के प्रतियोगी न होकर पूरक हैं। दोनों पद्धतियों की अपनी विशेषताएँ व सीमाएँ हैं, परन्तु एक प्रणाली की सीमाएँ दूसरी प्रणाली द्वारा स्वत: ही दूर हो जाती हैं। इस प्रकार दोनों ही रीतियाँ एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। विशिष्ट अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यापक अर्थशास्त्र पर निर्भर करता है। दोनों पद्धतियों की पारस्परिक निर्भरता को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है –

(I) व्यष्टिगत या विशिष्ट अर्थशास्त्र को समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र का सहारा आवश्यक है

(Micro Economic Analysis Needs the Support of Macro Economic Analysis)

अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में व्यष्टिगत या विशिष्ट अर्थशास्त्र को समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र की आवश्यकता रहती है। इसे निम्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

(1) एक फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य उसी फर्म के उत्पादित लागत व्यय से निर्धारित नहीं होता, वरन् इसके लिए दूसरी अन्य फर्मों के मूल्यों को भी ध्यान में रखा जाता है।

(2) प्रत्येक फर्म अपनी उत्पादन की मात्रा का निर्धारण आय, समाज की माँग, रोजगार आदि को देखकर करती है। प्रत्येक फर्म में मूल्य व मजदूरी आदि का निर्धारण स्वतन्त्र रूप से न होकर अन्य फर्मों द्वारा निर्धारित होता है। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक विश्लेषण में व्यापक आर्थिक विश्लेषण की आवश्यकता बनी रहती है :

(3) एक फर्म के श्रमिकों को कितनी मजदूरी प्राप्त होनी चाहिए, इसका निर्धारण विशिष्ट अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है। परन्तु इसका निर्धारण विशिष्ट आर्थिक विश्लेषण द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि एक फर्म में दी जाने वाली मजदूरी पर अन्य फर्मों में दी जाने वाली मजदूरी का ही प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त केवल स्थानीय मजदूरों की दरों का ही प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि देश के अन्य भागों में उसी उद्योग में संलग्न अन्य फर्मों में दी जाने वाली मजदूरी तथा देश में प्रचलित मजदूरी की दरों का भी इस फर्म की मजदूरी पर प्रभाव पड़ता है।

(4) कोई फर्म कितना माल बेचेगी, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि समाज में कुल क्रय-शक्ति कितनी है तथा उस फर्म की उत्पादन लागत का प्रभाव नहीं पड़ेगा।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि विशिष्ट अर्थशास्त्र की विभिन्न व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान व्यापक अर्थशास्त्र पर ही निर्भर करता है।

(II) समष्टिगत अर्थशास्त्र को व्यष्टिगत या विशिष्ट अर्थशास्त्र का सहारा आवश्यक है

(Macro Economic Analysis Needs the Support of Micro Economic Analysis)

व्यापक अर्थशास्त्र के अध्ययन में विशिष्ट अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता रहती है, इस बात की निम्न उदाहरणों द्वारा पुष्टि की जा सकती है–

(1) समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थशास्त्र का अध्ययन किया जाता है। व्यक्तियों से मिलकर समाज बनता है और फर्मों से मिलकर उद्योग बनता है और अनेक उद्योगों से मिलकर अर्थव्यवस्था का निर्माण किया जाता है। अत: सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को समझने हेतु फर्मों, व्यक्तियों, परिवारों एवं उद्योगों का ज्ञान प्राप्त होना आवश्यक होता है। यदि देश की राष्ट्रीय आय को ज्ञात करना हो तो उसके लिए देश के सभी व्यक्तियों की आयों की गणना करनी होगी, जिसके योग से राष्ट्रीय आय का निर्माण होगा।

(2) अर्थव्यवस्था की सामान्य प्रवृत्ति को समझने हेतु उसके सिद्धांतों का अध्ययन करना होगा, जो कि व्यक्तियों, परिवारों एवं फर्मों के व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं। अत: व्यापक अर्थशास्त्र के अध्ययन करने हेतु विशिष्ट अर्थशास्त्र का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

(3) यदि लोगों की आय बढ़ जाए और बढ़ी आय को लकड़ी फर्नीचर की अपेक्षा स्टील फर्नीचर पर व्यय किया जाए तो इससे स्टील फर्नीचर उद्योग का अधिक विकास होगा।

(4) यदि वस्तुओं की माँग बढ़ती हो, परन्तु जिन फर्मों का उत्पादन लागत वृद्धि नियम में हो रहा हो, उनके लिए यह सम्भव नहीं होगा कि मूल्य बढ़ने पर वे उत्पादन को बढ़ा सकें।

अत: स्पष्ट है कि व्यापक आर्थिक विश्लेषण का कार्य विशिष्ट आर्थिक विश्लेषण के आभाव में अपूर्ण ही रहता है। व्यक्तिगत अध्ययन से ही पूर्ण अध्ययन किया जा सकता है। **सेम्यूलसन** का मत है कि यह कहना कठिन है कि विशिष्ट अर्थशास्त्र महत्वहीन है। बड़ा चित्र स्वयं छोटे-छोटे भागों से मिलकर ही बनता है।

निष्कर्ष (Conclusion) : व्यष्टिगत या विशिष्ट एवं समष्टिगत या व्यापक अर्थशास्त्र एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं और एक दूसरे के बिना इनका अध्ययन करना सम्भव नहीं है। विशिष्ट तथा व्यापक अर्थशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष के रूप में निम्न तथ्य रखे जा सकते हैं–

(1) 'विशिष्ट अर्थशास्त्र' तथा 'व्यापक अर्थशास्त्र' आर्थिक विश्लेषण की दो पृथक-पृथक विधियाँ हैं। परन्तु यह दोनों ही विधियाँ स्वतन्त्र न होकर एक दूसरे पर पारस्परिक रूप से निर्भर हैं।

राष्ट्रीय आय (व्यापक आर्थिक विश्लेषण) में परिवर्तन एक वस्तु के बाजार को प्रभावित कर सकता है, परन्तु एक उद्योग (जो विशिष्ट आर्थिक विश्लेषण है) में विकास या संकुचन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को शिथिल या विस्तृत कर सकती है।

(2) दोनों ही रीतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। देश की अर्थव्यवस्था के कार्यकरण को सही ढंग से समझने हेतु दोनों पद्धतियों के अध्ययन की आवश्यकता रहती है।

प्रो. सेम्युलसन का मत है कि "वास्तव में विशिष्ट तथा व्यापक अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों ही अति-आवश्यक हैं। आप अर्द्ध-शिक्षित रहते हैं, यदि आप एक को समझते हैं तथा दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं।"

NOTES

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. विशिष्ट अर्थशास्त्र से क्या अभिप्राय है ? इसकी आवश्यकता एवं हानियाँ दीजिए।
   What is meant by micro economics? Mention its uses and demerits.
2. व्यापक अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए। व्यापक अर्थशास्त्र के प्रयोग एवं हानियाँ दीजिए।
   Define Macro economics. Give the uses and demerits of Macro Economics.
3. 'अर्थशास्त्री को आर्थिक विशिष्ट विश्लेषण तथा आर्थिक समष्टिभाव दोनों प्रकार की समस्याओं का अध्ययन करना होता है। आर्थिक व्यष्टिभाव एवं आर्थिक समष्टिभाव रीतियाँ दोनों एक दूसरे की विकल्प न होकर पूरक हैं।' इस कथन की विवेचना कीजिए।
   "The economist has to study micro as well as macro economic problems. The two studies are complementary to each other rather than being the alternate methods of study." Discuss the above statement.
4. 'वास्तव में विशिष्ट एवं व्यापक अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप एक को समझते हैं और दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं, तो केवल अर्द्ध-शिक्षित हैं।'- सेम्युलसन। इस कथन की विवेचना कीजिए।
   "There is really no opposition between micro and macro economics. Both are absolutely vital. And you are only half educated, if you understand the one while being ignorant of the other."- Samuelson. Discuss the above statement.
5. विशिष्ट अर्थशास्त्र एवं व्यापक अर्थशास्त्र में अन्तर बताइये। विशिष्ट अर्थशास्त्र के सिद्धान्त व्यापक अर्थशास्त्र पर कहाँ तक लागू होते हैं।
   Differentiate between micro and macro economics. How far the principles of micro economics apply to macro economics.
6. व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र के भेद को स्पष्ट कीजिये तथा इनकी महत्ता समझाइये।
   Differentiate between Micro and Macro economics and explain its importance.
7. व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र के अर्थ एवं उपयोगों में क्या अन्तर है ? समझाइये।
   What is the difference of meaning and uses of Micro and Macro Economics? Explain.
8. व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर स्पष्ट कीजिये। इन दोनों में क्या सम्बन्ध है ?
   Differentiate between Micro and Macro Economics. What is the relation between the two?

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. समष्टिगत अर्थशास्त्र से आप क्या समझते हैं ?
   What do you understand by Macro Economics?
2. समष्टिगत अर्थशास्त्र का महत्व समझाइये।
   Explain the Importance of Macro Economics.
3. व्यापक अर्थशास्त्र का क्षेत्र क्या है ?
   What is the scope of Macro Economics.
4. व्यापक अर्थशास्त्र की विशेषतायें बतलाइये।
   Describe the characteristics of Macro Economics.

5. समष्टि अर्थशास्त्र की विषय सामग्री क्या है ?
What is subject matter of Macro Economics.

6. व्यष्टि एवं समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर समझाइये ।
Explain the difference between Macro and Micro Economics.

7. समष्टि अर्थशास्त्र की प्रकृति क्या है ?
What is the nature of Macro economics.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. समष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र है-
(अ) रोजगार का सिद्धान्त (ब) कीमतों का सिद्धान्त
(स) विकास का सिद्धान्त (द) उपरोक्त सभी ।
Scope of Macro Economics is:
(a) Theory of employment (b) Theory of prices
(c) Theory of growth (d) All of above

2. समष्टि अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है-
(अ) वैयक्तिक इकाइयों का (ब) विशाल समूहों का
(स) दोनों का (द) इनमें से कोई नहीं
Macro Economics involves study of:
(a) Individual units (b) Large groups
(c) Both (d) None of these

3. इच्छाओं के लोप सम्बन्धी परिभाषा के प्रतिपादक थे-
(अ) मार्शल (ब) मेहता (स) पीगू (द) रॉबिन्स
Wantlessness related definition was given by:
(a) Marshall (b) Mehta (c) Pigue (d) Robins

उत्तर- 1. (द), 2. (ब), 3. (ब)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

2

राष्ट्रीय आय
(NATIONAL INCOME)

राष्ट्रीय आय का अर्थ
(Meaning of National Income)

राष्ट्रीय आय किसी भी देश की आर्थिक स्थिति का सबसे महत्वपूर्ण सूचक है। अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तन इसी के द्वारा मापे जाते हैं। राष्ट्र के आर्थिक कल्याण, विकास का स्तर तथा विकास की संभावनाएँ का अनुमान राष्ट्रीय आय से ही लगाया जा सकता है। अर्थशास्त्र की अधिकांश समस्याओं के अध्ययन के लिए राष्ट्रीय आय के विचार को समझना तथा उसे प्रभावित करने वाले तत्वों की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

राष्ट्रीय आय के आधुनिक दृष्टिकोण में दो विचारों को सम्मिलित किया जाता है –

(1) **सकल राष्ट्रीय उत्पाद** (Gross National Product) – किसी अर्थव्यवस्था में एक वर्ष में उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं के कुल द्राव्यिक के मूल्य को कुल राष्ट्रीय उत्पाद कहा जाता है।

(2) **विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद** (Net National Product) – कुल राष्ट्रीय उत्पाद में से ह्रास को घटा देने पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद प्राप्त हो जाता है। संक्षेप में NNP = GNP – Depreciation इसे राष्ट्रीय आय भी कहा जा सकता है। इसमें से अप्रत्यक्ष करों को भी घटा दिया जाता है। अर्थात् राष्ट्रीय आय = सकल राष्ट्रीय उत्पाद – ह्रास – अप्रत्यक्ष कर।

राष्ट्रीय आय की परिभाषाएँ
(Definition of National Income)

राष्ट्रीय आय से आशय प्राय: किसी देश में एक वर्ष में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं व सेवाओं की विशुद्ध मात्रा से है। इसमें केवल अन्तिम वस्तुओं का मूल्य ही आँका जाता है। विदेशों से प्राप्त होने वाली विशुद्ध आय इसी में जोड़ी जाती है।

राष्ट्रीय आय की विचारधारा के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। इसमें से तीन प्रमुख हैं जो निम्न हैं :–

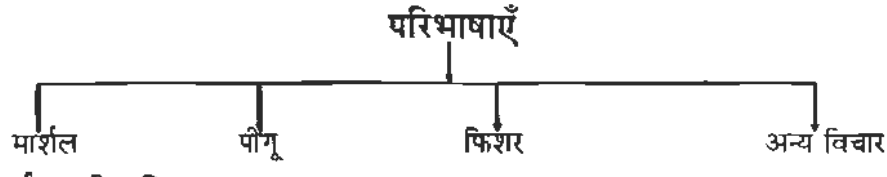

(1) **मार्शल की परिभाषा** –

"किसी देश का श्रम व पूँजी उनके प्राकृतिक साधनों पर क्रियाशील होकर प्रतिवर्ष भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं तथा समस्त प्रकार की सेवाओं का एक निश्चित विशुद्ध योग उत्पन्न करते हैं, जो कि देश की वास्तविक विशुद्ध राष्ट्रीय लाभांश या आय है।"

मार्शल के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना में निम्न बातों को ध्यान में रखा जाता है:–

(i) राष्ट्रीय आय की गणना वार्षिक आधार पर की जाती है,

(ii) सकल कुल उत्पाद में से मशीनों की टूट-फूट व ह्रास को घटा देते हैं,

(iii) विदेशी विनियोगों से प्राप्त विशुद्ध आय भी इसमें जोड़ देते हैं,

(iv) व्यक्तियों की निजी सेवाओं को इसमें नहीं जोड़ते हैं, जो कि परिवार के सदस्यों व मित्रों को बिना मूल्य प्रदान की जाती है,

(v) एक वर्ष में उत्पादित समस्त नवीन वस्तुओं व सेवाओं को राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित करते हैं।

आलोचनाएँ (Criticism) – मार्शल की परिभाषा सैद्धान्तिक रूप से सन्तोषजनक है। यह सरल व स्पष्ट है और सहज इसका खण्डन करना आसान नहीं है, परन्तु व्यावहारिक रूप से इसका मूल्यांकन करने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं, जिससे इस परिभाषा की आलोचना की जाती है। मार्शल की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं:–

(i) **सही गणना में कठिनाई** – किसी भी देश में एक वर्ष में विभिन्न प्रकार की अनगिनत वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन होता है जिनकी अनेक प्रकार की किस्में होती हैं। अत: व्यावहारिक रूप में सम्पूर्ण उत्पादन की गणना करना सरल कार्य नहीं है। एक नियंत्रित अर्थव्यवस्था की अपेक्षा एक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था में गणना करने की यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है जहाँ छोटे-बड़े साहसी पृथक-पृथक रूप से उत्पादन कार्य करते हैं।

(ii) **दोहरी गणना की समस्या** – राष्ट्रीय आय के लिए उत्पादन के शुद्ध योग को ध्यान में लेने पर भी गणना करने में दोहरे योग की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। कच्चे माल एवं अर्द्धनिर्मित माल के सम्बन्ध में दोहरी गणना की संभावना और अधिक बढ़ जाती है। जैसे कृषि उत्पादन का अनुमान लगाते समय गन्ने व कपास की मात्रा को सम्मिलित कर लेते हैं फिर औद्योगिक उत्पादन की गणना करने में बनायी गयी चीनी एवं कपड़े को भी सम्मिलित करते हैं। इससे एक ही वस्तु को दो बार ले लिया जाता है जिससे सही जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती है। यही समस्या अर्धनिर्मित वस्तुओं के सम्बन्ध में उत्पन्न हो जाती है।

(iii) **सीधे उपभोग की वस्तुएँ** – जो वस्तुएँ विनियोग के लिए बाजार में न आकर सीधे उपभोग कर दी जाएँ, उनका मूल्यांकन करना एक कठिन समस्या हो जाती है। इन वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा अल्पविकसित देश में ज्यादा होती है। इसी प्रकार कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जो उपयोगी व दुर्लभ होते हुए भी मुद्रा के सम्पर्क में नहीं आती हैं और उनका मूल्य निर्धारण नहीं हो पाता है। ऐसी वस्तुओं को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करना कठिन हो जाता है।

(2) **प्रो. पीगू की परिभाषा** –

"राष्ट्रीय लाभांश समाज की वस्तुगत या भौतिक आय का, जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित है, वह अंश है, जिसकी माप मुद्रा में हो सकती है।"

इस परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं व सेवाओं को लिया जाता है जिन्हें मुद्रा में मापा जा सकता है। इसमें विदेशों से प्राप्त आय एवं मुद्रा में मापी जाने वाली आय भी सम्मिलित की जाती है। इनमें उन वस्तुओं व सेवाओं को सम्मिलित नहीं किया जाता जिनका मूल्य मुद्रा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। जैसे एक नर्स को अपनी सेवा के बदले में प्राप्त होने वाला वेतन राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होता है, परन्तु यदि वह शादी करके अपने बच्चों की देखभाल करे तो उसकी सेवा राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करेंगे, क्योंकि अब उसे वेतन प्राप्त नहीं होता।

आलोचना – प्रो. पीगू की विचारधारा की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :–

(i) **राष्ट्रीय आय में अनिश्चितता** – **प्रो. पीगू** की राष्ट्रीय आय गणना की विचारधारा अनेक असंगतियों को जन्म देती है और राष्ट्रीय आय के क्षेत्र को अनिश्चित कर देती है। जैसे कृषि क्षेत्र की आय उत्पादन के स्थान पर न होकर बिक्री के आधार पर होगी। स्त्री मजदूरी का कार्य राष्ट्रीय आय में आएगा, परन्तु पत्नी या माँ के रूप में किए गए कार्यों की गणना नहीं होगी। अवैतनिक कार्यों को भी राष्ट्रीय आय में नहीं लेंगे। जिस सेवा का मूल्यांकन मुद्रा में नहीं होगा उसे राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है।

(ii) **संकुचित क्षेत्र** – इस विचारधारा में न केवल अनेक प्रकार की वस्तुएँ व सेवाएँ ही राष्ट्रीय आय की गणना में सम्मिलित नहीं हो पाती हैं, बल्कि मुद्रारहित अर्थव्यवस्था में इस विचारधारा का कोई महत्व नहीं है। अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था में जहाँ भुगतानों में मुद्रा का उपयोग नहीं हो पाता वहाँ पर राष्ट्रीय आय की गणना करना कठिन हो जाता है। अत: मुद्रा के मापदण्ड का सहारा लेकर प्रो. पीगू ने अपनी परिभाषा के क्षेत्र को काफी संकुचित कर दिया है।

(iii) **वस्तुओं व सेवाओं में एक कृत्रिम भेद** – पीगू ने मुद्रा में मापी जाने वाली और न मापी जाने वाली वस्तुओं व सेवाओं में वास्तविक अन्तर न करके कृत्रिम भेद किया है। पीगू के अनुसार, "क्रय की जाने वाली और क्रय न की जाने वाली वस्तुओं में परस्पर कोई आधारभूत अन्तर नहीं है और प्राय: क्रय न की जाने वाली सेवा क्रियाशील सेवा से परिवर्तित हो सकती है, यही बात विपरीत दशा में भी संभव है।" वास्तव में वस्तुओं व सेवाओं का महत्व उनके द्वारा आर्थिक कल्याण की मात्रा को प्रभावित करने में है, न कि मुद्रा द्वारा उनके मापे जाने में।

अत: पीगू द्वारा प्रतिपादित परिभाषा सैद्धान्तिक रूप से त्रुटिपूर्ण है और इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

(3) फिशर की परिभाषा –

फिशर ने मार्शल तथा पीगू की तुलना में बिल्कुल भिन्न आधार पर राष्ट्रीय आय की परिभाषा दी है। मार्शल व पीगू ने वार्षिक उत्पत्ति के आधार पर परिभाषा दी है, जबकि फिशर ने उपयोग की मात्रा को आधार माना है। **फिशर** के शब्दों में "राष्ट्रीय लाभांश या राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत केवल उन सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जो अन्तिम उपभोक्ताओं को अपने भौतिक एवं मानवीय वातावरण से प्राप्त होती है। अत: एक पियानो या एक लबादा जो इस वर्ष बनाया या लिया गया है इस वर्ष की आय का भाग नहीं है, बल्कि पूँजी में एक वृद्धि है। केवल उतनी ही सेवा जो इन वस्तुओं से इस वर्ष प्राप्त होती है, वही इस वर्ष की आय मानी जाएगी।"

आलोचना – प्रो. फिशर की परिभाषा की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :–

(i) **असुविधाजनक** – उत्पादकों की अपेक्षा उपभोक्ताओं की संख्या काफी अधिक होने के कारण व उनके दूर-दूर तक फैले रहने के कारण उनके द्वारा किए गए उपयोग की माप करना एक कठिन कार्य है। पूरे वर्ष जनता द्वारा वस्तुओं व सेवाओं के उपभोग की सूची बनाना तथा कुल उपभोग के आँकड़े एकत्रित करना एक अत्यन्त कठिन कार्य रहता है।

(ii) **दोहरी गणना** – इस परिभाषा में दोहरी गणना होने की संभावनाएँ बनी रहती हैं। यदि उपभोग के अनुमान लगा लिए जाते हैं, तो भी उनका सही होना सन्देहात्मक रहता है।

(iii) **अव्यावहारिक** – टिकाऊ वस्तुओं का जीवन काल का अनुमान लगाना एक कठिन समस्या बनी रहती है। वस्तु का जीवनकाल उसके उपभोग करने के ढंग एवं सावधानी पर निर्भर करता है। वस्तुओं के स्वामित्व में परिवर्तन होने के कारण उनके निर्माण की तिथि को ज्ञात करना भी कठिन हो जाता है। व्यवहार में यह ज्ञात करना भी कठिन रहता है कि किसी वर्ष में उपभोक्ताओं को किसी वस्तु से कितनी सेवा प्राप्त होती है। अत: यह परिभाषा भी अव्यावहारिक है।

तीनों परिभाषाओं की तुलनात्मक श्रेष्ठता (Comparision between three Definitions)

मार्शल व पीगू की राष्ट्रीय आय की परिभाषाएँ उत्पादन पर आधारित हैं। राष्ट्रीय आय में प्रो. पीगू केवल उन्हीं वस्तुओं व सेवाओं को सम्मिलित करना चाहते हैं, जिन्हें मुद्रा में मापा जा सके। मार्शल की परिभाषा को अधिक विस्तृत तथा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अधिक उचित माना गया है। पीगू की परिभाषा में त्रुटि होने पर भी उसे अधिक व्यावहारिक कहा जा सकता है, क्योंकि इसके द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना अधिक सरलता से संभव हो जाती है। पीगू की परिभाषा अपूर्ण होते हुए भी अधिक व्यावहारिक है और इसे अपेक्षाकृत अधिक अच्छा कहा जा सकता है। प्रो. फिशर की परिभाषा उपभोग पर आधारित है। तीनों में से किस परिभाषा को सर्वश्रेष्ठ माना जाए। वास्तव में तीनों की परिभाषाओं

में अपने-अपने गुण-दोष हैं। परिभाषा का सर्वश्रेष्ठ होना इस बात पर निर्भर करता है कि राष्ट्रीय आय की गणना का उद्देश्य क्या है?

यदि हमारा उद्देश्य देश में आर्थिक कल्याण की मात्रा को मापना हो, तो फिशर की परिभाषा उत्तम रहेगी। यदि हमारा उद्देश्य आर्थिक कल्याण को प्रभावित करने वाले कारणों तथा विभिन्न घटकों पर विचार करना हो तो मार्शल व पीगू की परिभाषाएँ श्रेष्ठ रहेंगी। यह परिभाषाएँ उत्पादन की मात्रा पर आधारित हैं और भविष्य में उपभोग की मात्रा द्वारा ही निश्चित होती हैं। आर्थिक कल्याण एवं आर्थिक कारण एक दूसरे से कुल उपभोग से सम्बन्धित हैं, न कि तत्कालीन उपभोग द्वारा।

(4) **अन्य विचार** –

इसमें (i) कोलिन क्लार्क, (ii) साइमन कुजनेट्स एवं (iii) राष्ट्रीय आय समिति 1951 के विचार सम्मिलित हैं।

(i) **कोलिन क्लार्क** :– "किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आय उन वस्तुओं व सेवाओं के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित की जाती है जो उस समय विशेष में उपभोग हेतु उपलब्ध रहती है।"

(ii) **साइमन कुजनेट्स** :– "राष्ट्रीय आय वस्तुओं व सेवाओं की वह विशुद्ध उत्पत्ति है जो एक वर्ष की अवधि में देश की उत्पादन प्रणाली में अन्तिम उपभोक्ताओं के हाथों में आती है।"

(iii) **राष्ट्रीय आय समिति 1951** :– "राष्ट्रीय आय के अनुमान से बिना दोहरी गणना के, दी हुई अवधि में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं व सेवाओं की माप की जाती है।"

अत: स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय में देश में उत्पन्न सभी वस्तुओं व सेवाओं के शुद्ध मूल्य को सम्मिलित किया जाता है। शुद्ध मूल्य हेतु कुल मूल्य में से ह्रास घटा दिया जाता है।

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी मुख्य धारणाएँ
(Main Concepts of National Income)

(I) **कुल राष्ट्रीय उत्पादन** (Gross National Product or GNP) –

किसी देश में एक वर्ष में उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के बाजार मूल्य के योग को कुल राष्ट्रीय उत्पादन कहा जाता है। चूँकि उत्पादन प्रवाह आय प्रवाह उत्पन्न करता है, अत: कुल राष्ट्रीय उत्पादन में मजदूरी, लगान, ब्याज व लाभ आदि के रूप में प्राप्त आय का योग लिया जाता है।

विशेषताएँ –

(i) **मूल्य ह्रास नहीं घटाया जाना** – वस्तुओं के उत्पादन करने में मशीनों व यंत्रों का ह्रास होता है। यदि राष्ट्रीय उत्पादन में से मूल्य ह्रास घटा दिया जाए तो विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन प्राप्त हो जाता है, परन्तु कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लेखांकन करते समय उसमें से मूल्य ह्रास को नहीं घटाया जाता है।

(ii) **मूल्य मुद्रा में व्यक्त** – कुल राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य मुद्रा में व्यक्त किया जाता है। देश में उत्पन्न सभी वस्तुओं व सेवाओं का बाजार मूल्य ज्ञात करके उसे वस्तु की उत्पादित मात्रा से गुणा करके वस्तु तथा सेवा का मूल्य ज्ञात हो जाता है। अर्थात मात्रा X कीमत। इनका योग ही GNP होती है।

(iii) **अन्तिम वस्तुएँ व सेवाएँ** – कुल राष्ट्रीय उत्पादन में केवल अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं के जोड़ को सम्मिलित किया जाता है, मध्यवर्ती वस्तुओं के क्रय-विक्रय को इसमें सम्मिलित नहीं करते हैं। अन्तिम वस्तुओं के मूल्य में मध्यवर्ती वस्तुओं का मूल्य सम्मिलित हो जाता है।

(iv) **GNP एक प्रवाह है** :– इसमें केवल चालू वर्ष के उत्पादन को सम्मिलित किया जाता है। यदि वर्तमान वर्ष में उत्पादन का कुछ भाग बिना बिके रह जाए, तो उसे चालू वर्ष में स्टाक मानकर GNP में ले लेते हैं। अगले वर्ष इसकी बिक्री होने पर उसे इस वर्ष की GNP में शामिल नहीं करते हैं। GNP का सम्बन्ध अन्तिम पदार्थों के नवीन उत्पादन से है न कि बिक्री से।

(v) **सम्पूर्ण राष्ट्र के निवासियों से सम्बन्ध** – कुल राष्ट्रीय उत्पादन का सम्बन्ध सम्पूर्ण राष्ट्र के निवासियों की उत्पादन क्रियाओं से रहता है। इसमें निवासियों के स्वामित्व में सम्पत्ति स्रोतों के उत्पादन को भी सम्मिलित कर लिया जाता है।

(vi) **समायोजन व्यवस्था** – वस्तुओं व सेवाओं की कीमतें स्थिर नहीं होती हैं। उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन न होने पर भी मूल्यों में परिवर्तन के कारण GNP के आकार में परिवर्तन हो जाता है। अत: इसे समायोजन करना पड़ता है और ऊँची कीमतों पर GNP को नीचा तथा नीची कीमतों पर ऊँचा रखना पड़ता है। अत: समायोजन के द्वारा मुद्रा की क्रय शक्ति को स्थिर मानकर GNP का अनुमान लगाया जाता है और विभिन्न वर्षों में GNP के परिवर्तनों की तुलना की जाती है।

(vii) **अनुत्पादक सौदों को छोड़ना** – GNP में अनुत्पादक सौदों को छोड़ दिया जाता है। अनुत्पादक सौदे दो प्रकार के होते हैं – वित्तीय सौदे एवं पुरानी वस्तुओं की बिक्री। इसी प्रकार हस्तांतरण भुगतान जैसे दुर्बल वर्गों को दिए जाने वाले भत्ते, अनुदान व उपहार आदि को GNP में नहीं लेते हैं।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन को मापने की रीतियाँ –

GNP की माप करने की दो रीतियाँ हैं जो कि निम्न हैं :–

(1) **व्यय/उत्पादन दृष्टिकोण** (Expenditure or Output Approach) –

कुल राष्ट्रीय उत्पादन में अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं के बाजार मूल्य का अनुमान अर्थव्यवस्था में किए गए कुल व्यय की राशियों के योग से लगाया जा सकता है। यह निम्न चार प्रकार के व्ययों का योग है :–

(a) **व्यक्तिगत उपभोग व्यय** (Personal Consumption Expenditure) – इसमें वे सभी व्यय आते हैं जो एक व्यक्ति अपने व अपने परिवार पर उपभोग पर करता है। इसमें तीन प्रकार के व्यय आते हैं – (i) टिकाऊ वस्तुओं पर व्यय, (ii) अटिकाऊ वस्तुओं पर व्यय एवं (iii) सेवाओं पर व्यय।

(b) **सरकारी खरीद** (Government Purchases) – देश में सरकार द्वारा किए गए वस्तुओं व सेवाओं पर व्यय भी GNP की गणना में सम्मिलित किए जाते हैं। सरकार अपने विभागों को चलाने हेतु अनेक प्रकार की वस्तुओं को क्रय करती है और अनेक प्रकार की सेवाओं पर भी सरकार व्यय करती है।

(c) **शुद्ध विदेशी विनियोग** (Net Foreign Investment) – देश में आयात व निर्यात का आधिक्य एवं विदेशों से प्राप्त आय तथा विदेशियों द्वारा इस देश से प्राप्त की गयी आय की राशि को GNP में जोड़ा जाता है।

(d) **सकल घरेलू निजी विनियोग** (Gross Domestic Private Investment) – इसमें सभी गैर-सरकारी व्यापारिक फर्मों तथा उत्पादन इकाइयों द्वारा कुल विनियोग व्यय सम्मिलित किए जाते हैं। इसमें तीन मदें आती हैं :– (i) स्थायी विनियोग जैसे कि मशीनों व कारखानों की खरीद पर व्यय, (ii) सभी निवासी निर्माण कार्य पर व्यय तथा, (iii) इनवेन्टरी विनियोग।

(2) **आय दृष्टिकोण** (Income Approach) –

कुल व्यय पर जो धन व्यय किया जाता है वह उत्पत्ति के साधनों की आय माना जाता है। इस आय में सरकार द्वारा लगाए गए अप्रत्यक्ष कर एवं मशीनों पर ह्रास को सम्मिलित नहीं किया जाता है।

आय रीति के द्वारा GNP का अनुमान लगाने में निम्न मदों को सम्मिलित किया जाता है:–

(i) **लगान** – यह धन सम्पत्ति साधनों की पूर्ति करने वालों की आय के रूप में प्राप्त होता है।

(ii) **लाभ** – यह लाभ एकाकी व्यापारी, साझेदारी संस्थाओं एवं कम्पनियों व निगमों को प्राप्त होते हैं। निगमों को प्राप्त होने वाला लाभ तीन भागों में बाँटा जा सकता है:–

(अ) निगम आयकर, (ब) अंशधारियों को लाभांश, (स) अवितरित लाभ।

(iii) **मूल्य ह्रास** – मूल्य ह्रास की गणना मशीनों की सम्पूर्ण जीवन अवधि को ध्यान में रखकर लगाया जाता है।

(iv) **मजदूरी व वेतन** – मजदूरी, वेतन, बोनस, कमीशन व सामाजिक सुरक्षा पर किए गए व्यय आदि को इसमें सम्मिलित किया जाता है।

(v) **ब्याज** – ब्याज की राशि पूँजी की पूर्ति करने वाले व्यक्तियों को प्राप्त होती है।

(vi) **अप्रत्यक्ष कर** – यह सरकार द्वारा उत्पादन कर तथा बिक्रीकर आदि के रूप में लगाए जाते हैं। इसे लागत का एक अंग मानकर वस्तु के मूल्य में सम्मिलित कर लेते हैं।

GNP के लिए व्यय-रीति एवं आय-रीति के तत्वों को निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है :-

GNP के व्यय-रीति व आय-रीति दृष्टिकोण

	व्यय-रीति		आय-रीति
1.	व्यक्तिगत उपभोग व्यय तथा	(i)	लगान +
2.	सरकारी खरीद, तथा	(ii)	लाभ +
3.	शुद्ध विदेशी विनियोग, तथा	(iii)	मूल्य ह्रास +
4.	सकल घरेलू निजी विनियोग	(iv)	मजदूरी व वेतन +
		(v)	ब्याज +
		(vi)	अप्रत्यक्ष कर

(II) **राष्ट्रीय आय या साधन-लागत पर राष्ट्रीय आय** (National Income or National Income at Factor Cost) –

देश में वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन उत्पत्ति के साधनों द्वारा किया जाता है और उससे आय उपार्जित होती है। जब बाजार मूल्य पर विशुद्ध उत्पादन का अनुमान लगाते हों, तो उनमें अप्रत्यक्ष करों को भी सम्मिलित करते हैं, परन्तु जो आय उत्पत्ति के साधनों को प्राप्त हो, उसमें सरकार द्वारा लगाए गए अप्रत्यक्ष कर सम्मिलित नहीं होते हैं। अत: उत्पादन-साधनों पर विशुद्ध राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने हेतु बाजार मूल्य पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में से अप्रत्यक्ष करों को घटा दिया जाता है।

कभी-कभी सरकार कुछ वस्तुओं पर अनुदान देती है और उसके कारण वस्तु को कम कीमत पर बाजार में बेचा जा सकता है। परन्तु साधनों को प्राप्त होने वाली आय में कोई कमी नहीं आती है। अनुदान कीमत का एक अंग न होने के कारण इसे विशुद्ध राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है। परन्तु अनुदान राष्ट्रीय आय का एक अंग है, अत: इसे विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में जोड़ा जाना चाहिए। संक्षेप में,

साधन लागत पर राष्ट्रीय आय = विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन – अप्रत्यक्ष कर + अनुदान

(III) **व्यय योग्य आय** (Disposable Income or DI) –

व्यक्ति व परिवार को प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण आय-व्यय योग्य आय नहीं होती है। वैयक्तिक आय का एक भाग, जो करों के रूप में सरकार को चुकाना पड़ता हो उसे आय में से घटा दिया जाता है। अत:

व्यय योग्य आय = वैयक्तिक आय–वैयक्तिक प्रत्यक्ष कर

व्यक्तियों को प्राप्त व्यय योग्य आय का एक भाग उपभोग पर व्यय किया जाता है तथा शेष राशि को बचत के रूप में रख लिया जाता है। अत:

व्यय योग्य आय = उपभोग + बचत

NOTES

(IV) **विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन** (Net National Product or NNP) –

कुल राष्ट्रीय उत्पादन में से मूल्य ह्रास की राशि को घटाने के बाद विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन प्राप्त हो जाता है। अत: किसी देश में एक वर्ष में उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं के बाजार-मूल्यों के योग में से वार्षिक मूल्य ह्रास घटा देने पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद ज्ञात किया जा सकता है। चूँकि विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्यांकन बाजार-कीमतों पर किया जाता है, अत: इसे बाजार कीमतों पर राष्ट्रीय आय भी कहा जाता है। सूत्र के रूप में

NNP = GNP – Depreciation.

यहाँ पर, NNP = विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन, GNP = सकल राष्ट्रीय उत्पादन Depreciation = मूल्य ह्रास।

वार्षिक मूल्य ह्रास की गणना करना कठिन रहता है क्योंकि मूल्य ह्रास ज्ञात करने के विभिन्न अंग होते हैं और इसी कारण से शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की माप ज्यादा सही नहीं होती है।

(V) **वैयक्तिक आय** (Personal Income or PI) –

व्यक्तियों व परिवारों को एक वर्ष की अवधि में वास्तव में प्राप्त होने वाली आय को वैयक्तिक आय माना जाता है। वर्ष भर में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों द्वारा प्राप्त आय का जोड़ ही राष्ट्रीय आय होती है, परन्तु वास्तव में अर्जित आय का कुछ भाग साधनों, व्यक्तियों व परिवारों की मौद्रिक आय के रूप में प्राप्त नहीं हो पाता है।

अत: वैयक्तिक आय में सम्मिलित न होने वाली प्रमुख मदें निम्नलिखित हैं :-

(i) सामाजिक सुरक्षा अनुदान की राशि, (ii) कम्पनियों का अविभाजित लाभ, (iii) कम्पनियों की आयकर की राशि।

कुछ व्यक्तियों व परिवारों को ऐसी आय प्राप्त हो जाती हैं जिनके लिए उन्होंने कोई उत्पादन कार्य नहीं किया हो। जैसे बेरोजगारी भत्ता, वृद्धों को पेंशन, सहायता अनुदान, हस्तांतरण भुगतान आदि। इन राशियों को वैयक्तिक आय में जोड़ दिया जाता है।

अत: वैयक्तिक आय के लिए राष्ट्रीय आय में से आय का वह भाग जो अर्जित तो हो गया है, परन्तु वास्तव में प्राप्त नहीं हुआ है, घटा दिया जाता है। इसके विपरीत वह आय जो वर्ष में अर्जित न की गयी हों, परन्तु वास्तव में प्राप्त हुई हों, राष्ट्रीय आय में जोड़ देनी चाहिए। पूँजी के रूप में,

$$PI = NI - SSC + CIT + UP + TP.$$

यहाँ पर :

PI = Personal Income (वैयक्तिक आय)

NI = National Income (राष्ट्रीय आय)

SSC = Social Security Contributions (सामाजिक सुरक्षा में अंशदान)

CIT = Corporate Income Tax (निगम पर आयकर)

UP = Undistributed Profit (अवितरित लाभ)

TP = Transfer Payments (हस्तांतरित भुगतान)

(VI) **मौद्रिक आय एवं वास्तविक आय** (Monetary Income & Actual Income) –

मौद्रिक आय मुद्रा का वह प्रवाह है जो उत्पत्ति के साधनों को उनके द्वारा एक अवधि में भुगतान किए गए योगदान के बदले में प्राप्त होता है। यह चालू कीमतों पर किए गए व्यय की राशि के बराबर होता है।

वास्तविक आय मुद्रा के रूप में प्राप्त की गयी आय की क्रय शक्ति को व्यक्त करती है। वास्तविक आय का अनुमान लगाने में 1 रुपए की क्रय शक्ति का अनुमान लगाकर चालू मौद्रिक आय को रुपए की क्रय शक्ति से गुणा करके किया जाता है। मुद्रा की क्रय शक्ति का मूल्य स्तर से विपरीत सम्बन्ध रहता है।

राष्ट्रीय आय के मापने की विधियाँ
(Methods of Measurement of National Income)

(1) **उत्पादन गणना विधि** (Census of Production Methods) – एक वर्ष में उत्पादित समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं का शुद्ध मूल्य ज्ञात किया जाता है। इसके लिए कुल उत्पादन में से पूँजी की घिसावट एवं मूल्य ह्रास तथा मध्यवर्ती वस्तुओं का मूल्य घटा देने से शुद्ध उत्पादन ज्ञात हो जाता है। इसमें विदेशों से प्राप्त आय को भी जोड़ा जाता है। इसमें समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं के शुद्ध मूल्य का योग लिया जाता है जिसके आधार पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जाता है।

इस विधि में यह ध्यान रखा जाता है कि (i) किसी वस्तु या सेवा के मूल्य की दोहरी गणना न हो, (ii) संपूर्ण उत्पादन में से पूँजी ह्रास घटा दिया जाता है, तथा (iii) विदेशी लेन-देन को भी इसमें सम्मिलित करते हैं।

(2) **व्यय गणना विधि** (Census of Expenditure Method) – राष्ट्रीय आय उपभोग व बचत के योग के बराबर होती है। व्यक्ति द्वारा उपभोग की गयी वस्तु का उपभोग मूल्य ज्ञात किया जाता है और फिर उसमें कुल बचत का मूल्य जोड़ दिया जाता है। परन्तु यह विधि व्यावहारिक नहीं है क्योंकि उपभोग का मूल्य व बचत का मूल्य ज्ञात करना कठिन रहता है। यह कठिनाई अर्द्धविकसित देशों में अधिक रहती है जहाँ पर बचत का उपयोग अनुत्पादक कार्यों में किया जाता है।

(3) **आय गणना विधि** (Census of Income Method) – इसमें देश में उत्पत्ति के समस्त साधनों की आय का योग लगाते हैं जिसमें लगान, मजदूरी, ब्याज व लाभ सभी आते हैं। इसमें ऐसे भुगतानों को सम्मिलित नहीं किया जाता जिनसे कोई उत्पादन कार्य सम्भव नहीं होता। इससे आय के वितरण की जानकारी प्राप्त करने में बड़ी सरलता हो जाती है, परन्तु व्यावहारिक रूप में यह विधि विकसित देशों के लिए ही अधिक उपयुक्त मानी जाती है।

(4) **सामाजिक लेखा विधि** (Social Accounting Method) – **प्रो. रिचार्ड स्टोन** के अनुसार देश की सम्पूर्ण जनसंख्या को आय के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक वर्ग में कुछ व्यक्तियों की आय ज्ञात करके एक औसत ज्ञात किया जाता है और उस वर्ग की जनसंख्या से इसका गुणा कर देने पर उस वर्ग की सम्पूर्ण आय ज्ञात हो जाती है। इसी प्रकार से विभिन्न वर्गों द्वारा प्राप्त कुल आय का योग ही राष्ट्रीय आय माना जाता है।

(5) **अन्य विधियाँ** (Other Methods) –

(a) **व्यावसायिक गणना के आधार** (Census of Occupation Method) – इसमें विभिन्न व्यवसायों के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना की जाती है।

(b) **प्रो. कुजनेट्स की रीति** (Prof. Kuznets Method) – प्रो. कुजनेट्स ने राष्ट्रीय आय की गणना हेतु तीन विधियों का प्रयोग किया है –

(i) वस्तु सेवा विधि, (ii) आय प्राप्त विधि, (iii) उपभोग बचत विधि।

भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने में डॉ. वी. के. आर. वी. राय ने उत्पादन विधि एवं आय विधि का मिश्रित प्रयोग किया था। वर्तमान समय में उत्पादन गणना विधि का अधिक प्रयोग किया जा रहा है क्योंकि यह विधि अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एवं श्रेष्ठ है। इस विधि के द्वारा दोहरी गणना का भी भय नहीं रहता है।

NOTES

राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का महत्व
(Importance of National Income Data)

राष्ट्रीय आय के महत्व को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है:-

(1) **अर्थव्यवस्था का सही एवं व्यापक चित्र** – राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से देश की अर्थव्यवस्था के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि देश के प्राकृतिक, भौतिक एवं मानवीय साधनों का किस प्रकार उपयोग हो रहा है। देश में राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार होता है। राष्ट्रीय आय के आधार पर ही प्रति व्यक्ति आय का औसत अनुमान लगाया जाता है तथा जनता के जीवन स्तर के बारे में व्यापक जानकारी प्राप्त हो जाती है।

(2) **आर्थिक नीति का निर्धारण** – देश में सन्तुलित आर्थिक विकास की योजनाओं का निर्माण राष्ट्रीय आय के आँकड़ों के आधार पर ही किया जाता है। इसी पर भविष्य के लिए अनुमान लगाए जाते हैं जो देश की विकास क्रियाओं को स्थायित्व प्रदान करते हैं। बजट बनाते समय करदान क्षमता निर्धारित करने में राष्ट्रीय आय का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि किन वर्गों एवं किन क्षेत्रों में आर्थिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाए।

(3) **तुलनात्मक समीक्षा** – राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सहायता से प्रत्येक क्षेत्र, वर्ष व राष्ट्र की आर्थिक स्थिति की तुलना अन्य वर्षों या राष्ट्रों से की जा सकती है। इसी प्रकार एक ही वर्ग, क्षेत्र तथा देश की विभिन्न समय में आर्थिक स्थिति की तुलना करने में इन आँकड़ों का प्रयोग किया जाता है।

(4) **आर्थिक प्रगति की माप** – देश में सन्तुलित आर्थिक विकास की योजनाओं का निर्माण किया जा सकता है तथा देश में व्यक्तियों, वर्गों व क्षेत्रों द्वारा की गयी आर्थिक प्रगति की सूचना राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से ही प्राप्त हो पाती है। इसके अभाव में विदेशी व्यापार की स्थिति तथा रोजगार की स्थिति, औद्योगिक व कृषि उत्पादन आदि को मापन के रूप में अपनाया जाता है। वर्तमान समय में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना आवश्यक हो गया है।

(5) **आर्थिक प्रवृत्तियों को दिशा-निर्देशन** – देश के आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय आय का एक भाग बचाकर उसे विनियोग में लगाना होता है। स्थायित्व विकास के लिए व्यक्ति कितना धन विनियोग करता होगा इसका अनुमान राष्ट्रीय आँकड़ों के आधार पर ही लगाया जाता है। इसी से आर्थिक प्रवृत्तियाँ प्रभावित होती हैं तथा मौद्रिक व मजदूरी व रोजगार सम्बन्धी नीतियों को अपनाया जाता है। इसी प्रकार से प्राकृतिक एवं अन्य साधनों के सही विदोहन एवं प्रयोग, नवीन साधनों की खोज, उत्पादन प्रणाली में सुधार आदि प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय आय से ही प्रभावित होती हैं।

(6) **आर्थिक कल्याण में वृद्धि** – अन्य बातें समान रहने पर राष्ट्रीय आय अधिक होने पर आर्थिक कल्याण भी अधिक होता है। आर्थिक कल्याण में वृद्धि कुल कल्याण को प्रभावित करती है। राष्ट्रीय आय में होने वाले परिवर्तनों का आर्थिक कल्याण पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। उत्पादन का स्वरूप, आय का वितरण, मौद्रिक प्रयोग की व्यापकता, जनता की प्रवृत्ति आदि आर्थिक कल्याण को प्रभावित करती है। मौद्रिक आय बढ़ने पर भी वास्तविक आय में वृद्धि न हो, तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं हो पाती है। इसी प्रकार यदि बढ़ी हुई आय का अधिकांश भाग थोड़े से ही व्यक्तियों में बँट जाए तो भी आर्थिक कल्याण में वृद्धि महत्वपूर्ण नहीं मानी जाती है।

(7) **राष्ट्रीय आय लेखांकन** – राष्ट्रीय आय के आँकड़े समाज के आर्थिक स्वास्थ्य पर नियंत्रण रखने में तथा स्वास्थ्य में सुधार करने में नीतियों के निर्माण करने में सहायता प्रदान करता है।

राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सीमाएँ
(Limitation of National Income Data)

(1) राष्ट्रीय आय की गणना करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिससे स्थिति का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इससे प्राप्त निष्कर्ष भी भ्रमात्मक हो सकते हैं।

(2) अल्पविकसित देशों में अर्थव्यवस्था का एक बड़ा भाग अमुद्रीकृत होने से राष्ट्रीय आय के अनुमान और भी अपूर्ण होते हैं।

(3) राष्ट्रीय आय की परिभाषाओं में विविधता तथा गणना की विविध पद्धतियों के कारण विभिन्न देशों के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों की तुलना करना सम्भव नहीं हो पाता है। इन देशों के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े समान आधार पर नहीं होते हैं। मुद्रा की क्रय शक्ति में भिन्नता होने एवं आय के वितरण व उपभोग में अन्तर होने के कारण राष्ट्रीय आय की सही माप सम्भव नहीं हो पाती है।

(4) समय-समय पर मूल्य स्तर में परिवर्तन होने से चालू कीमतों में व्यक्त की गयी राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की तुलना करना सम्भव नहीं हो पाता।

(5) उपभोग के ढाँचे में परिवर्तन आने से तुलना करने में कठिनाई आती है। राष्ट्रीय आय से केवल उत्पादन का मूल्य प्रकट होता है, न कि उपभोग की मात्रा, जिस पर जीवन स्तर निर्भर करता है।

(6) प्राकृतिक साधनों के लाभ, विभिन्न सामाजिक सुविधाओं, प्रयत्नों व अवकाशों से प्राप्त लाभों को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करने से अनेक कठिनाइयाँ सामने आ जाती हैं।

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना
(Estimate of National Income in India)

स्वतंत्रता के बाद 1949 में प्रो. पी. सी. महालनोबिस की अध्यक्षता में भारत सरकार द्वारा आय समिति की स्थापना की गयी जिसमें **प्रो. गाडगिल व डॉ. राव सदस्य** थे तथा **प्रो. साइमन कुजनेट्स व आर.एन. स्टोन व डॉ. डर्कसन**-विदेशी विशेषज्ञों की सलाह इस समिति को प्राप्त थी।

इस समिति के मुख्य कार्य थे –

(i) राष्ट्रीय आय व सम्बन्धित तथ्यों पर एक रिपोर्ट तैयार करना,

(ii) राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों में सुधार करना,

(iii) नवीन आँकड़ों के संग्रह सम्बन्धी सुझाव देना,

(iv) राष्ट्रीय आय सम्बन्धी शोध कार्य के लिए सुझाव देना।

समिति ने अपना प्रथम प्रतिविदेन 1951 में तथा अन्तिम प्रतिवेदन 1954 मे प्रस्तुत किया। रिपोर्ट में राष्ट्रीय आय की धाराओं, सांख्यिकीय स्रोतों, सामग्री व अनुमान पर विचार किया गया तथा राष्ट्रीय आय के आँकड़ों में प्रस्तुत आँकड़ों में सुधार के उपाय बताए गए। समिति ने वित्त मंत्रालय के राष्ट्रीय आय इकाई की सहायता ली थी। पशुधन, खनिज सम्पत्ति व उद्योगों से प्राप्त आय का अनुमान उत्पादन संगणना रीति के आधार पर किया गया। वाणिज्य, परिवहन, घरेलू सेवाओं से प्राप्त आय आदि के अनुमान आय संगणना रीति के आधार पर किए गए। अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित आँकड़े उपलब्ध न होने के कारण समिति को अनुमानों का सहारा लेना पड़ा। इस रिपोर्ट के प्रकाशन होने के बाद राष्ट्रीय आय के वार्षिक अनुमान लगाने का कार्य केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation) को सौंप दिया गया, जो प्रति वर्ष राष्ट्रीय आय पर एक परिपत्र प्रकाशित करता है।

परम्परागत एवं संशोधित श्रृंखलाएँ
(Conventional and Revised Series)

(i) **परम्परागत श्रृंखला** (Conventional Series) – केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने प्रारम्भ में परम्परागत श्रृंखला के अन्तर्गत 1948-49 से लेकर 1964-65 तक की अवधि के लिए राष्ट्रीय आय के आँकड़े चालू कीमतों एवं स्थिर कीमतों (1948-49) के आधार पर प्रस्तुत किये। इस श्रृंखला में अर्थव्यवस्था को 13 भागों में विभाजित किया गया तथा उत्पादन एवं आय विधि के द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना की गई।

(ii) **संशोधित श्रृंखला** (Revised Series) – केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने आय के नवीन क्षेत्रों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय आय की गणना के लिए अपनाई जाने वाली रीति पर पुनर्विचार किया तथा सन् 1967 से परम्परागत श्रृंखला को बंद करके संशोधित श्रृंखला प्रारम्भ की। इस श्रृंखला में भी चालू मूल्यों एवं 1960-61 को आधार वर्ष मानकर राष्ट्रीय आय की गणना की जाने लगी। आधार वर्ष को 1948-49 से बदल कर 1960-61 करने के अनेक कारण थे, जैसें- (i) कीमत स्तर में वृद्धि, (ii) अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन आदि। संशोधित श्रृंखला के अन्तर्गत 1960-61 से 1975-76 की अवधि तक की राष्ट्रीय आय चालू एवं 1960-61 की कीमतों पर निकाली गई है।

(iii) **नई श्रृंखलाएं** (New Series) – संशोधित श्रृंखला को 1975-76 में पुनरीक्षित किया गया। केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने 1961 के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों एवं 1971 की जनगणना सम्बन्धी आँकड़ों को ध्यान में रखकर वर्ष 1960-61 के स्थान पर 1970-71 को आधार वर्ष मानकर स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय की गणना प्रारम्भ की। सन् 1986 से आधार वर्ष में परिवर्तन किया गया और वर्ष 1980-81 को आधार वर्ष मानकर राष्ट्रीय आय की गणना की गई। पुन: सन् 1998 से नई श्रृंखला प्रारम्भ की गई और 1993-94 के मूल्यों को आधार वर्ष मानकर राष्ट्रीय आय की गणना की गई। तत्पश्चात केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने 1999-2000 को आधार वर्ष मानकर स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय की गणना प्रारंभ की है।

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना की रीति

(Method for Estimation of National Income in India)

संशोधित एवं नई श्रृंखला में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को तीन व्यावसायिक क्षेत्रों में वर्गीकृत किया गया है। ये क्षेत्र हैं प्राथमिक क्षेत्र (Primary Sector), द्वितीयक क्षेत्र (Secondary Sector) और तृतीयक या सेवा क्षेत्र (Tertiary Sector)। इन क्षेत्रों में विभिन्न व्यवसायों को निम्न प्रकार रखा गया है –

एक - प्राथमिक क्षेत्र (Primary Sector) :	(i) कृषि, (ii) वन, (iii) लट्ठे बनाना, (iv) मछली पालन और (v) खनन एवं उत्खनन।
दो- **द्वितीयक क्षेत्र** (Secondary Sector) :	(i) पंजीकृत एवं गैर-पंजीकृत उद्योग, (ii) निर्माण, (iii) विद्युत, गैस एवं जल सम्भरण क्षेत्र।
तीन- तृतीयक या सेवा क्षेत्र (Tertiary Sector) :	(i) परिवहन एवं संचार, (ii) विपणन एवं व्यापार, (iii) बैंक एवं बीमा कम्पनी, (iv) स्थाई सम्पत्ति, (v) सरकारी प्रशासन एवं प्रतिरक्षा, (vi) अन्य सेवाएं और (vii) विदेशी सौदे।

राष्ट्रीय आय की गणना के लिए अर्थव्यवस्था के विभिन्न व्यावसायिक क्षेत्रों में होने वाली आय की गणना की जाती है। इसके लिए मुख्यत: उत्पादन विधि एवं आय विधि का प्रयोग किया जाता है। विनिर्माण या मेन्युफेक्चरिंग क्षेत्र के लिए व्यय विधि या वस्तु प्रवाह विधि का प्रयोग किया जाता है। राष्ट्रीय आय की गणना के लिए पुन: व्यावसायिक क्षेत्रों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। ये वर्ग एवं इसमें प्रयुक्त गणना विधि निम्न प्रकार है :–

अ- वर्ग : इस वर्ग में कृषि, वन, लट्ठे बनाना, मछली पालन, खनन एवं उत्खनन, पंजीकृत विनिर्माण (मेन्युफेक्चरिंग क्षेत्र) एवं निर्माण क्षेत्र को रखा गया है। इस वर्ग में राष्ट्रीय आय की गणना के लिए उत्पादन विधि का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए इन क्षेत्रों में उत्पादन की मात्रा एवं मूल्य के आँकड़ों का संकलन किया जाता है। तदुपरान्त उत्पादन की मात्रा का प्रतिइकाई मूल्य से गुणा कर के सकल उत्पादन का मूल्य ज्ञात किया जाता है।

ब- वर्ग : इस वर्ग में विद्युत, रेल एवं वायु यातायात, संगठित सड़क एवं जल यातायात, संचार, बैंक एवं बीमा, स्थावर सम्पत्ति, सार्वजनिक प्रशासन एवं प्रतिरक्षा को सम्मिलित किया जाता है। इस वर्ग

में आय विधि को प्रयुक्त किया जाता है। इसके अन्तर्गत साधन-आय (Factor Prices), जिसकी जानकारी विभिन्न कम्पनियों या उद्योगों के वार्षिक प्रतिवेदनों से प्राप्त होती है, का संकलन किया जाता है। तदुपरान्त उन्हें जोड़ कर वार्षिक आय के आँकड़े प्राप्त किए जाते हैं।

स- वर्ग : इस वर्ग के अन्तर्गत असंगठित उद्योग, गैस तथा जल आपूर्ति, असंगठित सड़क तथा जल यातायात, संग्रहण, व्यापार, होटल, आवास गृहों का स्वामित्व और अल्प सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है। इस वर्ग में भी आय विधि का प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत उपर्युक्त व्यावसायों में कार्यरत जनसंख्या या श्रमशक्ति एवं उनकी औसत उत्पादकता की जानकारी संकलित को जाती है। ये आँकड़े जनगणना प्रतिवेदन, न्यादर्श सर्वेक्षण एवं अन्य स्रोतों से संकलित किए जाते हैं। तदुपरान्त प्रत्येक क्षेत्र में श्रमिकों की संख्या को उनकी औसत उत्पादकता से गुणा करके कुल उत्पाद या आय की गणना की जाती है।

भारत में राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय
(National & Per-capita Income in India)

स्वतंत्रता के बाद से ही देश के आर्थिक विकास हेतु पंचवर्षीय योजनाओं का क्रियान्वयन किया जा रहा है और अब तक नौ पंचवर्षीय योजनाएँ पूर्ण की जा चुकी है तथा दसवीं योजना समाप्ति पर है। इस अवधि में राष्ट्रीय आय में औसतन लगभग 4.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 से 2004-05 तक राष्ट्रीय आय एवं प्रतिव्यक्ति आय के आँकड़ों का तुलनात्मक विवरण तालिका-1 में दर्शाया गया है।

तालिका-1
सकल तथा निवल राष्ट्रीय उत्पाद
(आधार वर्ष - 1993-94)

वर्ष	सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP-Rs. in Crores)		शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP-Rs. in Crores)		प्रति व्यक्ति आय या शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद- (In Rupees)	
	वर्तमान कीमतों के आधार पर	1993-94 की कीमतों के आधार पर	वर्तमान कीमतों के आधार पर	1993-94 की कीमतों के आधार पर	वर्तमान कीमतों के आधार पर	1993-94 की कीमतों के आधार पर
1950-51	9506	139912	9142	132367	254	3687
1960-61	16148	205196	15204	192235	350	4429
1970-71	41938	293933	38968	270597	720	5001
1980-81	130523	401970	118236	363417	1741	5352
1990-91	503409	683670	450145	614206	5365	7320
1999-2000	1746507	11364407	1654048	1008114	15625	10071
नई शृंखला (आधार वर्ष - 1999-2000)						
वर्ष	वर्तमान कीमतों पर	1999-2000 की कीमतों पर	वर्तमान कीमतों पर	1999-2000 की कीमतों पर	वर्तमान कीमतों पर	1997-2000 की कीमतों पर
1999-2000	1776861	177861	1590212	1590212	15886	15886
2000-01	1907451	1847842	1704719	1653087	16729	16223
2001-02	2077278	1957384	1856217	1755280	17883	16910
2002-03	2238884	2033781	2003282	1823126	18988	17281

2003-04 अनन्तिम	2525146	2208196	2268576	1986858	21142	18517
2004-05 त्वरित अनुमान	2825981	2376729	2531223	214776	23222	19649
स्रोत :– केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन, आर्थिक समीक्षा, 2005-06						

तालिका क्रमांक-1 से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

(i) वर्तमान या चालू कीमतों पर भारत का **सकल राष्ट्रीय उत्पाद** (GNP) जहाँ वर्ष 1950-51 में 9506 करोड़ रुपए था, बढ़कर वर्ष 1990-91 में 503409 करोड़ रु. एवं 2003-05 में 2825981 करोड़ रु. हो गया अर्थात् 297 गुना बढ़ा।

(ii) इसी प्रकार चालू कीमतों पर **शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद** (NNP) जहाँ वर्ष 1950-51 में 9142 करोड़ रुपए था, बढ़कर, 1990-91 में 450145 करोड़ रु. एवं 2004-05 में 2531223 करोड़ रु. हो गया अर्थात् 277 गुना अधिक रहा।

(iii) वर्तमान या चालू कीमतों के अनुसार भारत की **प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय** (शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद) वर्ष 1950-51 में केवल 254 रु. थी, जो बढ़कर सन् 1990-91 में 5365 रु. एवं वर्ष 2004-05 में 23,222 रु. हो गई, अर्थात् इस अवधि में लगभग 91 गुना बढ़ी।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि **विश्व बैंक** द्वारा वर्ष 2004 में प्रकाशित प्रतिवेदन के अनुसान सन् 2002 में परम्परागत गणनानुसार भारत की प्रति व्यक्ति आय लगभग **480 डालर** थी। इसी प्रतिवेदन के अनुसार क्रय शक्ति पर आधारित नवीन गणना प्रणाली के आधार पर भारत की प्रति व्यक्ति आय लगभग **2570 डालर** थी।

भारतीय राष्ट्रीय आय की विशेषताएँ

(Characteristics of Indian National Income)

स्वतंत्रता के बाद भारत की राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय की मात्रा, संरचना एवं क्षेत्रीय योगदान में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान किए गए प्रयासों से इसमें क्रमश: वृद्धि हुई है। भारतीय राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं –

(1) **राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय में धीमी वृद्धि** (Slow Growth of National & Per-capita Income) – वर्ष 1950-51 से 1998-99 की अवधि में जहाँ राष्ट्रीय आय में (1980-81 के मूल्यों पर) लगभग 4.3 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है, वहीं प्रतिव्यक्ति आय केवल 2.4 प्रतिशत की दर से बढ़ी है। राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय में यह वृद्धि दर पंचवर्षीय योजनाओं में रखे गए लक्ष्य से बहुत कम है। अभी भी देश की लगभग 26 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे अपना जीवन-यापन कर रही है। अत: यह कहा जा सकता है कि नियोजित प्रयासों के बावजूद भी देश की राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय में पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई।

(2) **कृषि की प्रधानता** (Pre-dominance of Agriculture) – भारत के कुल घरेलू उत्पाद (राष्ट्रीय आय) में कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय का सदा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि कुल आय में कृषि क्षेत्र से प्राप्त आय का प्रतिशत धीरे-धीरे कम होता जा रहा है, फिर भी अन्य सभी क्षेत्रों की तुलना में कृषि क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार जहाँ वर्ष 1950-51 में कुल घरेलू उत्पाद (राष्ट्रीय आय) में कृषि क्षेत्र (प्राथमिक क्षेत्र) का योगदान लगभग 59.2 प्रतिशत था जो घटकर वर्ष 2003-04 में 27.5 प्रतिशत रह गया है।

(3) **राष्ट्रीय आय में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान** (Contribution of Public Sector in National Income) – योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र का व्यापक विस्तार हुआ है। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान बढ़ता रहा है। वर्ष 1950-51 में शुद्ध राष्ट्रीय आय में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान 8.5 प्रतिशत था, जो 1980-81 तक बढ़कर 10.5 प्रतिशत और 1999-2000 तक बढ़कर लगभग 24.1 प्रतिशत हो गया है।

(4) **राष्ट्रीय आय का असमान वितरण** (Un-equal Distribution of National Income) – देश के आर्थिक विकास के लिए अपनाये गये योजनाबद्ध विकास के बावजूद भी समाज में राष्ट्रीय आय का असमान वितरण दिखाई देता है। अभी भी देश के 1000 औद्योगिक घरानों के पास राष्ट्रीय आय का 68 प्रतिशत भाग है जबकि शेष 32 प्रतिशत भाग देश की समस्त जनसंख्या में बंटा हुआ है। योजनाकाल में आय का असमान वितरण अधिक बढ़ा है।

(5) **क्षेत्रीय भिन्नता** (Regional Disparities) – राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय के सन्दर्भ में भारत में क्षेत्रीय भिन्नताएं बहुत अधिक हैं। दूसरे शब्दों में, जहाँ कुछ राज्यों में प्रतिव्यक्ति आय बहुत अधिक है, वहीं अन्य राज्यों में बहुत कम है। उदाहरणार्थ– चालू मूल्यों पर प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय वर्ष 2003-04 में जहाँ पंजाब में 27,851 रुपये है वहीं यह बिहार में केवल 5,780 रुपये, उड़ीसा में 12,388 रुपये और असम में 13,139 रुपये ही है। अत: यह कहा जा सकता है कि भारत में क्षेत्रीय भिन्नता बहुत अधिक है।

(6) **राष्ट्रीय आय पर जनसंख्या का प्रभाव** (Impact of Population on National Income)– भारत में जनसंख्या की वृद्धि दर पिछले 50 वर्षों में औसतन लगभग 1.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। इसके विपरीत राष्ट्रीय आय की वार्षिक औसत वृद्धि दर 4.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। इस प्रकार बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय को बढ़ी हुई जनसंख्या समाप्त कर रही है। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय की वास्तविक वृद्धि दर 2.4 प्रतिशत रह गई है। इस प्रकार बढ़ती हुई जनसंख्या ने राष्ट्रीय आय की वृद्धि को महत्वहीन बना दिया है।

(7) **राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग खाद्य पदार्थों पर व्यय होता है** – देश में राष्ट्रीय आय का लगभग 53 प्रतिशत से अधिक भाग खाद्य पदार्थों पर व्यय होता है। इसके अतिरिक्त अनुत्पादक उपभोग पर भी लोगों का व्यय बहुत अधिक है जिसके परिणामस्वरूप बचत और विनियोग हेतु कम राशि उपलब्ध रहती है।

भारत में राष्ट्रीय आय गणना में कठिनाइयाँ

(Difficulties in the Measurement of National Income in India)

राष्ट्रीय आय गणना में आने वाली मुख्य कठिनाइयाँ निम्न हैं :-

(1) **धारणामूलक कठिनाइयाँ** (Conceptutal):– राष्ट्रीय आय की गणना यह मानकर की जाती है कि देश में विनिमय मुद्रा के माध्यम से किया जाता है, परन्तु वास्तव में देश की अर्थव्यवस्था का बहुत बड़ा भाग असंगठित है और उत्पत्ति का एक बड़ा भाग बाजार में बिकने नहीं आता है, जिससे कुल उत्पादन का मूल्य ज्ञात करना कठिन हो जाता है। पिछड़ेपन के कारण उत्पादक अपनी उत्पत्ति की मात्रा एवं मूल्य का हिसाब नहीं रख पाते हैं। भारत में एक व्यक्ति एक साथ अनेक व्यवसायों में लगे रहने के कारण उनकी आय का सही अनुमान लगाना कठिन हो जाता है।

(2) **सांख्यिकीय मूलक कठिनाइयाँ** (Statistical):– भारत में कृषि, जनता का मुख्य व्यवसाय होने के कारण कृषि तथा सहायक धन्धों में लागत तथा आय के सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। देश में उपभोग व्यय एवं बचत के पर्याप्त आँकड़ों का अभाव पाया जाता है तथा एक क्षेत्र के अनुमान दूसरे क्षेत्र के लिए आधार नहीं बन पाते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. राष्ट्रीय आय को परिभाषित कीजिए। इस सन्दर्भ में मार्शल, पीगू व फिशर के विचारों की व्याख्या कीजिए।

   Define National Income. Discuss the views of Marshall, Pigou and Fisher in this connection.

NOTES

2. राष्ट्रीय आय सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या कीजिए।
Discuss various approaches to National Income.

3. कुल राष्ट्रीय उत्पादन किस प्रकार कुल राष्ट्रीय आय एवं कुल राष्ट्रीय व्यय के बराबर होता है, समझाइए।
Explain how Gross National Product is equal to Gross National Income and Gross National Expenditure?

4. राष्ट्रीय आय के मापने की विधियाँ बताइए तथा इनकी सीमाएँ दीजिए।
Mention the various methods of measurements of National Income and give its limitations.

5. राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित विभिन्न धारणाओं की व्याख्या कीजिए तथा उनमें अन्तर स्पष्ट कीजिए।
Explain the various concepts of National Income and explain the difference between them.

6. कुल राष्ट्रीय उत्पादन, विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन, राष्ट्रीय आय, वैयक्तिक आय तथा व्यय योग्य आय के मध्य अन्तर दीजिए।
Distinguish between GNP, NNP, NI, PI and DI.

7. भारत में राष्ट्रीय आय लेखांकन पर एक टिप्पणी दें।
Give a note on 'National Income Accounting in India.'

8. कुल राष्ट्रीय उत्पादन के मापन की रीतियाँ बताइए।
Give the methods of measurement of total National Product.

9. राष्ट्रीय आय के माप की विधियाँ दीजिए। राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का महत्व दें।
Give the methods of measurement of National Income. Give the importance of National Income data.

10. भारत में राष्ट्रीय आय की गणना कैसे की जाती है। राष्ट्रीय आय की गणना की कठिनाइयों को दीजिए।
How National Income of India is calculated? Give the difficulties of National Income estimates.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. राष्ट्रीय आय को परिभाषित कीजिये।
Define National Income.

2. भारतीय राष्ट्रीय आय की विशेषतायें बतलाइये।
Discuss the characteristics of Indian National Income.

3. राष्ट्रीय आय को मापने को विधियाँ बताइये।
Mention the methods of measurement of National Income.

4. कुल राष्ट्रीय उत्पादन क्या है?
What is Gross National Product.

5. राष्ट्रीय आय की गणना की रीति समझाइये।
Explain the method for estimation of National Income.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. भारत में राष्ट्रीय आय की गणना रीति है-

(अ) प्राथमिक क्षेत्र (ब) द्वितीयक क्षेत्र (स) तृतीयक क्षेत्र (द) उपरोक्त सभी

Method for estimation of National Income in India is:

(a) Primary Sector (b) Secondary Sector

(c) Tertiary Sector (d) All of above

2. राष्ट्रीय आय का सम्बन्ध है-

(अ) सम्पूर्ण देश से (ब) राज्यों से (स) संभागों से (द) इनमें कोई नहीं

National Income relates with:

(a) Whole country (b) States (c) Divisions (d) None of these

3. किस अर्थशास्त्री की राष्ट्रीय आय की परिभाषा उपभोग पर आधारित है-

(अ) मार्शल (ब) पीगू (स) फिशर (द) रॉबिन्स

Which Economists definition of National Income is based on consumption:

(a) Marshall (b) Pigue (c) Fisher (d) Robbins

उत्तर- 1. (द), 2. (अ), 3. (स)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

3

मजदूरी के सिद्धान्त
(THEORIES OF WAGES)

प्रारम्भिक – भूमि के पश्चात् श्रम उत्पत्ति का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है। भूमि के उपयोग के बदले लगान दिया जाता है। उसी प्रकार से श्रम के उपयोग के बदले मजदूरी दी जाती है। इस प्रकार मजदूरी वह आय है जो कि किसी श्रमिक को उसके श्रम के बदले दी जाती हो। श्रमिक को अपने श्रम के बदले प्राप्त होने वाला पारिश्रमिक ही मजदूरी कहलाता है। यह मजदूरी नकदी में या वस्तुओं के रूप में प्राप्त हो सकती है।

परिभाषाएँ – मजदूरी की परिभाषाओं को दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है, यथा (अ) संकुचित एवं (ब) विस्तृत परिभाषाऐं। ये परिभाषाऐं निम्न प्रकार है:–

(अ) **संकुचित अर्थ में** :– इस अर्थ में मजदूरी से आशय केवल द्रव्य के रूप में किए गये भुगतान से है। इसके साथ ही मजदूरी केवल भाड़े के श्रमिकों को ही दी जाती है। संकुचित अर्थ में मजदूरी की प्रमुख परिभाषाऐं निम्न प्रकार हैं :–

(1) **प्रो. टॉजिग** – "मजदूरी एक मालिक द्वारा निश्चित धन के रूप में दिया गया एक भुगतान है।"

(2) **प्रो. जीड** – "मजदूरी शब्द का उपयोग प्रत्येक प्रकार के श्रम के लिए दिए गए मूल्य के रूप में प्रयोग नहीं होता, बल्कि साहसी द्वारा भाड़े या प्राप्त किए गए श्रम की कीमत के रूप में किया जाना चाहिए।"

(3) **प्रो. बेन्हम** – "मजदूरी को द्रव्य की उस मात्रा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि साहसी द्वारा श्रमिक को उसकी सेवाओं के बदले दिया जाता है।"

संकुचित अर्थ में दी गयी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि मजदूरी का भुगतान केवल द्रव्य में ही किया जा सकता है एवं मजदूरी केवल भाड़े के श्रमिक को ही दी जाती है।

(ब) **विस्तृत अर्थ में** – मजदूरी की परिभाषाएँ विस्तृत अर्थ में निम्न प्रकार हैं :–

(4) **सेलिगमैन** – "श्रम का पारिश्रमिक ही मजदूरी है।"

(5) **मार्शल** – "श्रम की सेवा के बदले में दिया गया मूल्य मजदूरी कहलाता है।"

नकद (मौद्रिक) मजदूरी एवं वास्तविक मजदूरी
(Money or Nominal and Real Wages)

(1) **मौद्रिक मजदूरी** – मौद्रिक मजदूरी से अभिप्राय मुद्रा के रूप में मिलने वाली नकद मजदूरी से होता है। इस प्रकार से किसी मजदूर को उसके श्रम के बदले मुद्रा के रूप में दिए गए पारिश्रमिक को नकद मजदूरी कहेंगे। नकद मजदूरी से श्रमिक अपनी जरूरत की समस्त वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। वर्तमान समय में प्राय: मजदूरी का भुगतान नकदी में ही किया जाता है।

(2) **वास्तविक मजदूरी** – यदि श्रमिक को नकद मजदूरी के अतिरिक्त वस्तुओं व सेवाओं में भी कुछ प्राप्त होता है तो उसे वास्तविक मजदूरी में सम्मिलित करते हैं। वास्तविक मजदूरी से आशय नकद मजदूरी की उस क्रयशक्ति से है जो वस्तुओं और सेवाओं को क्रय कर सकती है। इसके साथ ही वास्तविक मजदूरी में नकद मजदूरी के साथ-साथ मिलने वाली अन्य सुविधाओं को भी सम्मिलित किया जाता है।

वास्तविक मजदूरी की मुख्य **परिभाषाएँ** निम्न हैं :-

(1) **प्रो. सेलिगमैन** – "वास्तविक मजदूरी से अभिप्राय उन वस्तुओं एवं सेवाओं से होता है जो कि नकद मजदूरी के द्वारा क्रय की जा सकती हैं।"

(2) **मार्शल** – "वास्तविक मजदूरी में केवल वे सुविधाएँ एवं आवश्यकतायें ही सम्मिलित नहीं होती हैं जो नियोक्ता द्वारा प्रदान की जाती हैं, बल्कि उन समस्त व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है जो कि व्यवहार-विशेष से सम्बन्धित हों।"

(3) **एडम स्मिथ** – "श्रम की वास्तविक मजदूरी से जीवनोपयोगी सुविधाओं एवं आवश्यकताओं की वह मात्रा सम्मिलित है जो कि श्रम के बदले में दी जाती है।"

(4) **प्रो. टॉमस** – "वास्तविक मजदूरी श्रमिक को उसके कार्य के बदले प्राप्त होने वाले शुद्ध लाभों की ओर संकेत करती है।"

वास्तविक मजदूरी को निर्धारित करने वाले घटक

(Factors Determining Real Wages)

वास्तविक मजदूरी का निर्धारण निम्न घटकों पर होता है :-

(1) **व्यापार की दशाएँ** – मुद्रा प्रसार के समय नकद मजदूरी अधिक होने पर भी वास्तविक मजदूरी कम ही रहती है और मुद्रा संकुचन के समय क्रय शक्ति अधिक हो जाने के कारण वास्तविक मजदूरी अधिक हो जाती है। इसका कारण यह है कि मुद्रा प्रसार के समय मुद्रा की क्रय शक्ति कम एवं मुद्रा-संकुचन के समय अधिक होती है।

(2) **परिवार के लोगों को रोजगार** – यदि श्रमिक अपने अतिरिक्त परिवार के व्यक्तियों को भी रोजगार दिला देता है तो मजदूर की वास्तविक आय अधिक हो जाती है।

(3) **व्यापारिक व्यय** – यदि श्रमिक को अपना कार्य कुशलतापूर्वक चलाने में व्यापारिक व्यय करना पड़े तो उसकी वास्तविक मजदूरी भी कम हो जाती है। उदाहरण के लिये एक वकील को अपना व्यवसाय अच्छी तरह चलाने के लिये एक अच्छी लायब्रेरी की आवश्यकता होती है, जिस पर उसे व्यय करना पड़ता है, जबकि एक साधारण श्रमिक को इस प्रकार का व्यय नहीं करना पड़ता।

(4) **कार्य की निरन्तरता** – यदि नकद मजदूरी कम हो परन्तु कार्य की नियमितता बनी रहे तो वास्तविक मजदूरी अधिक होगी। इसके विपरीत यदि नकद मजदूरी अधिक मिलने पर भी कार्य में नियमितता नहीं है तो वास्तविक मजदूरी कम होगी।

(5) **कार्य की दशाएँ** – समान नकद मजदूरी मिलने पर यदि कार्य की दशाएँ अच्छी हैं तो उसकी वास्तविक मजदूरी भी अधिक होगी। मजदूरी अधिक होने परन्तु कार्य की दशाएँ अच्छी न होने पर वास्तविक मजदूरी कम ही मानी जाती है।

(6) **अतिरिक्त आय स्रोत** – यदि श्रमिक को नकद मजदूरी के अतिरिक्त अन्य आय प्राप्ति के साधन भी उपलब्ध हों तो उसकी वास्तविक मजदूरी बढ़ जाएगी।

(7) **मुद्रा की क्रय शक्ति** – वास्तविक मजदूरी पर मुद्रा की क्रय शक्ति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। क्रय शक्ति से आशय मुद्रा की वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदने की क्षमता से है। जिस स्थान पर मुद्रा की क्रय शक्ति अधिक होगी वहाँ पर कम मात्रा में नकद मजदूरी प्राप्त होने पर भी अधिक वस्तुयें प्राप्त की जा सकती हैं तथा वास्तविक मजदूरी अधिक होगी।

(8) **अन्य सुविधाएँ** – यदि व्यवसाय में नकद मजदूरी के अतिरिक्त श्रमिक को अन्य प्रकार की सुविधायें प्राप्त होती हैं तो उसकी वास्तविक मजदूरी अधिक होगी।

(9) **कार्य का स्वभाव** – यदि कार्य अरुचिपूर्ण एवं जोखिमपूर्ण है तो नकद मजदूरी अधिक होने पर भी वास्तविक मजदूरी कम होगी। इसके विपरीत जोखिम रहित कार्य करने पर नकद मजदूरी कम मिलने पर भी वास्तविक मजदूरी अधिक होगी।

NOTES

(10) **कार्य की अवधि** – जिन कार्यों में कम कार्य करना पड़े तथा छुट्टियाँ अधिक हों तो नकद मजदूरी कम मिलने पर भी उनमें वास्तविक मजदूरी अधिक होगी।

(11) **पदोन्नति की सम्भावना** – यदि पदोन्नति की सम्भावना है तो कम नकद मजदूरी होने पर भी वास्तविक मजदूरी अधिक ही रहती है।

(12) **प्रशिक्षण की लागत व समय** – यदि किसी कार्य को सीखने में अधिक लागत व समय लगता हो तो इन कार्यों में वास्तविक मजदूरी उन कार्यों की अपेक्षा कम होती हैं, जिन्हें सीखने में कम व्यय लगता है।

(13) **सामाजिक प्रतिष्ठा** – यदि किसी कार्य में सामाजिक प्रतिष्ठा अधिक है तो वास्तविक मजदूरी भी अधिक रहती है। यदि सामाजिक प्रतिष्ठा कम हो तो वास्तविक मजदूरी भी कम रहती है।

मजदूरी में विभिन्नता के कारण
(Causes of Difference in Wages)

प्राय: यह देखा जाता है कि एक ही व्यवसाय में अथवा अलग-अलग व्यवसायों में कार्य करने वाले श्रमिकों की मजदूरी में बहुत अधिक अन्तर होता है। मजदूरी में विभिन्नता के प्रमुख कारण निम्न प्रकार है :-

(1) **समय का अन्तर** – श्रम की माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण विभिन्न समय के आधार पर मजदूरी की दर में परिवर्तन हो जाता है।

(2) **समाज में प्रतिष्ठा** – समाज में प्रतिष्ठित व्यवसायों में मजदूरी की दर कम होती है, क्योंकि श्रमिक कम मजदूरी पर भी कार्य करने को तत्पर हो जाते हैं। वहाँ पर कम मजदूरी पर कार्य करने पर भी वे स्वयं को प्रतिष्ठित मानते हैं।

(3) **अतिरिक्त सुविधायें** – जिन व्यवसायों में मजदूरी के अतिरिक्त अन्य सुविधायें प्राप्त होती हैं उनमें मजदूरी की दर अपेक्षाकृत कम होती है।

(4) **व्यवसाय में स्थायित्व** – मौसमी व्यावसायों में मजदूरी अधिक व स्थायी व्यवसायों में मजदूरी की दर प्राय: कम रहती है।

(5) **गतिशीलता का अभाव** – श्रमिकों में व्यवसायिक गतिशीलता का अभाव पाया जाता है और वे अधिक मजदूरी मिलने पर भी दूसरे व्यवसाय में जाना पसन्द नहीं करते जिससे मजदूरी की दरों में विभिन्नता पायी जाती है।

(6) **कार्यकुशलता में अन्तर** – जो श्रमिक अधिक कार्यकुशल होंगे उनकी मजदूरी अधिक होगी जिससे मजदूरी की दरों में अन्तर पाया जायेगा।

(7) **प्रशिक्षण व्यय का अन्तर** – भिन्न-भिन्न व्यवसायों में कार्य सीखने में समान व्यय नहीं होता। जिन व्यवसायों में प्रशिक्षण पर अधिक व्यय होता है, उनमें मजदूरी भी अधिक होती है।

(8) **व्यवसाय का स्वभाव** – रुचिकर व्यवसायों में श्रम की पूर्ति अधिक होने के कारण मजदूरी कम रहती है। इसके विपरीत अरुचिकर कार्यों में मजदूरी अधिक होती है।

(9) **कार्य की अवधि** – जिन व्यवसायों में कार्य की अवधि अधिक होती है उनमें मजदूरी भी अधिक रहती है।

(10) **उन्नति की आशा** – जिन व्यवसायों में भविष्य में उन्नति की आशा रहती है वहाँ पर नीची दर पर भी श्रमिक कार्य करने को तत्पर हो जाते हैं।

(11) **जलवायु में अन्तर** – जलवायु में अन्तर के कारण भी मजदूरी की दरों में अन्तर पाया जाता है।

महिला श्रमिकों में कम मजदूरी होने के कारण
(Causes of Low Wages in Female Workers)

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम मजदूरी दी जाती रही है। स्त्रियों को कम मजदूरी प्राप्त होने के मुख्य कारण निम्न हैं :-

(1) **नियुक्ति में अधिक व्यय** – स्त्रियों के जल्द अस्वस्थ होने के कारण मातृत्व-लाभ जैसे लाभ कानूनन देने पड़ते हैं जिससे नियोजक स्त्रियों को कम मजदूरी देता है।

(2) **पूर्ति अधिक होना** – स्त्रियाँ कुछ व्यवसाय में ही कार्य कर सकती हैं, जहाँ पर उनकी पूर्ति अधिक होती है और उन्हें कम मजदूरी प्राप्त होती है। माँग की तुलना में पूर्ति अधिक होने के कारण उन्हें कम मजदूरी दी जाती है।

(3) **प्रशिक्षण का अभाव** – स्त्रियों में प्राय: समान प्रशिक्षण का अभाव पाया जाता है जिससे उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी मिलती है।

(4) **कार्यक्षमता में कमी** – स्त्रियों की कार्यक्षमता में कमी होने से उनकी उत्पादन शक्ति कम हो जाती है जिससे उन्हें कम मजदूरी दी जाती है।

(5) **गतिशीलता की कमी** – पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है जिससे उनकी माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक होने से उन्हें कम मजदूरी प्राप्त होती है।

(6) **घर से सहायता** – स्त्रियाँ अपनी मजदूरी के अतिरिक्त कुछ सहायता अपने घर से प्राप्त करती हैं जिससे अच्छी नौकरी प्राप्त करने का प्रस्ताव कमजोर हो जाता है।

(7) **संगठन का अभाव** – स्त्रियों में संगठन के अभाव के कारण मोल-भाव करने की शक्ति कम हो जाती है और उन्हें कम मजदूरी प्राप्त होती है।

(8) **सीमित आवश्यकतायें** – स्त्रियों की भौतिक आवश्यकतायें सीमित होती हैं और उन पर आश्रितों की संख्या कम रहती है जिससे कम मजदूरी से ही काम चल जाता है।

(9) **अस्थायी श्रम** – स्त्रियों का कार्य केवल अस्थायी प्रकृति का होता है, जिससे वह कम मजदूरी पर ही कार्य करने को तत्पर हो जाती हैं क्योंकि विवाह के बाद वह कार्य छोड़ देती हैं और अपने पति व गृहस्थी की ओर ही अधिक ध्यान देती हैं।

मजदूरी निर्धारण के सिद्धान्त
(Theories of Wage Determination)

मजदूरी निर्धारण के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :-

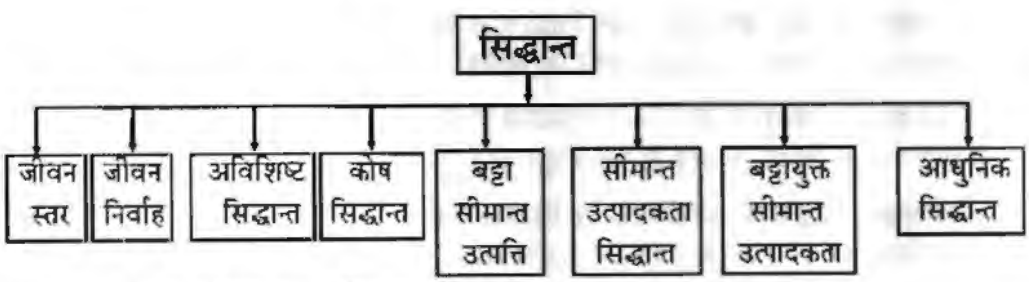

(1) **मजदूरी का जीवन-स्तर सिद्धान्त** (Standard of Living Theory of Wages) –

इसमें मजदूरी का निर्धारण जीवन-स्तर के आधार पर किया जाता है। जिस श्रमिक वर्ग का जो जीवन-स्तर होता है उसी के अनुरूप उसे मजदूरी दी जाती है। जीवन-स्तर ऊँचा होने पर मजदूरी भी अधिक होगी। श्रमिक अपने जीवन-स्तर को बनाए रखने का प्रयास करता है। जिन श्रमिकों को जीवन-निर्वाह से अधिक मजदूरी प्राप्त होती है वे उसका कुछ भाग भविष्य के लिए बचाकर रख लेते हैं।

NOTES

आलोचनायें – सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं :–

(i) **एकपक्षीय** – यह सिद्धान्त केवल पूर्ति-पक्ष पर ही विचार करने के कारण अधूरा एवं एकपक्षीय है।

(ii) **अनेक कारण जिम्मेदार** – ऊँची मजदूरी दिलाने में केवल जीवन-स्तर ही सहायक न होकर अन्य अनेक कारण हैं जो इसमें सहायक सिद्ध होते हैं।

(iii) **मजदूरी में परिवर्तन** – मजदूरी का निर्धारण जीवन-स्तर के आधार पर होने पर भी मजदूरी में परिवर्तन होते रहते हैं जो कि नहीं होने चाहिए। वास्तव में जीवन-स्तर एक-सा रहने पर भी मजदूरी में अन्तर आ जाते हैं।

(iv) **जीवन-स्तर में परिवर्तन** – जीवन- निर्वाह नाम की कोई चीज नहीं होती है और जीवन-स्तर में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं और श्रमिक उसका आदी नहीं हो पाता।

(v) **मजदूरी द्वारा जीवन-स्तर का निर्धारण** – यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन-स्तर ही मजदूरी का निर्धारण करता है। प्राय: मजदूरी ही जीवन-स्तर को निर्धारित करती है जिससे यह सिद्धान्त आंशिक रूप से ही सत्य है।

(vi) **जीवन-स्तर का प्रभाव देरी से पड़ना** – जीवन-स्तर का माँग व पूर्ति पर जो प्रभाव पड़ता है वह तत्काल न पड़कर देरी से पड़ता है।

(2) मजदूरी का जीवन निर्वाह या मजदूरी का लौह सिद्धान्त

(The Subsistence Theory of Wages) –

इसमें श्रमिक को केवल उतनी ही मजदूरी दी जाती है जिससे उसके परिवार को जीवित रखा जा सके। यदि मजदूरी जीवन- निर्वाह से अधिक दी गयी है, तो श्रमिक के अधिक बच्चे होंगे जिससे श्रम की पूर्ति बढ़कर मजदूरी कम हो जाएगी। इसे **'मजदूरी का लौह सिद्धान्त'** भी कहा है। अत: इसमें श्रमिक के जीवन-निर्वाह के बराबर ही मजदूरी दी जाती है जिससे वह अपना पालन कर सके।

मान्यतायें – इस सिद्धान्त की निम्न मान्यतायें हैं :–

(i) यह मान लिया गया है कि इस सिद्धान्त में, क्रमागत ह्रास नियम क्रियाशील होता है।

(ii) जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि हो रही है।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं–

(i) **मजदूरी के अन्तर को नहीं समझना** – इस सिद्धान्त में विभिन्न व्यवसायों में मजदूरी में होने वाले अन्तर को नहीं समझाया गया है।

(ii) **कार्यकुशलता की अवहेलना** – इस सिद्धान्त में श्रमिकों की कार्यकुशलता पर भी ध्यान नहीं दिया गया है जिससे उत्पादकता बढ़ने पर श्रमिकों को मजदूरी में भी वृद्धि होना चाहिए थी।

(iii) **माँग पक्ष पर विचार न करना** – यह सिद्धान्त केवल उत्पादन व्यय का ही विचार करता है और माँग पक्ष पर विचार न करने से यह अधूरा है।

(iv) **जनसंख्या सिद्धान्त पर आधारित** – यह सिद्धान्त जनसंख्या सिद्धान्त पर आधारित है। जनसंख्या का सिद्धान्त स्वयं दोषपूर्ण है जिससे उस पर आधारित होने से यह सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है।

(v) **इतिहास द्वारा खण्डन** – इतिहास द्वारा इस सिद्धान्त का खण्डन किया जाता है क्योंकि उन्नत देशों में श्रमिकों को सदैव जीवन- निर्वाह से अधिक मजदूरी दी गयी जिससे वे आराम व विलासिता की वस्तुओं का उपभोग कर रहे थे।

(vi) **निराशावादी सिद्धान्त** – यह सिद्धान्त निराशावादी है जिससे श्रमिकों के भविष्य को सुधारना सम्भव नहीं है।

(3) **मजदूरी का अवशिष्ट सिद्धान्त** (Residual Theory of Wages) –

कुल उत्पादन में से लगान, कर एवं पूँजी पर ब्याज देने के बाद शेष राशि को मजदूरों में विभाजित कर दिया जाता है। **प्रो. बाकर** का मत है कि कुल उत्पादन में से लगान, ब्याज एवं लाभ को घटाने के पश्चात् जो शेष बचता है, मजदूरी उसी के बराबर होती है। अत: श्रम बचे हुए धन का अधिकारी होता है। श्रमिक की जितनी अधिक कार्यक्षमता होगी, उत्पादन का उतना ही अधिक भाग श्रमिक को प्राप्त होने लगेगा। सिद्धान्त में उत्पादकता पर अधिक बल दिया गया है।

सूत्र रूप में, मजदूरी = कुल उत्पादन – लगान – ब्याज – लाभ।

आलोचनाएँ – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :–

(i) **मजदूरी बढ़ाने पर ध्यान न देना** – इस सिद्धान्त में केवल अवशिष्ट भाग ही श्रमिकों को मजदूरी के रूप में प्राप्त होना बताया गया है। सिद्धान्त में यह नहीं बताया गया कि किस प्रकार श्रमिक मजदूरी में वृद्धि कर सकते हैं।

(ii) **गलत मान्यता होना** – समस्त साधनों का भुगतान करने के पश्चात् शेष राशि लाभ कहलाती है, जबकि इस सिद्धान्त में शेष राशि पर मजदूरों का अधिकार माना गया है जो कि गलत है।

(iii) **मजदूरी भिन्नता के कारण बताने में असमर्थ** – यह सिद्धान्त यह बताने में असमर्थ है कि एक ही देश में मजदूरी के भिन्न-भिन्न होने के क्या कारण हैं।

(iv) **समान भुगतान की गलत धारणा** – उत्पादन में वृद्धि हो जाने के पश्चात् उत्पत्ति के समस्त साधनों को स्थिर ही मूल्य प्राप्त हो ऐसा व्यवहार में नहीं देखा जाता। उत्पादन में वृद्धि होने पर लाभ बढ़ ही जाते हैं और कमी होने पर कम हो जाते हैं।

(v) **पूर्ति की अवहेलना** – इस सिद्धान्त में पूर्ति पक्ष की अवहेलना की गयी है क्योंकि इसमें श्रम की कमी एवं अधिकता से पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन नहीं किया जाता।

(4) **मजदूरी का कोष सिद्धान्त** (The Wages Fund Theory) –

प्रो. मिल के अनुसार अस्थिर पूँजी के उस भाग को जिसे मजदूरों पर व्यय किया जाता है मजदूरी कोष कहते हैं तथा श्रमिकों की संख्या के अनुपात के आधार पर मजदूरी का निर्धारण हो जाता है। इसमें मजदूरी जनसंख्या एवं पूँजी के बीच के अनुपात पर निर्भर करती है। मजदूरी में कमी या वृद्धि मजदूरी कोष को घटाये या बढ़ाये बिना सम्भव नहीं हो पाती। इस प्रकार देश में पूँजी की एक निश्चित मात्रा श्रम खरीदने हेतु निश्चित कर दी जाती है जिसे मजदूरी कोष कहते हैं। मजदूरी कोष में शनैः-शनैः ही वृद्धि हो पाती है। यदि मजदूरी बढ़ानी हो तो कोष में वृद्धि कर दी जाती है और न बढ़ाने की स्थिति में कोष में वृद्धि नहीं की जाती है। श्रमिकों की संख्या पूर्ति पक्ष का निर्माण करती है। श्रमिकों की संख्या से मजदूरी कोष को विभाजित करने पर औसत मजदूरी ज्ञात हो जाती है। यदि श्रमिकों की संख्या बढ़ जाती है तो मजदूरी कम हो जाएगी और श्रमिकों की संख्या में कमी होने पर मजदूरी में वृद्धि हो जाएगी। मजदूरी कोष बढ़ाने के लिए अधिक बचत करनी होगी। प्रतियोगिता की संख्या में उसी समय कमी हो सकती है जबकि श्रमिक जन्म दर को कम कर दें। अत: मजदूरी बढ़ाने के लिए श्रमिकों को अपनी संख्या में अवश्य ही कमी करनी होगी। सूत्र के रूप में –

$$\text{मजदूरी की दर} = \frac{\text{मजदूरी कोष}}{\text{श्रमिकों की संख्या}}$$

आलोचनाएँ – यह सिद्धान्त मजदूरी के निर्धारण में पूर्ण रूप से सहायक सिद्ध नहीं हो पाया है। इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :–

(i) **अवैज्ञानिक सिद्धान्त** – यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक है जिसमें पहले मजदूरी कोष को निर्धारित करके बाद में मजदूरी का निर्धारण किया जाता है।

NOTES

(ii) **अव्यावहारिक मान्यता** – सिद्धान्त से माना गया है कि लाभ कम होने पर पूँजी कम हो जाएगी और उससें मजदूरी कम होगी और यह मान्यता व्यावहारिक नहीं है।

(iii) **कथन व व्याख्या में अन्तर** – इस सिद्धान्त के कथन व व्याख्या में अन्तर है। मिल के अनुसार मजदूरी श्रम की माँग व पूर्ति द्वारा निश्चित होती है। व्यवहार में श्रम की पूर्ति का ही प्रभाव पड़ता है।

(iv) **मजदूरी कोष पर प्रकाश न डालना** – सिद्धान्त में यह नहीं बताया कि मजदूरी कोष कहाँ से आता है और उसका निर्माण किस प्रकार होता है।

(v) **पूँजी की मात्रा पर मजदूरी निर्भर न होना** – यह आवश्यक नहीं होता कि मजदूरी पूँजी की मात्रा पर ही निर्भर करेगी। कहीं-कहीं पूँजी की मात्रा कम होने पर भी श्रमिकों की संख्या कम होने से मजदूरी अधिक प्राप्त हो सकती है।

(vi) **कोष का परिणाम अनिश्चित** – मजदूरी कोष के परिणाम को उत्पादक निश्चित नहीं कर सकता है। भविष्य में लाभ की आशा कोष में वृद्धि कर सकती है।

(vii) **श्रमिकों के गुण व संख्या का प्रभाव न पड़ना** – आलोचकों का मत है कि मजदूरी कोष का निर्धारण श्रमिकों के गुण एवं उनकी संख्या से पृथक निर्धारित किया जा सकता है। मिल ने पूँजी की मात्रा को स्थिर माना था जो कि वास्तव में स्थिर नहीं थी।

(viii) **भ्रमपूर्ण तथ्य** – यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण तथ्य को स्वीकार करता है क्योंकि उत्पत्ति वृद्धि नियम के लागू होने पर मजदूरी में भी वृद्धि होगी और लाभ भी बढ़ेंगे।

(ix) **मजदूरी की विभिन्नता को नहीं समझाना** – यह सिद्धान्त विभिन्न उद्योगों में मजदूरी की विभिन्नता को नहीं बताता है और यह स्वीकार करना भी गलत है कि सभी श्रम समान होते हैं।

(5) **मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त** (Marginal Productivity Theory of Wages) –

इसमें मजदूरी का निर्धारण श्रम की सीमान्त उत्पादकता के आधार पर किया जाता है। यदि श्रमिकों की संख्या में 1 से वृद्धि करने पर कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसे श्रम की सीमान्त उत्पादकता कहते हैं। अत: मजदूरी सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होती है और सन्तुलन बिन्दु पर इसके बराबर हो जाती है। यदि मजदूरी अधिक है तो उत्पादक कम श्रमिकों को कार्य पर लगाएगा और यदि मजदूरी कम है तो वह अधिक श्रमिकों को कार्य पर लगाएगा। श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करना उस समय तक लाभदायक है जब तक कि उनकी मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर न हो जाये।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(i) **असम्भव क्रिया** – उत्पत्ति के अन्य साधनों को स्थिर रखकर श्रमिक की एक इकाई को बढ़ाकर अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा को ज्ञात करना सम्भव नहीं है।

(ii) **कल्पित मान्यतायें** – सिद्धान्त में श्रम को पूर्ण रूप से गतिशील एवं वस्तुओं के मूल्य को सभी स्थानों पर समान मानना सम्बन्धी मान्यताएँ कल्पित एवं भ्रमात्मक हैं।

(iii) **समान श्रमिक की गलत मान्यता** – इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि प्रत्येक श्रमिक समान है। वास्तविक जगत में यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि सभी श्रमिक समान नहीं माने जा सकते।

(iv) **श्रम की माँग पर ही ध्यान** – इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय केवल श्रम की माँग पर ही ध्यान दिया गया है और श्रम के पूर्ति पक्ष की पूर्ण रूप से अवहेलना की गयी है, जिससे यह सिद्धान्त अधूरा एवं एकपक्षीय माना गया है।

अत: यह सिद्धान्त स्थैतिक दृष्टिकोण अपनाता है, जबकि वास्तविक संसार प्रावैगिक है। यह सिद्धान्त अधूरा एवं एकपक्षीय होने पर भी मजदूरी निर्धारण के महत्वपूर्ण तत्व को प्रकाश में लाता है।

(6) मजदूरी का बट्टायुक्त सीमान्त-उत्पादकता सिद्धान्त

(Discounted Marginal Productivity Theory of Wages) –

प्रो. टॉजिग (Taussig) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से कुछ कम होती है। मालिकों द्वारा मजदूरी वस्तु के विक्रय होने से पूर्व ही दी जाती है जिससे वे अग्रिम धनराशि पर वर्तमान दर से बट्टा काटते हैं, जिससे मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर न होकर उससे कुछ कम रहती है क्योंकि उसमें से कुछ बट्टा काट लिया जाता है। अत: मजदूरी बट्टा युक्त सीमान्त उत्पादकता के बराबर निश्चित हो जाती है। मजदूर की सीमान्त उत्पादकता को ज्ञात करके उसमें से बट्टा काट दिया जाता है तथा शेष राशि ही मजदूरी मानी जाती है।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :-

(i) मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की सभी आलोचनाएँ इस सिद्धान्त पर भी लागू हो जाती हैं।

(ii) उत्पादक उत्पत्ति के अन्य साधनों को भी बिक्री से पूर्व उनका पुरस्कार देता है, तो ब्याज, लगान आदि पर बट्टा क्यों नहीं काटा जाता? अत: आलोचकों का मत है कि केवल मजदूरी में से ही बट्टा क्यों काटा जाता है? इस प्रकार से मजदूरी में से बट्टा काटना भेद-भाव पूर्ण व्यवहार माना जाता है, जो कि न्यायोचित नहीं माना गया है।

(7) मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Wages) –

मजदूरी निर्धारण के उपर्युक्त वर्णित सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं। अत: आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इन सिद्धान्तों को अस्वीकार करने नवीन मांग एवं पूर्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त को **मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त** भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी श्रमिक की सेवा का मूल्य है। अत: इसका निर्धारण भी एक वस्तु के मूल्य की तरह मांग एवं पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त द्वारा होता है। इस प्रकार किसी भी उद्योग में मजदूरी उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहां श्रम की मांग तथा उसकी पूर्ति बराबर होती है। अध्ययन की सरलता के लिये इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, यथा - **प्रथम** पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी का निर्धारण और **द्वितीय** - अपूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी का निर्धारण। इन दोनों स्थितियों का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :-

(a) **पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण** (Wage Determination Under Perfect Competition) – पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी का निर्धारण श्रमिकों की मांग एवं पूर्ति पर निर्भर रहता है। इस सन्दर्भ में श्रम की मांग एवं श्रम की पूर्ति की प्रवृति निम्न प्रकार रहती है :-

श्रम की माँग (Demand for Labour) :– श्रम की माँग साहसियों के द्वारा इसलिये की जाती है कि श्रम उत्पत्ति का सक्रिय साधन है। उत्पादक किसी भी श्रमिक को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक मूल्य नहीं देना चाहता, क्योंकि इससे अधिक मजदूरी देने पर उसे हानि होती है। अत: किसी भी श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता ही उसका माँग मूल्य (Demand Price) अथवा द्राव्यिक मूल्य है। अन्य शब्दों में, साहसी की श्रमिक के लिये माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। **श्रम की उत्पादकता के साथ-साथ श्रम की माँग को निम्न तत्व भी प्रभावित करते हैं:-**

(1) **तकनीकी दशाएँ** (Technology) :– श्रम की माँग किसी उद्योग की तकनीकी दशाओं से प्रभावित होती है। यदि किसी उद्योग में श्रम की बचत करने वाली मशीनों का अधिकाधिक उपयोग हो रहा है तो वहाँ श्रमिकों की माँग कम रहती है। इसके विपरीत, यदि उद्योग में श्रम प्रधान तकनीक लगी है, तो श्रमिकों की माँग अधिक होती है।

(2) **श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग** (Demand for Products Produced by Labourers) :– श्रम की मांग, व्युत्पन्न माँग (Derived demand) होती है। यानी श्रम की माँग, उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग पर निर्भर है। यदि वस्तु की माँग अधिक है तो उस वस्तु को बनाने वाले श्रम की

NOTES

भी माँग बढ़ेगी । इसके विपरीत वस्तु की मांग कम है, तो श्रमिक की माँग घट जायेगी । अन्य शब्दों में, श्रमिक के द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग की लोच पर ही श्रमिक की माँग भी निर्भर होती है ।

(3) **उत्पादन के सहयोगी साधनों की कीमत** (Price of other Factors of Production) :– श्रम की माँग को उत्पादन में सहयोग देने वाले अन्य साधन , जैसे मशीनें आदि भी प्रभावित करते हैं । यदि इन सहयोगी साधनों की कीमत श्रमिक की मजदूरी से अधिक है तो श्रमिकों की माँग में वृद्धि हो जावेगी । इसके विपरीत यदि सहयोगी साधनों की कीमत श्रमिक की मजदूरी की तुलना में कम है तो श्रमिक की माँग कम होगी और सहयोगी साधनों की माँग अधिक होगी ।

उद्योग के लिए श्रम का माँग वक्र (Demand Curve for Labourers in a Industry) :– जिस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत किसी वस्तु का माँग वक्र होता है, ठीक उसी प्रकार मजदूरी निर्धारण के अन्तर्गत श्रमिकों का माँग वक्र भी बायें से दायें नीचे की ओर गिरता हुआ होता है । यह वक्र दर्शाता है कि मजदूरी की दर अधिक होने पर श्रमिकों की माँग कम तथा मजदूरी की दर कम होने पर श्रमिकों की माँग अधिक होती है । इसीलिये श्रम की माँग रेखा चित्र–1 की तरह बाएँ से दायीं ओर गिरती हुई दिखाई देती है । चित्र–1 से स्पष्ट है कि यदि मजदूरी की दर OW है तो श्रमिक की माँग OQ होगी । यदि किन्हीं कारणों से मजदूरी की दर घटकर OW^1 हो जाती है, तो श्रमिकों की माँग बढ़कर OQ^1 हो जावेगी ।

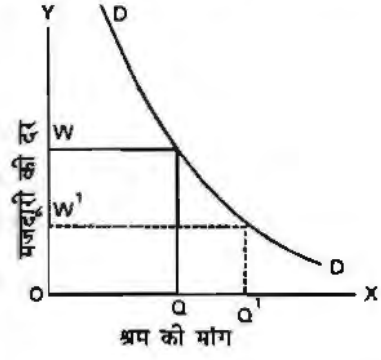

चित्र-1

श्रम की पूर्ति (Supply of Labour) :– श्रम की पूर्ति श्रमिक करते हैं । श्रम की पूर्ति का अर्थ उपलब्ध श्रमिकों की उस संख्या से है जो मजदूरी की भिन्न–भिन्न दरों पर काम करने को तैयार हैं । ऊँची मजदूरी दर पर अधिक श्रमिक तथा नीची मजदूरी पर कम श्रमिक काम करने को तैयार रहते हैं । जिस प्रकार किसी भी उत्पादक के द्वारा वस्तु का मूल्य कम से कम सीमान्त उत्पादन लागत के बराबर लिया जाता है । ठीक उसी प्रकार मजदूर भी न्यूनतम मजदूरी मिलने पर श्रम की पूर्ति करता है । अन्य शब्दों में, **श्रमिक अपने श्रम के बदले में कम से कम इतनी मजदूरी अवश्य लेना चाहेगा जो उसके परिवार का जीवन निर्वाह अथवा न्यूनतम रहन–सहन के स्तर को पूरा करने के लिये पर्याप्त हो** । इस प्रकार रहन–सहन का स्तर श्रमिक की मजदूरी अथवा पूर्ति की न्यूनतम सीमा है । इससे कम मजदूरी लेना वह कभी पसन्द नहीं करता है ।

श्रम की पूर्ति को प्रभावित करने वाले घटक
(Factors affecting Supply of Labour)

श्रम की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों को सामान्यत: निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जाता है–

(a) **आर्थिक घटक** (Economic Factors) :– यदि श्रमिक को ऊँची मजदूरी मिलती है तो वह अपनी पूर्ति बढ़ा देता है । इसके विपरीत नीची मजदूरी मिलने पर श्रमिक स्वयं की पूर्ति कम कर देता है । यह निम्न दशाओं में संभव है–

(i) **अन्य उद्योगों में मजदूरी की दर** (Wages in other Industries) :– यदि श्रमिक को किसी अन्य उद्योग में वर्तमान उद्योग की अपेक्षा ऊँची मजदूरी मिलती है तो वह पहले उद्योग को छोड़कर दूसरे उद्योग में चला जाता है जिससे पहले उद्योग में उसकी पूर्ति कम हो जाती है ।

(ii) **सामाजिक सुरक्षा और अन्य सुविधाएँ** (Social Security & Other Facilities):– यदि श्रमिक को अपने उद्योग में नौकरी की सुरक्षा, बोनस, पेन्शन और सामाजिक सुरक्षाएँ नहीं मिलती हैं, तो वह उस उद्योग में चला जायेगा जहाँ ये सुविधाएँ उपलब्ध हैं ।

(b) **अनार्थिक घटक** (Non- Economic Factors) :– श्रमिकों की पूर्ति पर अनार्थिक घटक भी प्रभाव डालते हैं– (i) श्रमिक का घर के प्रति मोह, (ii) छुट्टी की सुविधा, (iii) मालिक का अच्छा व्यवहार, (iv) कार्य के कम घण्टे, (v) उद्योग के अन्दर स्वास्थ्य का अनुकूल वातावरण, (vi) संस्कृति व सामाजिक विकास, सम्बन्धी सुविधाएँ आदि। यदि श्रमिकों को ये सुविधाएँ किसी स्थान विशेष पर मिलती हैं तो वे अन्य ऊँची मजदूरी मिलने पर भी वे अपना वर्तमान व्यवसाय नहीं छोड़ते हैं ।

(c) **अन्य घटक** (Other Factors) :– मजदूरी को प्रभावित करने वाले प्रमुख घटक काम और आराम के बीच का अनुपात भी है । यह मजदूरी को दो प्रकार से प्रभावित करता है–

(i) **प्रतिस्थापनकारी प्रभाव** (Substitution Effect) :– यदि मजदूर को अधिक मजदूरी दी जाती है तो वह आराम करने की अपेक्षा काम करना अधिक पसन्द करेगा क्योंकि अधिक मजदूरी से वह अधिक आय प्राप्त करने का प्रयास करता है । मजदूरी की वृद्धि से काम पर पड़ने वाले इस प्रभाव को हम प्रतिस्थापनकारी प्रभाव कहते हैं । **प्रतिस्थापनकारी प्रभाव** हमेशा धनात्मक होता है, अर्थात यानी मजदूरी बढ़ने पर ही श्रमिक अधिक कार्य करता है ।

(ii) **आय प्रभाव** (Income Effect) :– मजदूरी बढ़ने पर श्रमिक की आय बढ़ जाती है । चूँकि उसका जीवन स्तर लगभग स्थिर होता है । अत: आय बढ़ने के कारण वह काम करने की अपेक्षा आराम करना पसन्द करता है । इसे हम मजदूरी वृद्धि का आय प्रभाव कहते हैं । **आय प्रभाव ऋणात्मक होता है** । अर्थात बढ़ी हुई मजदूरी से श्रमिक काम के स्थान पर अधिक आराम करना पसन्द करता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मजदूरी की दर के बढ़ने से प्रारम्भ में श्रम की पूर्ति में वृद्धि होती है, अर्थात मजदूरी की दर का पूर्ति पर धनात्मक प्रभाव पड़ता है, किन्तु एक सीमा के बाद मजदूरी में वृद्धि होने से श्रम की पूर्ति बढ़ने के स्थान पर घटने लगती है, अर्थात् मजदूरी की दर का श्रम की पूर्ति पर ऋणात्मक प्रभाव पड़ता है । इस स्थिति में श्रमिकों की आय इतनी अधिक हो जाती है कि वह काम करने के स्थान पर आराम करना पसन्द करते हैं। श्रम की पूर्ति की प्रवृत्ति को रेखाचित्र–2 में दर्शाया गया है ।

रेखाचित्र–2 में SS_1 श्रम की पूर्ति रेखा है जो S बिन्दु से T बिन्दु तक ऊपर की ओर बढ़ी हुई है, अर्थात मजदूरी की दर में वृद्धि से श्रम की पूर्ति बढ़ती है, किन्तु इसके बाद पूर्ति रेखा पीछे की ओर मुड़ जाती है (T से S_1 बिन्दु तक) । यह मजदूरी का आय प्रभाव है । जो यह दर्शाता है कि बहुत अधिक मजदूरी की दर होने पर श्रमिकों की पूर्ति कम हो जाती है । रेखाचित्र में OW मजदूरी की दर पर श्रम की पूर्ति OQ रहती है । इस स्थिति में यदि मजदूरी की दर में वृद्धि होकर यह OW_1 हो जाती है, तो श्रम की पूर्ति भी OQ से बढ़कर OQ^1 के स्तर पर पहुँच जाती है , किन्तु यदि मजदूरी की दर में इससे अधिक वृद्धि होती है, अर्थात यह OW_2 हो जाती है, तो श्रम की पूर्ति OQ^1 से कम होकर OQ^2 रह जाती है ।

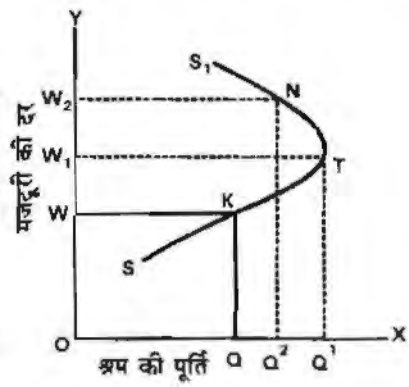

चित्र-2

मजदूरी की दर का निर्धारण (Determination of Wages) :– पूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी मांग और पूर्ति की शक्तियों के द्वारा निर्धारित होती है । किसी भी श्रमिक की माँग की उच्चतम सीमा सीमान्त उत्पादकता के द्वारा तथा श्रमिक की पूर्ति की निम्नतम सीमा जीवन स्तर के द्वारा निर्धारित होती है । **प्रो. सिल्वर मैन** ने मजदूरी की न्यूनतम सीमा जीवन स्तर न मानकर जीवन–निर्वाह को माना है ।,उन्हीं के शब्दों में "मजदूरी दो सीमाओं, जिनमें कि न्यूनतम सीमा जीवन–निर्वाह की सीमा है तथा अधिकतम सीमान्त उत्पादकता की सीमा है, के बीच श्रमिकों तथा सेवायोजकों की क्रमश: सौदा करने की क्षमता के अनुसार निर्धारित होती है । माँग एवं पूर्ति के द्वारा मजदूरी निर्धारण की प्रक्रिया को रेखाचित्र–3 के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है ।

रेखाचित्र–3 से स्पष्ट है कि E साम्य बिन्दु है जहाँ पर श्रम की माँग, श्रम की पूर्ति के बराबर रहती है। फलत: OW मजदूरी की दर होगी, जहाँ मजदूरों की माँग एवं पूर्ति OQ रहेगी, किन्तु यदि मजदूरी दर बढ़ाकर OW_1 कर दी जाती है, तो इस मजदूरी की दर पर श्रमिकों की माँग कम (W_1B) और पूर्ति अधिक (W_1C) हो जावेगी। इसके विपरीत यदि मजदूरी की दर घटाकर OW_2 कर दी जाती है तो इस मजदूरी की दर पर श्रम की माँग तो अधिक (W_2F) होगी, किन्तु पूर्ति कम (W_2T) रह जावेगी। दूसरे शब्दों में, मजदूरी की दर उस बिन्दु पर निर्धारित होगी जहाँ श्रम की माँग एवं पूर्ति बराबर हो। रेखाचित्र–3 में यह बिन्दु E है जहाँ मजदूरी EQ या WO रहती है।

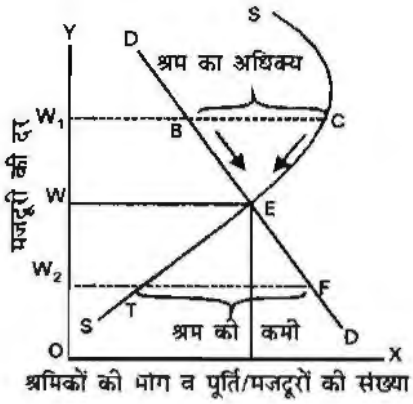

चित्र-3

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि **पूर्ण–प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी की दर उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ श्रमिकों की कुल माँग श्रमिकों की कुल पूर्ति के बराबर होती है।**

मजदूरी एवं फर्म का साम्य

(Wages and Equilibrium of a Firm)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी का निर्धारण उद्योग के द्वारा किया जाता है और इस दर को सभी फर्में स्वीकार करती हैं। इसका कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्मों की संख्या बहुत अधिक होती है तथा प्रत्येक फर्म श्रमिकों की कुल पूर्ति के एक छोटे से अंश का प्रयोग करती है। यही कारण है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक व्यक्तिगत फर्म के लिए मजदूरी की पूर्ति रेखा पूर्ण लोचदार (Perfectly Elastic) अथवा एक **क्षैतिज रेखा** (Horizontal Line) के रूप में होती है। दूसरे शब्दों में, एक फर्म के लिए मजदूरी की दर दी हुई तथा स्थिर होती है और यह फर्म के लिए **श्रम की पूर्ति रेखा** होती है।

एक व्यक्तिगत फर्म की श्रमिकों की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है। यहाँ यह तथ्य ध्यान में रखा जाना चाहिए कि सीमान्त उत्पादकता उत्पत्ति के नियमों पर आधारित रहती है, अर्थात जब उत्पत्ति वृद्धि नियम क्रियाशील होता है तथा सीमान्त आगम उत्पादकता तेजी से बढ़ती है और इसकी वक्र बायें से दायें ऊपर की ओर बढ़ता है। इसके विपरीत, जब उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होता है, तब सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र बायें से दायें नीचे की ओर गिरता हुआ होता है, अर्थात इसका ढाल ऋणात्मक होता है।

एक व्यक्तिगत फर्म अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए श्रमिकों की माँग उस सीमा तक करती है जहाँ पर फर्म की सीमान्त आगम उत्पादकता मजदूरी के स्तर के बराबर हो जाती है। दूसरे शब्दों में, फर्म की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) वक्र श्रम की माँग को बताती है तथा मजदूरी का स्तर औसत मजदूरी एवं सीमान्त मजदूरी (AW एवं MW) श्रम की पूर्ति को दर्शाती है। फर्म का साम्य उस स्थिति में होता है जहाँ सीमान्त आगत उत्पादकता एवं सीमान्त मजदूरी दोनों बराबर होती है, अर्थात MRP = MW। फर्म के साम्य को रेखाचित्र –4 अ एवं 4 ब के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

रेखाचित्र 4–अ में श्रम की कुल माँग एवं कुल पूर्ति रेखाओं के द्वारा मजदूरी निर्धारण को दर्शाया गया है। E साम्य बिन्दु है जिस पर OW मजदूरी की दर निर्धारित होती है। यह मजदूरी की दर सम्पूर्ण उद्योग द्वारा निर्धारित की जाती है तथा सभी फर्मों को इसे स्वीकार करना होता है। यही कारण है कि फर्म की औसत मजदूरी रेखा एवं सीमान्त मजदूरी रेखा क्षैतिज रेखा होती है। रेखाचित्र 4 ब में फर्म की औसत एवं सीमान्त मजदूरी की दर को AW एवं MW के द्वारा दर्शाया गया है। फर्म की औसत आगम उत्पादन को ARP एवं सीमान्त आगत उत्पादकता को MRP के द्वारा दर्शाया गया है।

फर्म का साम्य E^1 बिन्दु पर होता है जहाँ MRP = MW = ARP = AW के हैं ।यह वह स्थिति है जहाँ फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त हो रहा है ।

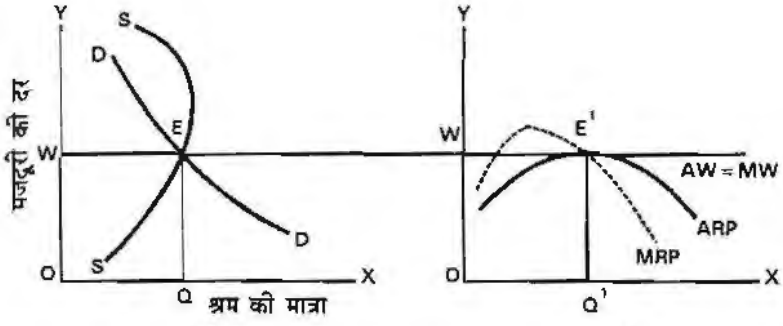

चित्र-4

यह भी उल्लेखनीय है कि दीर्घकाल में फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है, जबकि अल्पकाल में फर्म को असामान्य लाभ या हानि भी हो सकती है । यदि अल्पकाल में फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होता है तो इस असामान्य लाभ से आकर्षित होकर उद्योग में नई फर्मों का प्रवेश होगा और परिणामस्वरूप श्रमिकों की माँग बढ़ने के कारण उनकी मजदूरी (AW) भी बढ़ेगी तथा अधिक फर्मों द्वारा उत्पादन करने के कारण ARP भी कम हो जावेगी । फलत: असामान्य लाभ समाप्त हो जावेगा ।

इसके विपरीत यदि फर्म को अल्पकाल में हानि होती है तो कुछ फर्में उद्योग छोड़कर बाहर चली जाएँगी जिसके कारण श्रमिकों की माँग घट जाएगी तथा साथ ही वस्तु का उत्पादन भी घट जाएगा । इन प्रभावों का संयुक्त परिणाम ARP = MW के रूप में उपस्थित होगा जो कि दीर्घकालीन साम्य को बताता है । रेखाचित्र 4—ब में दीर्घकालीन साम्य को दर्शाया गया है जहाँ कि फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो रहा है ।

(ब) अपूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी का निर्धारण

(Wage Determination Under Imperfect Competition)

वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पाई जाती । कारण यह है कि श्रम संघ और उद्योगपति अपने—अपने संगठन बना लेते हैं । प्राय: यह देखा जाता है कि श्रम की माँग करने वाले संगठित होकर एकाधिकार का रूप ले लेते हैं, जब कि श्रम बाजार में श्रमिकों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान रहती है । इसे **क्रय एकाधिकार** (Monopsony) की स्थिति कहते हैं । **क्रय एकाधिकार की स्थिति में उद्यमियों का संगठन श्रम का अकेला खरीददार होता है और अपनी इस स्थिति के कारण वह मजदूरी की दर को परिवर्तित करने में सक्षम होता है ।** उसकी इस क्षमता के कारण औसत मजदूरी वक्र अर्थात श्रमिकों का पूर्ति वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर बढ़ा हुआ होता है । एकाधिकारी परिस्थितियों के कारण सीमान्त मजदूरी वक्र भी ऊपर की ओर बढ़ा हुआ औसत मजदूरी वक्र से ऊपर रहता है । क्रय एकाधिकार की स्थिति में मजदूरी निर्धारण को रेखाचित्र—6 में दर्शाया गया है ।

रेखाचित्र—5 में ARP वक्र औसत आगम उत्पादकता एवं MRP वक्र सीमान्त आगम उत्पादकता को दर्शाती है । AW वक्र औसत मजदूरी एवं MW सीमान्त मजदूरी की प्रवृति बताती हैं । इस स्थिति में E साम्य बिन्दु है जहाँ पर MW एवं MRP वक्र एक दूसरे को काटती हैं । अत: OW मजदूरी की दर पर उत्पादक ON श्रम की मात्रा का प्रयोग करता है ।

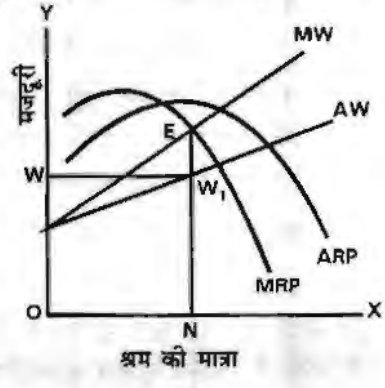

चित्र-5

NOTES

यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि मजदूरी की दर सीमान्त उत्पादकता से कम है, अर्थात साम्य की स्थिति में जहाँ मजदूरी की दर W^1N है, वहीं श्रम की सीमान्त उत्पादकता EN है । अत: इस स्थिति में EW_1 मजदूरी कम मिलती है या श्रम का शोषण होता है । संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि यदि श्रम–बाजार में क्रेता एकाधिकार की स्थिति होती है, तो वहाँ श्रम का शोषण होता है ।

मजदूरी भुगतान की रीतियाँ
(Methods of Wage Payments)

मजदूरी का भुगतान अनेक प्रकार से किया जाता है, जिनमें मुख्यत: दो रीतियाँ हैं, यथा - (अ) समयानुसार मजदूरी और (ब) कार्यानुसार मजदूरी । इनका विस्तृत विवरण निम्नानुसार है :–

(A) समयानुसार मजदूरी (Time Wages)

समय के आधार पर दी गयी मजदूरी को 'समयानुसार मजदूरी' कहते हैं । इसमें एक समान कार्य हेतु प्रत्येक मजदूर को समान मजदूरी दी जाती है, जिसमें कार्य पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है । इसमें मजदूर द्वारा किए गए कार्य का मजदूरी से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है । यह मजदूरी दैनिक, साप्ताहिक या मासिक आधार पर तय की जाती है । मजदूर चाहे काम कम करें या ज्यादा उसे निश्चित दर से समय के आधार पर मजदूरी दे दी जाती है ।

समयानुसार मजदूरी के गुण – समयानुसार मजदूरी के मुख्य गुण निम्न हैं :–

(i) **कार्य में नियमितता एवं निश्चितता** – समयानुसार मजदूरी कार्य में नियमितता एवं निश्चितता लाती है । इसमें मालिक को बार-बार नवीन मजदूरों की खोज नहीं करनी होती तथा मजदूर भी अपने कार्य के प्रति निश्चित हो जाते हैं ।

(ii) **अप्रमापीकृत कार्यों में उपयुक्त** – जिस कार्य का प्रमापीकरण सम्भव न हो और उसे ठीक प्रकार से मापना सम्भव न हो, तो वहाँ पर समयानुसार मजदूरी ही अधिक उपयुक्त मानी जाती है जैसे कि डॉक्टर, अध्यापक, मैनेजर आदि का कार्य ।

(iii) **श्रमिकों के स्वास्थ्य पर प्रभाव नहीं** – इस रीति में श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरे प्रभाव नहीं पड़ते हैं । मजदूरी एक निश्चित समय के बाद ही प्राप्त होने के कारण मजदूर को अधिक तेजी से कार्य करने का लालच नहीं रहता है, जिससे उसे थकान अनुभव नहीं होती और उसके स्वास्थ्य पर भी बुरे प्रभाव नहीं पड़ते हैं ।

(iv) **रोजगार में स्थायित्व** – इस रीति में श्रमिकों के रोजगार में स्थायित्व बना रहता है । यदि मालिक द्वारा कुछ दिनों के लिए कार्य बन्द कर दिया जाये तो भी श्रमिकों का रोजगार बना रहता है और वह रोजगार की दृष्टि से सुरक्षित बना रहता है । श्रमिक के बीमार हो जाने पर भी उसका रोजगार बना रहता है और उसे मजदूरी प्रत्येक मास मिलती रहती है ।

(v) **नाजुक कार्यों में उपयोगी** – बारीक एवं नाजुक कार्यों में समयानुसार मजदूरी अधिक उपयुक्त मानी जाती है तथा जल्दबाजी से काम नहीं किया जाता है । इसमें श्रमिक उचित समय देकर वस्तु का सही ढंग से उत्पादन करता है तथा वस्तु के गुण में वृद्धि हो जाती है ।

(vi) **समय की पाबन्दी नहीं** – समयानुसार मजदूरी में समय की कोई पाबन्दी नहीं रहती है और कार्य सावधानीपूर्वक किया जाता है तथा कार्य की गति भी एक समान बनी रहती है । इससे मशीनों की टूट-फूट नहीं होती और माल की बर्बादी भी नहीं हो पाती ।

समयानुसार मजदूरी के दोष – समयानुसार मजदूरी के मुख्य दोष निम्न हैं :–

(i) **कर्त्तव्यों की उपेक्षा** – श्रमिकों को यह ध्यान रहता है कि उन्हें एक निश्चित समय के बाद एक पूर्व निर्धारित वेतन प्राप्त हो जाएगा जिससे वे अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हुए आराम व सुस्ती से कार्य करते हैं, जिससे कुशल श्रमिकों पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं और वे भी आरामपसन्द होकर अपनी कार्यक्षमता में कमी कर लेते हैं ।

(ii) **निरीक्षण व्यय** – इस रीति में मालिक द्वारा पर्याप्त मात्रा में निरीक्षण व्यय करना होता है। श्रमिकों से ठीक काम लेने हेतु अनेक निरीक्षक रखे जाते हैं तथा इस निरीक्षण व्यय के कारण वस्तु की उत्पादन लागत बढ़ जाती है।

(iii) **अच्छे सम्बन्धों का अभाव** – इस रीति में मालिकों एवं श्रमिकों के मध्य अच्छे सम्बन्ध नहीं रहते हैं जिससे एक ओर श्रमिक अपनी मजदूरी बढ़ाने की माँग करते हैं तथा दूसरी ओर मालिकों की यह शिकायत रहती है कि श्रमिक कम काम करते हैं, इससे दोनों में मन-मुटाव होकर सम्बन्ध खराब हो जाते हैं।

(iv) **कम उत्पादन** – मालिकों को प्राय: कम काम के बदले में अधिक मजदूरी देनी होती है, जिससे श्रमिक भी आराम के साथ कार्य करते हैं तथा उनके द्वारा किया गया उत्पादन भी कम होता है।

(v) **कार्यकुशलता को प्रोत्साहन नहीं** – इसमें श्रमिकों को कार्य के आधार पर मजदूरी प्राप्त न होने से श्रमिक अधिक कुशलता के साथ कार्य नहीं करते, जिससे कार्यकुशलता को प्रोत्साहन नहीं मिलता है।

(B) कार्यानुसार मजदूरी (Piece Wages) –

यदि श्रमिक को उसके कार्य की मात्रा एवं उत्तमता के आधार पर मजदूरी दी जाती हो तो उसे कार्यानुसार मजदूरी कहते हैं। इसमें श्रमिक द्वारा किए गए कार्य की मात्रा एवं मजदूरी में प्रत्यक्ष सम्बन्ध बना रहता है। मजदूर जितना अधिक कार्य करता है उसे उसी के अनुरूप अधिक मजदूरी दी जाती है। कार्य कम होने पर उसे कम मजदूरी दी जाती है। इसमें कुशल श्रमिक अधिक कार्य करके अधिक मजदूरी प्राप्त करता है तथा अकुशल श्रमिक द्वारा कम काम किए जाने के कारण उसे कम मजदूरी प्राप्त होती है।

कार्यानुसार मजदूरी के गुण (Merits of Piece wages) – इस रीति के मुख्य गुण निम्न हैं :–

(i) **न्यायपूर्ण रीति** – यह रीति न्यायपूर्ण मानी गयी है क्योंकि इसमें श्रमिकों को अपने प्रयत्नों का पर्याप्त पुरस्कार प्राप्त हो जाता है तथा मालिकों को उत्पादन के अनुसार ही मजदूरी का भुगतान करना पड़ता है।

(ii) **अधिक उत्पादन** – इस रीति में श्रमिक अधिक उत्पादन करते हैं, तथा उन्हें अधिक मजदूरी प्राप्त हो जाती है, जिससे श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है और कम कीमत पर माल उत्पादित होने के कारण उपभोक्ताओं को भी सस्ते मूल्य पर माल प्राप्त हो जाता है।

(iii) **योग्यता व कुशलतानुसार मजदूरी** – इस रीति में प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यता व कुशलता के आधार पर मजदूरी प्राप्त होती है जिससे अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं – जैसे (अ) श्रमिक मन लगाकर कार्य करते हैं और उससे उत्पादन व्यय कम हो जाता है, (ब) कार्य के निरीक्षण के लिए निरीक्षण रखने की आवश्यकता नहीं होती और उससे निरीक्षण व्यय में बचत हो जाती है, (स) प्रत्येक मजदूर मन लगाकर अधिक मजदूरी प्राप्त करने के लालच में अधिक मात्रा में उत्पादन करने का प्रयास करता है, (द) श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन में भी वृद्धि हो जाती है।

(iv) **यंत्रों का सावधानीपूर्वक प्रयोग** – इस रीति में श्रमिक यन्त्रों व औजारों का प्रयोग सावधानीपूर्वक करते हैं क्योंकि यन्त्र के खराब होने से उत्पादन कम होकर उन्हें कम मजदूरी प्राप्त होगी।

कार्यानुसार मजदूरी के दोष (Demerits of Piece wages) – कार्यानुसार मजदूरी के मुख्य दोष निम्न हैं–

(i) **आकस्मिक घटनाओं में मजदूरी न मिलना** – दुर्घटना, बीमारी आदि आकस्मिक घटनाओं में श्रमिकों को मजदूरी प्राप्त नहीं होती है। श्रमिकों को नौकरी छूटने का भय बना रहने से उनके रोजगार में स्थायित्व नहीं रहता है।

NOTES

(ii) **बारीक व कलात्मक कार्यों में अनुपयुक्त** – यह रीति उन कार्यों में प्रयोग नहीं हो पाती जिनमें कार्य को मापना सम्भव न हो तथा बारीक व कलात्मक कार्यों में भी यह रीति उपयुक्त नहीं है।

(iii) **वस्तुओं के गुण में गिरावट** – इस रीति के कारण वस्तुओं के गुणों में गिरावट आ जाती है, क्योंकि अधिक मजदूरी व अधिक उत्पादन के लालच में श्रमिक वस्तु के गुण की उपेक्षा करते हैं तथा उसके गुण में गिरावट पर कोई ध्यान नहीं देते।

(iv) **स्वास्थ्य पर बुरे प्रभाव** – अधिक मजदूरी प्राप्त करने के लालच में श्रमिक अपनी शक्ति के बाहर कार्य करते हैं, जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं तथा कुछ ही वर्षों में उनकी कुशलता कम हो जाती है। कुशलता कम होने के साथ ही श्रमिक की उपार्जन शक्ति में ह्रास आ जाता है और उसे मजदूरी कम मिलने लगती है।

(v) **द्वेष भावनाओं को प्रोत्साहन** – इस रीति में द्वेष भावनाओं को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि जो श्रमिक अधिक कार्य करके अधिक मजदूरी प्राप्त करता है वह अन्य कुशल श्रमिकों के द्वारा द्वेष भावनाओं का शिकार हो जाता है जिससे श्रमिकों के संगठन एवं सौदा करने की सामूहिक शक्ति में ह्रास हो जाता है। इसी प्रकार मालिक भी अधिक मजदूरी प्राप्त करने वाले श्रमिकों के प्रति द्वेष रखते हैं और उसे कम मजदूरी देने का प्रयास करते हैं।

श्रम संघ एवं मजदूरी
(Trade Unions and Wages)

एक विचारधारा के अनुसार श्रम-संघ मजदूरी में वृद्धि नहीं कर पाते। यह तर्क मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर निर्भर है। यदि श्रम-संघ के कारण मजदूरी में वृद्धि हो जाए तो इसके दो परिणाम होंगे– (i) उत्पादकों का लाभ गिरेगा या (ii) वस्तु की कीमत बढ़ेगी। यदि उत्पादकों का लाभ गिरता है तो वे उत्पादन कम या बन्द कर देंगे परिणामस्वरूप श्रमिकों में बेरोजगारी फैलेगी। इसी प्रकार यदि ऊँची मजदूरी दी जाती है तो माँग में कमी होगी, जिससे उत्पादन घटकर बेरोजगारी फैलेगी। अत: यह कहा जा सकता है कि श्रम संघ अपने प्रयासों से मजदूरों में वृद्धि नहीं कर सकते।

परन्तु यह विचारधारा उचित नहीं है क्योंकि यह धारणा एकपक्षीय है, जिसमें केवल श्रमिकों की माँग पर ही ध्यान दिया जाता है, पूर्ति पर ध्यान नहीं दिया जाता, परन्तु श्रम संघ श्रमिकों की माँग व पूर्ति को प्रभावित करके मजदूरी में वृद्धि कर सकते हैं। वर्तमान समय में श्रम संघों का अधिक जोर बढ़ गया है और वह अपनी उचित माँगों के आधार पर मजदूरी में आसानी से वृद्धि कर लेते हैं।

मजदूरी में वृद्धि – श्रम संघ निम्न परिस्थितियों में मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं –

(1) **एक विशेष वर्ग हेतु मजदूरी में वृद्धि** – सामान्यतया मजदूरी में वृद्धि करना कठिन माना जाता है, परन्तु श्रम संघ मजदूरी में वृद्धि कराने में सफल हो जाते हैं। श्रम संघ श्रमिकों के एक विशेष वर्ग की मजदूरी में निम्न ढंग से वृद्धि कर सकते हैं –

(i) श्रमिकों के विशेष वर्ग की माँग बेलोचदार हो, तो श्रम संघ मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं, (ii) यदि मजदूरी कुल बिल का एक थोड़ा-सा अंश हो तो उत्पादक को विशेष प्रकार के श्रमिकों को ऊँची मजदूरी देने में कठिनाई नहीं होगी। (iii) विशेष वर्ग द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग बेलोचदार होने पर वस्तु की माँग में कोई विशेष कमी नहीं होगी। (iv) एक वर्ग के श्रमिकों की मजदूरी दूसरे वर्ग के श्रमिकों की मजदूरी की कटौती के आधार पर प्राप्त की जा सकती है।

(2) **सीमान्त उत्पादकता के बराबर मूल्य** – अपूर्ण प्रतियोगिता एवं एकाधिकार से श्रमिकों को सीमान्त उत्पादकता के बराबर पूरी मजदूरी प्राप्त नहीं होती है। अत: श्रम संघ सीमान्त उत्पादकता के पूर्ण मूल्य के बराबर मजदूरी में वृद्धि करा देते हैं।

(3) **सीमान्त उत्पादन में वृद्धि** – श्रम संघ श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि करके उनकी मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं। सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि निम्न ढंगों से सम्भव हो सकती है –

(i) श्रम संघ कल्याणकारी कार्यों में रुचि लेकर श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि करके उनकी मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं। (ii) सामूहिक शक्ति के बल पर उत्पादकों द्वारा श्रमिकों को नवीन यन्त्र प्रदान करने को बाध्य किया जा सकता है तथा कार्य की दशाओं में सुधार किया जा सकता है। इससे श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि होगी तथा मजदूरी में भारी वृद्धि होगी।

सीमाएँ (Limitations) – श्रम संघों द्वारा मजदूरी में वृद्धि कराने की कुछ सीमाएँ हैं, जिनमें से मुख्य सीमाएँ निम्नलिखित हैं –

(1) **माँग की लोच** – श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर होती है। यदि उत्पादित वस्तु की माँग अधिक लोचदार है तो ऊँची मजदूरी के कारण वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने पर भी ऊंची कीमत उपभोक्ताओं से नहीं ली जाएगी। इसके विपरीत यदि उत्पादित वस्तु की माँग बेलोचदार है तो श्रमिकों को ऊँची मजदूरी देकर उसकी कीमत उपभोक्ताओं से वसूल की जाएगी।

(2) **प्रतिस्थापन की लोच** – श्रम-संघ की सौदा करने की शक्ति प्रतिस्थापन की लोच पर निर्भर होती है। उत्पादन तकनीक में ऐसे परिवर्तन किए जा सकते हैं कि वहाँ मशीनों का प्रयोग अधिक हो तथा श्रमिकों का प्रयोग कम हो। इस प्रकार श्रमिकों को मशीन द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है। श्रमिकों का प्रतिस्थान पूँजी के अतिरिक्त श्रमिकों द्वारा भी सम्भव हो सकता है। अत: जिस सीमा तक गैर-संघीय श्रमिकों को प्राप्त किया जा सकता है, उस सीमा तक श्रम संघों का प्रभाव भी कम हो जाता है तथा उत्पादक दूसरे क्षेत्रों से भी श्रमिकों को बुला सकता है। श्रमिकों के प्रतिस्थापन की लोच जितनी अधिक होती है, उतनी ही श्रम संघों को सौदा करने की शक्ति कम हो जाती है और उन्हें मजदूरी में वृद्धि कराने में सफलता प्राप्त नहीं हो पाती है।

(3) **अन्य साधनों की पूर्ति की लोच** – श्रम-संघों की सौदा करने की शक्ति अन्य साधनों की पूर्ति की लोच पर भी निर्भर करती है। श्रमिकों को अन्य साधनों से किस सीमा तक प्रतिस्थापित किया जा सकता है, यह बात तकनीकी परिवर्तनों के अतिरिक्त दूसरे साधनों की अतिरिक्त पूर्ति की सुगमता पर भी निर्भर करती है। यदि श्रमिकों की बचत करने वाली मशीनों की सीमित पूर्ति है तो श्रम संघों के दबाव के कारण मजदूरी में वृद्धि करनी होगी। इसके विपरीत दशाओं में श्रम-संघ मजदूरी में वृद्धि नहीं कर सकेंगे।

ऊँची मजदूरी में मितव्ययिता
(Economy in High Wages)

प्राय: कहा जाता है कि नीची मजदूरी सस्ती होती है, परन्तु यह धारणा गलत है। नीची मजदूरी के कारण श्रमिकों की कार्यक्षमता कम रहती है तथा उत्पादन कम होकर उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है। मजदूरी कम देने से कुशल श्रमिकों की सेवाएँ प्राप्त नहीं हो पाती हैं और उत्पादन पर किया गया व्यय मँहगा ही होता है। अत: यह स्पष्ट है कि नीची मजदूरी वास्तव में ऊँची मजदूरी ही सिद्ध होती है। इसके विपरीत ऊँची मजदूरी के कारण श्रमिकों की कार्यक्षमता भी ऊँची होकर उत्पादन में वृद्धि हो जाती है, जिससे उत्पादन लागत कम हो जाती है। अत: ऊँची मजदूरी देने पर भी यह वास्तव में सस्ती मजदूरी होती है क्योंकि प्रति इकाई लागत व्यय कम होकर कुल लागत में कमी हो जाती है।

प्रत्येक उत्पादक अन्य व्ययों के साथ-साथ मजदूरी लागत पर भी ध्यान देता है। ऊँची नकद मजदूरी देने से यदि श्रमिक अधिक उत्पादन करते हैं तो उससे मजदूरी की लागत कम पड़ती है। इसके विपरीत यदि नीची मजदूरी नकदी में दी जाती है तो उत्पादन कम होता है, जिससे मजदूरी की लागत ऊँची होती है। अत: उत्पादक सदैव नीची मजदूरी लागत पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है।

ऊँची मजदूरी सदैव नीची मजदूरी लागत को जन्म देती है और यह सस्ती मजदूरी मानी जाती है। इसके प्रमुख कारण निम्न हैं :-

(1) ऊँची मजदूरी के कारण उत्पादक एवं श्रमिकों के मध्य अच्छे सम्बन्ध रहते हैं तथा श्रमिक भी सन्तुष्ट होने से मन लगाकर कार्य करते हैं तथा इससे उत्पादन अधिक एवं नियमित हो जाता है।

NOTES

(2) ऊँची मजदूरी से श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊँचा होकर उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है, इससे उत्पादन अधिक होकर उत्पादन लागत कम हो जाती है।

(3) ऊँची मजदूरी पर उत्पादक को श्रम-बाजार से अधिक कुशल श्रमिक प्राप्त हो जाते हैं, जिससे उत्पादन में वृद्धि होकर, उत्पादन लागत कम हो जाती है।

अत: स्पष्ट है कि ऊँची मजदूरी सदैव मितव्ययी होती है और ऊँची मजदूरी नीची मजदूरी लागत को जन्म देती है।

न्यूनतम मजदूरी
(Minimum Wages)

पूँजीवादी देशों में प्राय: मालिक मजदूरों का शोषण करके कम मजदूरी देने का प्रयास करते हैं, फलस्वरूप श्रमिकों एवं मालिकों में संघर्ष चलता रहता है, जो हड़ताल व तालाबन्दी को जन्म देता है। अत: इस स्थिति से बचने हेतु न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण किया जाता है, जिससे मालिक एवं श्रमिकों के मध्य संघर्ष समाप्त हो जाता है, औद्योगिक शान्ति का वातावरण बना रहता है तथा श्रमिक भी मन लगाकर अधिक कार्य करने के प्रयास करते हैं। काम करने वाला श्रमिक इस बात से आश्वस्त रहता है कि कार्य के बदले उसे कुछ न्यूनतम मजदूरी अवश्य ही प्राप्त होगी जिससे वह अपना जीवनयापन चला सकता है। इस सिद्धान्त को औद्योगिक देशों में मान्यता प्रदान की जाती है।

न्यूनतम मजदूरी से आशय (Concept of Minimum Wages)

न्यूनतम मजदूरी से आशय उस न्यूनतम पारितोषण से लगाया जाता है जो श्रमिकों को एक न्यूनतम जीवन-स्तर बनाए रखने हेतु आवश्यक हो, जो श्रमिकों को न्यूनतम आराम दे सकें तथा उनमें अच्छी आदतों का विकास सम्भव हो व वे आत्मसम्मान के साथ जिन्दा रह सकें। न्यूनतम जीवन-स्तर देश की परिस्थितियों एवं अन्य वातावरण पर निर्भर करता है। विकसित देशों में न्यूनतम जीवन-स्तर अविकसित देशों की अपेक्षा ऊँचा बना रहता है।

भारत सरकार की उचित मजदूरी समिति के अनुसार, "न्यूनतम मजदूरी को श्रमिक के भरण-पोषण हेतु ही न मानकर श्रमिकों की कार्यक्षमता बनाए रखने हेतु आवश्यक होना चाहिए। इसमें श्रमिकों की शिक्षा, चिकित्सा व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जानी चाहिए।"

मुख्य बातें – न्यूनतम मजदूरी के सम्बन्ध में मुख्य बातें निम्न हैं :-

(i) किसी उद्योग विशेष के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जा सकती है या देश के सभी उद्योगों के लिए एक राष्ट्रीय आधार पर न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जा सकती है।

(ii) न्यूनतम मजदूरी की दर अस्थिर रहती है और रहन-सहन की लागत में परिवर्तन के साथ-साथ न्यूनतम मजदूरी में परिवर्तन किया जा सकता है। यदि लागत में वृद्धि हो जाए तो न्यूनतम मजदूरी में वृद्धि हो जाती है।

न्यूनतम मजदूरी के उद्देश्य (Aims of Minimum Wages)

न्यूनतम मजदूरी के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं :-

(i) **शान्ति बनाए रखना** – श्रमिकों की न्यूनतम आवश्यकताओं व सुविधाओं की पूर्ति करके श्रमिकों को सन्तुष्ट करके शान्ति स्थापित की जा सकती है।

(ii) **शोषण को रोकना** – श्रमिकों में शोषण को रोककर नीची मजदूरी प्राप्त करने वाले श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाना।

न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण बदलती हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही किया जाता है।

न्यूनतम मजदूरी के आर्थिक प्रभाव
(Effects of Fixing Minimum Wages)

न्यूनतम मजदूरी के आर्थिक प्रभावों को दो भागों में रखा जा सकता है :-

(A) **उद्योग विशेष पर प्रभाव** – किसी विशेष उद्योग पर न्यूनतम मजदूरी के लाभदायक एवं हानिकारक प्रभाव पड़ते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं :–

(I) **लाभदायक प्रभाव** – किसी विशेष उद्योग में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने के लाभदायक प्रभाव निम्न प्रकार हैं :–

(i) **श्रमिक की कुशलता में वृद्धि** – न्यूनतम मजदूरी के कारण श्रमिक अधिक पौष्टिक वस्तुओं का प्रयोग करेंगे, जिससे श्रमिकों की कार्यकुशलता से वृद्धि हो जाएगी। कार्यकुशलता बढ़ने से श्रमिक अधिक उत्पादन करेंगे जिससे वस्तु की कीमत कम होगी, परन्तु प्रति इकाई श्रम लागत गिरने से श्रमिकों की माँग बढ़ेगी। व्यवहार में मजदूरी में वृद्धि वास्तव में श्रमिकों की कार्यक्षमता में कोई वृद्धि नहीं करती है।

(ii) **निर्धनों को धन का हस्तान्तरण** – न्यूनतम मजदूरी लागू होने पर यदि श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं तो 'बेरोजगारी फण्ड' से धन निकालकर श्रमिकों को आर्थिक सहायता दे दी जाती है। इस फण्ड का निर्माण धनी व्यक्तियों पर कर लगाकर किया जाता है, जिससे धनी व्यक्तियों से धन निर्धन व्यक्तियों को हस्तान्तरित हो जाता है।

(iii) **बेरोजगारी पर रोक** – न्यूनतम मजदूरी व्यवस्था लागू होने से बेरोजगारी पर रोक लग जाती है और इस सम्बन्ध में निम्न व्यवस्था है :–

(a) न्यूनतम मजदूरी विशिष्ट प्लाण्ट प्रयोग करने वाले उद्योग में लागू करने पर उत्पादन की रीतियों को सरलता से परिवर्तित नहीं किया जा सकता और श्रमिकों के रोजगार में कोई कमी नहीं आती है।

यदि उद्योग में अधिक लाभ प्राप्त हो रहे हैं, तो न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने से अधिक लाभ घटकर सामान्य स्तर पर आ जायेंगे तथा रोजगार घटने की सम्भावनायें समाप्त प्राय: हो जायेंगी।

(b) यदि मजदूरी कुल उत्पादन का अल्पांश है तो उत्पादक कीमत में वृद्धि करके क्षतिपूर्ति करेगा और श्रमिकों के रोजगार में कमी नहीं होगी।

(c) न्यूनतम मजदूरी प्रतियोगी मजदूरी से कम होने पर श्रमिकों की माँग बढ़ेगी जिससे प्रतियोगी मजदूरी में वृद्धि हो जाएगी।

(d) वस्तु की माँग अधिक बेलोचदार होने पर उत्पादक ऊँची मजदूरी के बोझ को ऊंची कीमतों के रूप में उपभोक्ताओं से वसूल करेंगे, जिससे श्रमिकों की बेरोजगारी कम होगी। इसे रेखाचित्र-6 द्वारा भी निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है :–

रेखाचित्र-6 में वस्तु की माँग लोचदार तथा श्रमिकों की माँग बेलोचदार है। चित्र में DD रेखा श्रमिकों की बेलोचदार माँग को बताती है तथा श्रमिकों की पूर्ति रेखा SS है। अत: P बिन्दु पर मजदूरी का निर्धारण होता है तथा OQ_1 श्रमिकों की मात्रा पर मजदूरी OW निर्धारित होगी। यदि न्यूनतम मजदूरी OW_1 निर्धारित कर दी जाए तो रोजगार रत श्रमिकों की संख्या OQ रहेगी। अत: इस प्रकार OQ_1 के बराबर बेरोजगारी उत्पन्न होगी।

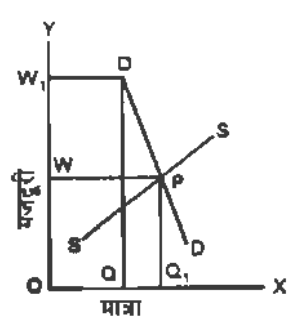

चित्र-6

(iv) **शोषण पर नियन्त्रण** – यदि किसी उद्योग विशेष में श्रमिकों का शोषण हो रहा हो तो ऐसे उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी

NOTES

लागू होने से श्रमिकों को लाभ होगा, उनका शोषण रुकेगा तथा मजदूरी में वृद्धि, बिना बेरोजगारी के हो जाएगी।

(II) **हानिकारक प्रभाव** – विशेष उद्योग में न्यूनतम मजदूरी लागू करने के हानिकारक प्रभाव निम्न प्रकार हैं :–

(i) **विभिन्न व्यवसायों में पुनर्वितरण** – यदि न्यूनतम मजदूरी इतनी ऊँची है कि कम कुशल श्रमिकों की तुलना में अन्य उद्योगों से अधिक कुशल श्रमिकों को आकर्षित किया जा सके, तो उत्पादक वर्तमान श्रमिकों को अन्य उद्योगों के श्रमिकों से प्रतिस्थापित करेंगे और ऐसी परिस्थितियों में श्रमिकों का विभिन्न व्यवसायों में केवल पुनर्वितरण ही सम्भव होगा।

(ii) **बेरोजगारी** – यदि न्यूनतम मजदूरी ऊँची निर्धारित की जाती है तो इस बात की सम्भावना रहेगी कि उद्योग विशेष में बेरोजगारी फैले। बेरोजगारी की सम्भावनाएँ निम्न प्रकार हो सकती हैं :–

(a) ऊँची मजदूरी के कारण लागत में वृद्धि होगी और उत्पादक को अधिक श्रम-बचत मशीनों का प्रयोग करना होगा। ऐसी स्थिति में बहुत-से श्रमिक बेरोजगार हो जायेंगे और सरकारी व्यय में भी पहले की अपेक्षा अधिक धन व्यय करना होगा।

(b) ऊँची न्यूनतम मजदूरी देने से उद्योग विशेष के लाभ कम होंगे जिससे कुछ सीमान्त लाभ अर्जित करने वाले कारखाने बन्द हो जायेंगे। इन उद्योगों में नवीन पूँजी का विनियोजन रुकेगा तथा उत्पादन में कमी होकर इन उद्योगों में बहुत से श्रमिक बेरोजगार हो जायेंगे।

(c) मजदूरी ऊँची करने से लागत बढ़कर कीमत में वृद्धि होगी। यदि वस्तु की माँग लोचदार है तो कीमत बढ़ने से माँग कम होगी तथा बढ़ी हुई लागत उपभोक्ताओं से वसूल नहीं हो सकेगी। माँग कम होने पर उत्पादक कम मात्रा में श्रमिकों का प्रयोग करेंगे जिससे उद्योग में बेरोजगारी फैलेगी या उन्हें अन्य उद्योगों में कम मजदूरी पर काम मिलेगा और दोनों ही अवस्थाओं में श्रमिकों की हानि होगी। यदि वस्तु की माँग अधिक लोचदार है तो श्रमिकों की माँग भी लोचदार होगी और न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण अधिक बेरोजगारी को उत्पन्न करेगा इसे निम्न चित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है :–

रेखाचित्र-7 में DD माँग रेखा व SS पूर्ति रेखा है जो F बिन्दु पर काटती है। अत: स्पर्द्धात्मक मजदूरी OW होगी तथा OQ श्रमिकों की पूर्ति होगी। यदि न्यूनतम मजदूरी OW_1 निश्चित कर दी जाए तो रोजगार की मात्रा OQ से घटकर OQ_1 रह जाती है जिससे OQ_1 के बराबर श्रमिकों में बेरोजगारी फैल जाती है।

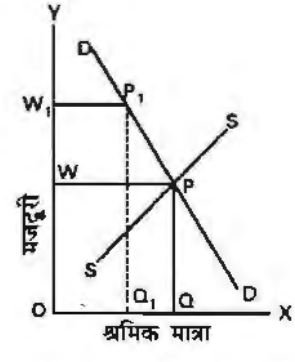

चित्र-7

अत: स्पष्ट है कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने से उद्योग विशेष में बेरोजगारी फैलती है, परन्तु इसमें कुछ समय लगेगा। उस समय तक उत्पादक उसी प्लाण्ट को कार्य में लेते रहेंगे और लगभग समान श्रमिकों को ही रोजगार देते रहेंगे, परन्तु साहसी को पूर्व की अपेक्षा कम प्रतिफल प्राप्त होगा। अत: मजदूरी में वृद्धि होने पर पर्याप्त समय बाद श्रमिकों का नौकरी से हटाया जाना सेवायोजकों की अकुशलता प्रदर्शित करेगा।

(B) सामान्य प्रभाव –

यदि न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण देश के सभी उद्योगों के लिए कर दिया जाए तो इसके निम्न लाभकारी एवं हानिकारक प्रभाव पड़ेंगे –

(I) लाभकारी प्रभाव – न्यूनतम के देशव्यापी लाभकारी प्रभाव निम्न प्रकार हैं :–

(1) इससे श्रमिकों का उचित जीवन- स्तर बनाए रखा जा सकता है, जिससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ेगी व उत्पादन बढ़कर श्रमिकों में बेरोजगारी उत्पन्न नहीं होगी।

(2) अकुशल उत्पादक, जो न्यूनतम मजदूरी नहीं दे पायेंगे, उन्हें अपने कार्य बन्द करने होंगे। उत्पादकों को नवीन यन्त्रों का उपयोग बढ़ाना होगा, जिससे उत्पादकता बढ़ेगी और औद्योगिक प्रबन्ध का स्तर ऊँचा होगा।

(3) निम्न स्तर वाले प्रतियोगी उत्पादकों की कम मूल्य पर बेचने की कार्यवाही रुकेगी और उससे ऊँचे स्तर वाले उत्पादकों की रक्षा होगी।

(4) निम्न स्तर के श्रमिकों की उच्च स्तर के श्रमिकों के साथ प्रतियोगिता समाप्त होगी और प्रतियोगिता के कारण मजदूरी में गिरावट की प्रवृत्ति समाप्त होगी।

(5) न्यूनतम मजदूरी से श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति बढ़ेगी तथा श्रमिकों का शोषण से बचाव होगा।

(II) हानिकारक प्रभाव – न्यूनतम मजदूरी के मुख्य हानिकारक प्रभाव निम्नलिखित हैं :–

(1) सेवायोजक न्यूनतम मजदूरी को अधिकतम मजदूरी मान लेते हैं और वे कुशल श्रमिकों को भी न्यूनतम मजदूरी से अधिक मजदूरी नहीं देना चाहते, जिससे श्रमिकों की कुशलता पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं।

(2) न्यूनतम मजदूरी लागू करने से व्यवहार में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनमें से मुख्य कठिनाइयाँ हैं –

(i) यह मजदूरी प्रणाली को बेलोचदार बना देता है,

(ii) राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी स्तर को निर्धारित करना भी कठिन होता है,

(iii) श्रमिक मालिकों से मिलकर बेरोजगार रहने की अपेक्षा न्यूनतम मजदूरी से कम पर भी काम करना पसन्द करते हैं,

(iv) पुरुष व स्त्री श्रमिकों के लिए भिन्न-भिन्न न्यूनतम मजदूरी तय करना कठिन हो जाता है।

(3) **व्यापक बेरोजगारी** – न्यूनतम मजदूरी निर्धारण करने से व्यापक बेरोजगारी फैलने का भय रहता है। इस बारे में मुख्य बातें निम्न हैं :–

(i) बेरोजगारी होने पर भरण-पोषण की व्यवस्था सार्वजनिक कोष से की जाएगी जिससे अधिक कर लगाने होंगे व इसका उद्योग पर अधिक भार पड़ेगा व नवीन उद्योगों की स्थापना सम्भव न हो सकेगी। इससे अधिक बेरोजगारी फैलेगी और देश गरीबी की ओर बढ़ता जाएगा।

(ii) ऊँची मजदूरी के कारण उत्पादकों के लाभों में कमी होगी। उत्पादक नवीन विधियाँ अपनाकर लाभों की कमी को पूरी नहीं करेगा जिससे उत्पादन कम होकर श्रमिकों की माँग गिरेगी तथा बेरोजगारी बढ़ेगी।

(iii) कोई भी श्रमिक न्यूनतम मजदूरी से कम पर कार्य नहीं करेगा, जिससे श्रमिकों का पुनर्वितरण सम्भव नहीं होगा और श्रमिकों को कम मजदूरी पर भी अन्यत्र रोजगार प्राप्त नहीं हो सकता। इससे श्रमिक स्थायी रूप से बेरोजगार हो जाते हैं।

(iv) ऊँची मजदूरी की लागत को कीमतों के रूप में उपभोक्ताओं से वसूल नहीं किया जा सकता, जिससे वास्तविक मजदूरी पहले के समान रह सके। इससे उत्पादन कम होगा, श्रमिकों की माँग घटेगी और बेरोजगारी फैलेगी।

(v) लाभों में कमी होने से बचत गिरेगी तथा पूँजी का संचय कम होकर विनियोग गिरेगा। इससे नये उद्योगों के स्थापित होने की सम्भावनायें कम होंगी तथा श्रमिकों को रोजगार के अवसर कम होंगे।

NOTES

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. मजदूरी किसे कहते हैं ? नकद और असल मजदूरी (मौद्रिक और वास्तविक मजदूरी) में अन्तर बताइये। असल मजदूरी के निर्धारक तत्वों को समझाइये।
   What is wages? Distinguish between nominal wages and real wages. What are the factors which determine the real wages ?
2. पूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी का निर्धारण किस प्रकार होता है ? रेखाचित्र द्वारा समझाइये।
   How are wages determined under perfect competition? Explain with the help of diagrams.
3. मजदूरी के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
   Discuss the Modern Theory of Wages.
4. अपूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी की दर किस प्रकार निर्धारित होती है ?
   How is wage rate determined under imperfect competition? Explain.
5. मजदूरी निर्धारण में श्रम-संघ की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
   Evaluate the role of Trade Unions in wage determination.
6. श्रम-संघों की सामूहिक सौदेबाजी का मजदूरी निर्धारण पर क्या प्रभाव पड़ता ? स्पष्ट कीजिए।
   How does collective bargaining of trade unions affect wage determination? Explain.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. मजदूरी के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ?
   What do you understand by Theories of Wages.
2. वास्तविक मजदूरी को निर्धारित करने वाले घटकों को समझाइये।
   Explain the factors determining real wages.
3. न्यूनतम मजदूरी के उद्देश्य बताइये।
   Explain the objectives of minimum wages.
4. न्यूनतम मजदूरी की अवधारणा क्या है ?
   What is the concept of minimum wage?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. मजदूरी कोष सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया था-
   (अ) जे. एस. मिल (ब) फिशर (स) माल्थस (द) मार्शल
   Who propounded the wages fund theory:
   (a) J. S. Mill (b) Fisher (c) Malthus (d) Marshall
2. मजदूरी अन्तर निम्न में से किसके द्वारा प्रभावित नहीं होती है-
   (अ) श्रम की माँग व पूर्ति (ब) भौगोलिक अन्तर
   (स) सामाजिक अन्तर (द) इनमें से कोई नहीं
   Wage differentials are not affected by:
   (a) Demand and supply of a labour (b) Geographical difference
   (c) Social difference (d) None of these

3. पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादक मजदूरी को-

(अ) निर्धारित करता है (ब) ग्रहण करता है

(स) प्रभावित करता है (द) प्रभावित नहीं करता है

4. न्यूनतम मजदूरी का लाभ है-

(अ) प्रतियोगिता की समाप्ति (ब) शोषण का अन्त

(स) कार्यक्षमता में वृद्धि (द) उपरोक्त सभी

5. श्रम संघ मजदूरी बढ़ाने में सफल हो जाते हैं क्योंकि-

(अ) उनमें भागने की प्रवृत्ति बढ जाती है (ब) वे अलग-अलग माँग रखते हैं

(स) उनकी सौदा करने की शक्ति बढ़ जाती है (द) उपरोक्त सभी गलत है

उत्तर- 1. (अ), 2. (अ), 3. (ब), 4. (द), 5. (स)।

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

4

ब्याज के सिद्धान्त
(THEORIES OF INTEREST)

प्रारम्भिक – राष्ट्रीय आय का वह भाग जो पूँजीपति को पूँजी के उपयोग के बदले में दिया जाता है, ब्याज कहलाता है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को ब्याज की दर कहा जाता था। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने ब्याज को भौतिक पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के रूप में माना था। प्रतिष्ठित सिद्धान्त की ब्याज का वास्तविक सिद्धान्त कहा जाता है। अत: ब्याज को पूँजी की सेवाओं का पुरस्कार माना है। संक्षेप में, पूंजी के उपयोग के बदले में जो पुरस्कार दिया जाता है, उसे ब्याज कहते हैं।

परिभाषाएँ – ब्याज की मुख्य परिभाषायें निम्न हैं –

(1) **कीन्स** – "ब्याज एक निश्चित अवधि के लिए द्रव्यता के परित्याग का पुरस्कार है।"

(2) **सेलिगमैन** – "पूँजी के कोष के बदले में मिलने वाला पुरस्कार ब्याज है।"

(3) **मेयर्स** – "उधार देने योग्य कोष के प्रयोग के बदले में दिया गया मूल्य ही ब्याज है।"

(4) **कार्वर** – "ब्याज वह आय है जो कि पूँजी के स्वामी को प्राप्त होती है।"

(5) **विक्सेल** – "ब्याज की पूँजी के उपयोग के बदने ऋणी द्वारा पूँजीपति को त्याग के बदले दिए जाने वाले भुगतान के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है।"

(6) **"मेसूरियर** – पूँजी को भुगतान किया गया पारितोषिक ही ब्याज है।"

(7) **हेनरी क्ले** – "ब्याज पूँजी के उपयोग के बदले दिया जाता है, क्योंकि पूँजी में उत्पादकता है, यह ऋण लेने वाले की पूँजी का ऋण लेकर अधिक उत्पादन कर सकता है और इसमें से कुछ भाग पूँजीपति को ब्याज के रूप में दे दिया जाता है।"

ब्याज की दर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती है, जो कि विनियोग के स्तर व मात्रा को प्रभावित करने के साथ उत्पादन, रोजगार एवं राष्ट्रीय आय को भी अनेक प्रकार से प्रभावित करती है।

शुद्ध ब्याज एवं कुल ब्याज
(Net Interest and Gross Interest)

शुद्ध ब्याज – पूँजी उधार देने वाले को प्राप्त कुल आय शुद्ध या असल ब्याज नहीं है और इसे सकल ब्याज माना जाता है। इसमें केवल पूँजी के पारितोषण को ही सम्मिलित किया जाता है। **शुद्ध ब्याज वह मूल्य है जो कि ऋण लेने वाला पूँजी की सेवाओं के बदले में देता है।** शुद्ध ब्याज पूँजी के उपयोग के बदले में दिए जाने वाले उस भुगतान को कहते हैं जो कि ऋण के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के जोखिम को सहन नहीं करता तथा ऋणदाता को पूँजी उधार देने में किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं होती और ऋण की वसूली सरलता से सम्भव हो जाती है। **शुद्ध ब्याज केवल पूँजी के उपयोग के बदले में ही दिया** जाता है तथा इसमें अन्य बातों का पुरस्कार सम्मिलित नहीं होता है।

कुल ब्याज – कुल ब्याज में शुद्ध ब्याज के अतिरिक्त अन्य व्यवस्थाओं का प्रतिफल भी सम्मिलित रहता है। **प्रो. चैपमैन** का कथन है कि कुल ब्याज में पूँजी उधार देने का पुरस्कार, हानि की जोखिम, विनियोग की असुविधाओं का पुरस्कार, विनियोग की देखभाल आदि का व्यय सम्मिलित किया जाता है।

अत: कुल ब्याज में निम्न को सम्मिलित करते हैं –

(i) **शुद्ध ब्याज** – केवल पूँजी के प्रयोग के बदले में दी जाने वाली राशि को शुद्ध ब्याज कहते हैं।

(ii) **असुविधाओं का पुरस्कार** – पूँजीपति को ऋण देने में अनेक प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पड़ता है और इनके बदले में भी पूँजीपति ऋणी से कुछ प्रतिफल प्राप्त करता है जो कि भुगतान के रूप में उसे प्राप्त होता है।

(iii) **ऋण-व्यवस्था का पुरस्कार** – पूँजीपति को ऋण-व्यवस्था करने एवं उधार राशि का हिसाब रखने व वसूल करने में लेखपाल या मुनीम पर काफी धन व्यय करना होता है और ब्याज में इसके लिए भी प्रतिफल को सम्मिलित करते हैं।

(iv) **जोखिम का पुरस्कार** – पूँजी उधार देने में पूँजीपति को कुछ जोखिम सहन करनी होती है और उसके लिए भी प्रतिफल प्राप्त किया जाता है। यह जोखिम दो प्रकार का हो सकता है –

(a) **व्यावसायिक जोखिम** – मन्दी के कारण ऋणदाता को जोखिम उठाना पड़ता है जिसे व्यावसायिक जोखिम कहते हैं। व्यवसाय की अनिश्चितता के कारण यह जोखिम उदय होती है और इसके बदले में वह कुछ न कुछ पुरस्कार प्राप्त करता है।

(b) **व्यक्तिगत जोखिम** – यह जोखिम ऋणी विशेष की आर्थिक स्थिति, चरित्र एवं ईमानदारी आदि पर निर्भर करती है। यदि ऋणी दिवालिया हो जाए तो ऋणदाता को जो जोखिम सहन करनी पड़ती है उसे व्यक्तिगत जोखिम कहेंगे। इस जोखिम के लिए भी ब्याज में पुरस्कार सम्मिलित कर लिया जाता है।

प्रो. मार्शल का कथन है कि केवल पूँजी के बदले में प्राप्त होने वाला धन शुद्ध ब्याज है। ब्याज के अतिरिक्त अन्य दूसरे तत्वों के सम्मिलित होने पर उसे कुल ब्याज कहा जाता है। **प्रो. मोरलैण्ड** का मत है कि कुल ब्याज से आशय उस समस्त धनराशि से होता है जो कि ऋणदाता को प्राप्त होती है और शुद्ध ब्याज का केवल वह अंग होता है जो कि केवल पूँजी के उपयोग के बदले में दिया जाता है। ब्याज का निर्धारण पूँजी की माँग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है।

ब्याज का सिद्धान्त
(Theories of Interest)

ब्याज निर्धारण के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :–

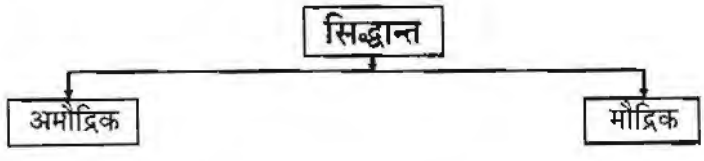

ब्याज के **अमौद्रिक** सिद्धान्तों के अन्तर्गत मुख्यत: (1) सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त, (2) ब्याज का सिद्धान्त, (3) समय पसन्दगी का सिद्धान्त, (4) **उत्पादकता** का सिद्धान्त, (5) आस्ट्रियन सिद्धान्त और (6) ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त को सम्मिलित किया जाता है। इसके विपरीत, ऋण कोष सिद्धान्त, कींस का तरलता परित्याग सिद्धान्त और ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त को **मौद्रिक सिद्धान्त** कहा जाता है। इन सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :–

(A) **अमौद्रिक सिद्धान्त** (Non Monetary Principles) – ब्याज के अमौद्रिक सिद्धान्तों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है :–

(1) ब्याज की सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त
(Marginal Productivity Theory of Interest) –

यह सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि पूँजी में उत्पादकता होती है और पूँजी से जितना भी धन उत्पन्न किया जा सकता हो वह उसका ब्याज कहलाता है। **कैरे** एवं **वान यूनेन** का विचार था कि

ब्याज की दर सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है। एक इकाई कम या अधिक लगाने पर कुल उत्पत्ति में जो अन्तर आता है उसे सीमान्त उत्पादन कहा जाता है। यदि ब्याज दर सीमान्त उत्पत्ति से कम है तो अन्य उत्पादक उद्योग में प्रवेश करेंगे, जिससे पूँजी की माँग में वृद्धि के कारण ब्याज दर भी बढ़ जायेगी। यदि ब्याज की दर सीमान्त उत्पादकता से अधिक है तो उद्योगपतियों की संख्या में कमी होने लगेगी जिससे पूँजी की माँग कम होकर ब्याज की दर गिर जाएगी। इस प्रकार ब्याज की दर सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाती है। इस सिद्धान्त में ब्याज कभी भी ऋणात्मक नहीं हो सकता।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं :-

(i) **वृद्धि समस्त साधनों के सहयोग से होना – हाब्सन** एवं **श्रीमती जोन रोबिन्सन** का मत है कि उत्पत्ति में वृद्धि सभी साधनों के सहयोग से होती है न कि किसी एक साधन की वृद्धि के कारण। अत: सीमान्त उत्पादकता का विचार ठीक नहीं है।

(ii) **ब्याज की समान रहने की प्रवृत्ति** – पूँजी की उत्पादन शक्ति के अनुसार ब्याज में भी घट-बढ़ होनी चाहिए, परन्तु व्यवहार में ब्याज की दर समान पायी जाती है।

(iii) **एकपक्षीय सिद्धान्त** – पूँजी की पूर्ति पर ही केवल ध्यान देने के कारण यह सिद्धान्त एकपक्षीय है। इस सिद्धान्त में माँग पक्ष पर कोई भी ध्यान नहीं दिया जाता है।

(iv) **अनुत्पादक कार्यों पर भी ब्याज** – ब्याज उत्पादक कार्यों के बदले ही दिया जाना चाहिए, परन्तु व्यवहार में ब्याज का भुगतान अनुत्पादक कार्यों के लिए भी किया जाता है।

(2) **ब्याज का त्याग सिद्धान्त** (Abstinence Theory of Interest) –

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सीनियर ने किया। उनके अनुसार पूँजी का संचय करने में कुछ त्याग करना पड़ता है और उस त्याग के बदले में प्राप्त पारिश्रमिक को ब्याज कहा जाता है। **सीनियर** के अनुसार "त्याग धन का निर्माण नहीं करता, बल्कि यह धन के निर्माण का अधिकार देता है, क्योंकि श्रम की भाँति इसमें भी त्याग एवं कष्ट को सहन करना पड़ता है।"

प्रो. मार्शल ने त्याग के बदले प्रतीक्षा शब्द का उपयोग किया है। **प्रो. मार्शल** का मत था कि प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रतीक्षा आवश्यक है।

आलोचनाएँ – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(i) **धनिकों द्वारा बिना त्याग के बचत** – सिद्धान्त में माना गया है कि बचाने में त्याग करना पड़ता है, परन्तु धनिक व्यक्ति बिना किसी त्याग के बचत कर सकता है।

(ii) **संचय द्वारा बचत** – यह आवश्यक नहीं है कि ब्याज त्याग के कारण ही उत्पन्न होती है। वास्तव में ब्याज प्राप्त करने के लिए उसे संचय भी करना होगा। संचय द्वारा ही बचत सम्भव हो सकती है जो कि वर्तमान बचत का आधार माना गया है।

(iii) **एकपक्षीय सिद्धान्त** – यह सिद्धान्त एकपक्षीय है जिसमें केवल पूँजी की पूर्ति पर ही ध्यान दिया गया है, जबकि माँग पक्ष पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है।

(iv) **दूरदर्शिता के कारण बचत** – कुछ व्यक्ति अपनी दूरदर्शिता के कारण भी धन की बचत करते हैं और उन्हें ब्याज की दर की चिन्ता नहीं रहती है। अत: इस संचय पर ब्याज प्राप्त नहीं करना चाहिए जो कि व्यवहार में सम्भव नहीं है।

(3) **समय पसन्दगी सिद्धान्त** (Time Preference Theory) –

प्रो. फिशर का मत था कि समय पसन्दगी के कारण ही ब्याज उदय होती है। मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्तमान सुख से अधिक सन्तुष्ट होता है और इसी कारण से वर्तमान आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है। भविष्य एवं वर्तमान के उपभोग की तुलना करने पर वर्तमान का उपभोग अधिक महत्वपूर्ण है। अत: व्यक्ति भविष्य के उपभोग पर बट्टा लगाते हैं जिसे ब्याज कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य में समय पसन्दगी का मान उसमें पायी जाने वाली व्यय करने की आतुरता पर निर्भर करता है। वर्तमान

आवश्यकताओं के लिए मनुष्य में अधिक आतुरता पायी जाती है और जितनी अधिक आतुरता होगी, समय पसन्दगी भी उतनी ही अधिक होगी। जिस व्यक्ति को धन व्यय करने की अधिक उत्सुकता होगी, उसे धन की पसन्दगी भी उतनी ही अधिक होगी।

प्रो. फिशर के अनुसार वर्तमान आय को व्यय करने की आतुरता के निम्नलिखित कारण हैं :-

(i) **आय का आकार** - धनवान में निर्धन की अपेक्षा अधिक मात्रा में समय पसन्दगी पायी जाती है जिससे ब्याज दर भी ऊँची होती है। एक निर्धन व्यक्ति वर्तमान पर व्यय करने को अधिक आतुर रहता है तथा भविष्य की ओर विशेष ध्यान नहीं देता।

(ii) **भविष्य की निश्चितता** - मनुष्य को भविष्य में अपनी आय की जितनी अधिक निश्चितता होगी उतनी ही वर्तमान आवश्यकताओं पर व्यय करने की आतुरता कम होगी। यदि भविष्य में आय की निश्चितता नहीं है तो वर्तमान में अधिक व्यय करने की आतुरता बनी रहेगी।

(iii) **व्यक्तियों का स्वभाव** - व्यक्तियों के स्वभाव पर भी धन की पसन्दगी निर्भर करती है। एक दूरदर्शी व्यक्ति भविष्य के प्रति अधिक सतर्क रहता है और वर्तमान पर व्यय करते समय भविष्य की माँग को भी ध्यान में रखता है।

(iv) **आय का समयानुसार वितरण** - आय के सम्बन्ध में अनेक सम्भावनाएँ बन जाती हैं जैसे कि (अ) आयु के साथ-साथ आय में वृद्धि होती रहे, (ब) आय मनुष्य के जीवनकाल में एक समान बनी रहे, (स) आय में आयु के साथ-साथ कमी होती रहे। यदि भविष्य में आय बढ़ने की सम्भावना हो तो वर्तमान में भी व्यय करने की आतुरता बढ़ जाती है और भविष्य की चिन्ता कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि भविष्य में आय बढ़ने की सम्भावना न हो तो भविष्य की अधिक चिन्ता हो जाएगी और वर्तमान में कम व्यय किया जाएगा।

आलोचनाएँ - यह सिद्धान्त स्वयं में पूर्ण नहीं है और इसमें अनेक कमियाँ हैं। इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(i) **क्रय शक्ति को अपरिवर्तित मानना** - फिशर ने वर्तमान एवं भविष्य के मध्य मुद्रा की क्रय शक्ति को अपरिवर्तित माना है जो कि वास्तविकता के विरुद्ध है।

(ii) **स्वभाव को स्थिर मानना गलत** - सिद्धान्त में बचत करने वालों के स्वभाव को स्थिर माना गया है जो कि समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है।

(iii) **अपूर्ण सिद्धान्त** - फिशर का सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि इसमें समय पसन्दगी पर ही ध्यान दिया गया है तथा अन्य बातों को छोड़ दिया गया है।

(iv) **अन्य शक्तियों का प्रभाव** - सिद्धान्त में माना गया है कि पूँजी की पूर्ति केवल व्यय की आतुरता एवं समय पसन्दगी पर निर्भर करती है, परन्तु यह मान्यता सर्वमान्य नहीं है क्योंकि पूँजी की पूर्ति पर अन्य शक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है।

(4) **ब्याज का उत्पादकता सिद्धांत** (Productivity Theory of Interest) -

जे. बी. का मत है कि पूँजी की सहायता से अतिरिक्त उपज प्राप्त हो जाती है, अत: पूँजी के प्रयोग करने वाले ब्याज देने को तत्पर हो जाते हैं। बाद में **जे. बी. क्लार्क** ने इसमें सुधार करके ब्याज दर के निर्धारण में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को ध्यान में रखा। इसके उपरान्त इसमें और सुधार करके शुद्ध व कुल उत्पादकता में भेद किया गया और यह माना गया कि शुद्ध उत्पत्ति ही ब्याज दर का निर्धारण करती है। वर्तमान समय में ब्याज के निर्धारण में पूँजी की मौद्रिक उत्पादकता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। अतिरिक्त पूँजी के प्रयोग करने से जो अतिरिक्त आय प्राप्त होती है उसे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कहा जाता है।

NOTES

आलोचनाएँ – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(i) **अनुत्पादक ऋणों पर ब्याज** – सिद्धान्त के अनुसार केवल उत्पादक ऋणों पर ही ब्याज ली जानी चाहिए, परन्तु व्यवहार में अनुत्पादक ऋणों पर भी ब्याज ली जाती है।

(ii) **सीमान्त उत्पादकता को मापना कठिन** – व्यवहार में सीमान्त उत्पादकता को मापना कठिन है और इस प्रकार ब्याज दर का निर्धारण करना सम्भव नहीं हो पाता।

(iii) **भिन्न-भिन्न सीमान्त उत्पादकता** – पूँजी की सीमान्त उत्पादकता भिन्न-भिन्न व्यवसायों में भिन्न-भिन्न होती है जिससे ब्याज दर भिन्न-भिन्न होनी चाहिए, परन्तु व्यवहार में ब्याज दर को समान रखा जाता है।

(iv) **माँग पक्ष पर बल** – सिद्धान्त में केवल माँग पक्ष पर ही ध्यान दिया गया है जबकि पूर्ति पर भी ध्यान जरूरी था। वर्तमान समय में ब्याज का निर्धारण माँग एवं पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा किया जाता है न कि केवल माँग के आधार पर।

(5) **ब्याज का आस्ट्रियन सिद्धान्त** (Agio-Theory of Interest) –

यह सिद्धान्त 1834 में **जॉन रे** द्वारा प्रतिपादित किया गया, परन्तु इसे वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत करने का श्रेय **बॉम बावर्क** को है। इसे मनोविज्ञान पर आधारित किया गया है। मनुष्य द्वारा भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को अधिक महत्व दिया जाता है और इसी कारण से ब्याज की उत्पत्ति होती है। ऋण देने के कारण मनुष्य की तरलता में कमी हो जाती है और उपभोग को स्थगित करना पड़ता है और इसी का पुरस्कार ब्याज है। भविष्य अनिश्चित होने के कारण राशि उधार देने में कुछ बट्टा लग जाता है जिसे ऋणी से वसूल करते हैं। यही पारितोषिक (Agio) ब्याज के रूप में प्राप्त होता है। इसमें उत्पादक एवं अनुत्पादक दोनों ऋणों पर ब्याज का निर्धारण किया जाता है। इसमें पूँजीपति को अपनी पूँजी पर ब्याज प्राप्त होती है।

आलोचनाएँ – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(i) **भावी आवश्यकताओं पर कम ध्यान** – वर्तमान आवश्यकतायें भावी आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं जिससे भावी आवश्यकताओं को कम मूल्यांकित किया गया है।

(ii) **वर्तमान को अधिक महत्व** – वर्तमान वस्तुओं में भविष्य की अपेक्षा अधिक उपयोगिता होने के कारण वर्तमान आवश्यकताओं को ही अधिक महत्व दिया गया है।

(iii) **भविष्य अनिश्चित होना** – भविष्य अनिश्चित होने के कारण भविष्य के बारे में कुछ भी कहना सम्भव नहीं हो पाता।

(6) **ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त** (Classical Theory of Interest) –

ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त को बचत-विनियोग सिद्धान्त (Saving and Investment Theory of Interest) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त की व्याख्या रिकार्डो, पीगू एवं मार्शल ने की है। बाद में **प्रो. टॉजिग, नाइट, कैसल** एवं **वालरस** ने इसकी पुष्टि की। इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि ब्याज के निर्धारण में **उत्पादकता** तथा **मितव्ययिता** जैसे तत्वों पर जोर दिया गया है। इस सिद्धान्त को **ब्याज की माँग व पूर्ति का सिद्धान्त** भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त में पूँजी की माँग एवं पूर्ति पर जोर दिया गया है :-

(a) **पूँजी की माँग** – पूँजी की माँग उत्पादक द्वारा की जाती है, जो इसके द्वारा अधिक धन उत्पन्न कर सकता है। पूँजी की माँग पूँजी की उत्पादकता के कारण उदय होती है। पूँजी के अधिकाधिक प्रयोग करने पर उसकी उत्पादकता कम होती जाती है और ब्याज उत्पत्ति के मूल्य के बराबर हो जाता है। ऊंची

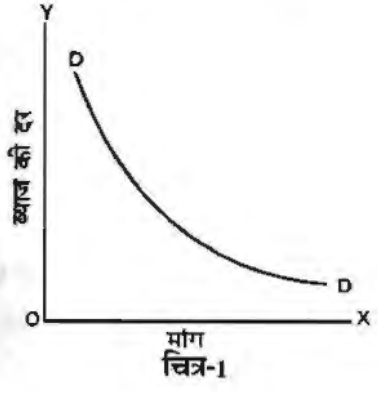

चित्र-1

ब्याज दर पर पूँजी की माँग कम हो जाती और ब्याज दर नीची होने पर माँग बढ़ जाती है। इसी कारण से पूँजी की माँग एवं ब्याज की दर में उल्टा सम्बन्ध होता है और पूँजी की माँग रेखा बाएँ से दाएँ को नीचे की ओर गिरती जाती है। (चित्र-1)

(b) **पूँजी की पूर्ति** – पूँजी की पूर्ति सदैव बचत की मात्रा पर निर्भर रहती है। बचत हेतु ब्याज का प्रोत्साहन होना आवश्यक है। रुपया उधार उसी समय दिया जाएगा जबकि त्याग का पुरस्कार प्राप्त हो। ब्याज एवं पूँजी की पूर्ति में कार्यात्मक सम्बन्ध होता है। ब्याज की दर ऊँची होने पर पूर्ति कम हो जाती है। इसी कारण से पूर्ति रेखा बायीं ओर से दायीं ओर चली जाती है। चित्र-2 में SS पूँजी की पूर्ति रेखा को दर्शाया गया है।

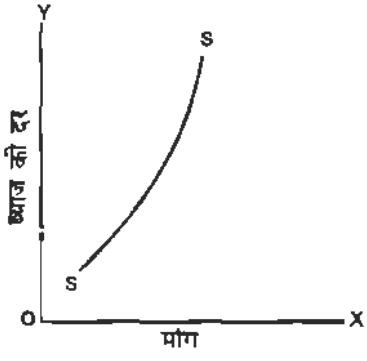

चित्र-2

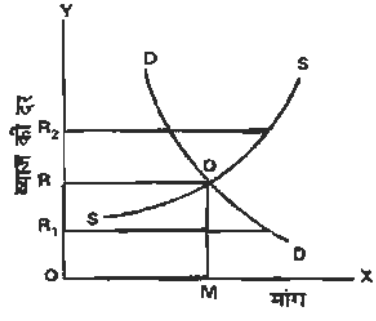

चित्र-3

(c) **ब्याज दर का निर्धारण** – ब्याज का निर्धारण उस बिन्दु पर हो जाता है जहाँ पर कुल बचत एवं विनियोग का सन्तुलन हो जाता हो। यदि बचत की मात्रा विनियोग की मात्रा से अधिक है तो ब्याज दर कम होगी जिससे पूँजी की माँग बढ़ेगी परन्तु बचत की मात्रा कम हो जाएगी। इस प्रकार बचत कम होने से विनियोग की माँग अधिक होने के कारण कुछ समय पश्चात् कुल बचत विनियोग बराबर हो जायेंगे। यदि ब्याज का निर्धारण माँग व पूर्ति सन्तुलन पर न हो तो यह व्यवस्था अल्पकालीन ही रहती है और बाद में यह पुनः माँग व पूर्ति के साम्य पर स्थिर हो जाती है। चित्र-3 में DD माँग रेखा एवं SS पूर्ति रेखा है और दोनों एक-दूसरे को O बिन्दु पर काटती है, जिससे ब्याज दर OR निर्धारित होती है। यदि किसी कारण से ब्याज दर OR_1 होती है तो इस ब्याज दर पूंजी की मांग पूर्ति से अधिक रहती है जिससे ब्याज दर में वृद्धि होती है और वह बढ़ कर OR हो जाती है। इसी प्रकार यदि ब्याज दर OR_2 हो जाती है तो इस ब्याज दर पर मुद्रा की मांग कम एवं पूर्ति अधिक रहती है जिससे ब्याज दर पुनः कम हो कर OR रह जाती है। अतः ब्याज की साम्य दर OR ही रहती है जिस पर विनियोग की माँग और बचतों की पूर्ति दोनों बराबर होते हैं।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न है :-

(i) **आय स्तर में परिवर्तन द्वारा साम्य** – बचत एवं विनियोग में साम्य की स्थापना ब्याज दर के फलस्वरूप न होकर आय स्तर के परिवर्तनों द्वारा सम्भव हो पाती है।

(ii) **विनियोग की अवहेलना** – ब्याज की दर के निर्धारण में विनियोग का स्थान महत्वपूर्ण होता है, परन्तु इस सिद्धान्त में उसके महत्व को भुला दिया गया है।

(iii) **ब्याज द्रवता के त्याग का पुरस्कार** – सिद्धान्त में ब्याज को उपभोग से विरत रहने का पुरस्कार माना है जबकि ब्याज उसे प्राप्त होता है जो अपने नकद साधनों का परित्याग करता है।

(iv) **सन्तुलन का अभाव** – आलोचकों का मत है कि ब्याज दर का निर्धारण बचत एवं विनियोग के मध्य सन्तुलन द्वारा स्थापित नहीं हो पाता है।

NOTES

(v) **मूल्य सूचक के रूप में उपेक्षा** – सिद्धान्त में मुद्रा के मूल्य सूचक की उपेक्षा की गयी है जिससे सिद्धान्त में त्रुटि पायी जाती है।

(vi) **अयोग्य अनुमान** – सिद्धान्त में जिस ढंग से ब्याज की व्याख्या की गयी है वह अयोग्य अनुमान है।

(vii) **बैंक साख की उपेक्षा** – सिद्धान्त में बैंक साख की उपेक्षा की गयी है जबकि वर्तमान में इसका अधिक महत्व है।

(viii) **ब्याज लोच का अभाव** – ब्याज दर एवं विनियोग में माँग का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप से पाया जाता है, जिससे विनियोग में ब्याज लोच का अभाव पाया जाता है।

(B) **मौद्रिक सिद्धान्त** (Monetary Principles) –

ब्याज के मौद्रिक सिद्धान्त में निम्न को सम्मिलित करते हैं :–

(7) ऋण कोष सिद्धान्त या ब्याज का नया प्रतिष्ठित सिद्धान्त

(Loanable Fund Theory or New Classical Theory of Interest) –

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन **प्रो. विक्सेल** ने किया और बाद में **ओहलिन एवं लिन्डले** ने इसमें संशोधन किए। वास्तव में ऋण कोष सिद्धान्त पुराने प्रतिष्ठित सिद्धान्त पर एक सुधार है। इसमें पूर्ति पक्ष में न केवल चालू आय से बचत, वरन् बैंक साख व अविनियोजन को भी सम्मिलित करते हैं। इसके अनुसार **ब्याज की दर का निर्धारण उधार देय कोष की माँग एवं पूर्ति पर निर्भर करता है**। ब्याज दर के निर्धारण में मुद्रा का संचय तथा असंचय करना, बैंकों द्वारा मुद्रा का सृजन, मुद्रा-ऋण की माँग आदि भी ब्याज दर के निर्धारण में सहायक सिद्ध होती है।

इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज बचत करने का प्रतिफल नहीं है, वरन् यह उधार देय कोष के उपयोग के बदले में दिये जाने वाला प्रतिफल है। उधार देय कोष एवं बचतों में अन्तर होता है। सम्पूर्ण बचतों को उधार नहीं दिया जाता, वरन कुल बचतों के एक हिस्से को अपने पास रखकर व्यक्ति शेष राशि को उधार देता है। इसके साथ ही व्यक्ति अपनी भूतकालीन बचतों को भी उधार देते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उधार देय कोषों की पूर्ति एवं मांग निम्न तत्वों से निर्धारित होती है:–

(a) उधार देय कोष की पूर्ति –

उधार देय कोष की पूर्ति निम्न साधनों से होती है :–

(i) **पिछली बचतों का असंचय** – पिछली संचय बचतों का असंचय करने पर पूर्ति में वृद्धि हो जाती है। यह वृद्धि उस समय अधिक होती है जबकि ब्याज की दर बढ़ जाती है।

(ii) **बचतें** – व्यक्तियों एवं फर्मों द्वारा प्राप्त धन को व्यय न करके बचत करके रखा जाता है तो उधार देय कोष की पूर्ति में वृद्धि होती है।

(iii) **बैंक साख** – बैंकों द्वारा साख का निर्माण करके भी उधार देय कोष की पूर्ति जा सकती है।बैंक की साख व्यक्तियों की जमा करने की शक्ति पर निर्भर करती है जो कि बचत ही होती है।

(iv) **अन्य साधन** – उधार देय कोष की मात्रा घिसावट कोष, सामान्य कोष आदि पर निर्भर करती है। उधार देय कोष की पूर्ति आर्थिक नीति द्वारा भी निर्धारित की जाती है जो जनता की व्यय करने की आदतों पर प्रभाव डालती है।

(b) उधार देय कोष की माँग –

उधार देय कोष की माँग निम्न स्रोतों से की जाती है :–

(i) **संचय हेतु माँग** – उधार देय कोष की माँग मुद्रा को संचय करके रखे जाने वाले व्यक्तियों द्वारा की जाती है।

(ii) **उपभोक्ता द्वारा माँग** – यदि उपभोक्ता अपनी वर्तमान आय से अधिक व्यय करते हैं तो वे उधार देय कोष की माँग करने लगते हैं। जो व्यक्ति अपनी भावी आय को वर्तमान आय में परिवर्तित करना चाहते हैं वे उसके लिए ब्याज देने को तत्पर हो जाते हैं।

(iii) **उत्पादकों द्वारा माँग** – उत्पादक उधार देय कोषों की माँग पूँजीगत यंत्रों को क्रय करने के लिए करते हैं। कम ब्याज दर पर विनियोग योग्य कोष की माँग अधिक होगी।

(iv) **सरकार द्वारा माँग** – सरकार भी युद्ध एवं संकटकाल में तथा विकास कार्यों के लिए उधार देय कोषों की माँग करती है।

व्यक्तिगत बचतों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी बचतें होती हैं। यह दूसरी प्रकार की बचतें फर्मों द्वारा की जाती हैं।

ब्याज दर का निर्धारण – ब्याज उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जहाँ पर कुल उधार देय कोषों की माँग उसकी कुल पूर्ति के बराबर हो। इस सिद्धान्त को रेखाचित्र 4-A, जिसमें कुल उधार देय कोषों की मांग एवं पूर्ति और रेखाचित्र 4-B, जिसमें अलग-अलग क्षेत्रों की मांग-पूर्ति को दर्शाया गया है, के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

रेखाचित्र 4-A में उधार देय कोष की मांग एवं पूर्ति को अलग-अलग क्षेत्रानुसार दर्शाया गया है। रेखाऐं *II* विनियोग हेतु, *GC* सरकार द्वारा एवं *HH* संचय हेतु उधार देय कोष की मांग को दर्शाती है। इसी प्रकार रेखाऐं *DH* असंचय, *DI* अविनियोग, *SS* बचतें एवं *BM* बैंक साख के द्वारा उधार देय कोष की पूर्ति को दर्शाती हैं।

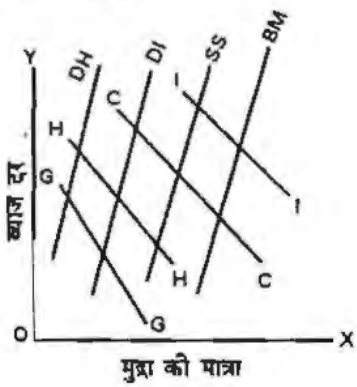

चित्र-4-A

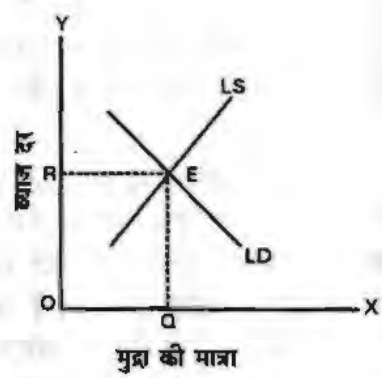

चित्र-4-B

रेखाचित्र 4-B में सम्मिलित रूप में उधार देय कोषों की मांग एवं पूर्ति को दर्शाया गया है। वक्र *LS* कुल उधार देय कोषों की पूर्ति एवं वक्र *LD* कुल मांग को दर्शाता है। *E* साम्य बिन्दु है जहां मांग और पूर्ति बराबर हैं। इस बिन्दु पर ब्याज की दर *OR* या *EQ* निर्धारित होती है जिस पर उधार देय कोषों की मांग एवं पूर्ति बराबर रहती है।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं :–

(i) **अनिश्चित ब्याज दर** – इसमें ब्याज की दर अनिश्चित रहती है क्योंकि हमें बचतों को ज्ञात करना होगा जो स्वयं ब्याज दर पर निर्भर हैं। ब्याज की दर ही विनियोग तथा आय के स्तर को प्रभावित करके बचत को प्रोत्साहित करती है।

(ii) **आय के स्तर को स्थिर मानना गलत** – सिद्धान्त में आय के स्तर को स्थिर माना गया है जो कि गलत है।

(iii) **विनियोग के प्रभाव की उपेक्षा** – यह सिद्धान्त विनियोग के प्रभाव की उपेक्षा करता है जो कि उचित नहीं है।

(8) **कीन्स का तरलता पसन्दगी सिद्धांत** (Liquidity Preference Theory of Keynes) – इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज मुद्रा की माँग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। मुद्रा की माँग का अर्थ मुद्रा को नकद रूप में रखना है तथा मुद्रा की पूर्ति का अर्थ प्राप्त मुद्रा की कुल मात्रा से है। यदि ऐसी स्थिति हो कि धन को नकदी के रूप में न रखकर अन्य रूपों में रखना अधिक हितकर होगा, तो हमारी नकदी की माँग कम हो जाती हैं।

तरलता से आशय धन को नकद रूप में रखने से है और धन को रखने का तरल रूप मुद्रा ही है। व्यक्ति को यह निर्णय करना होता है कि वह अपनी बचत को किस रूप में रखे। जब वह अपनी बचत किसी अन्य व्यक्ति को देता है, तो उसे तरलता का त्याग करना पड़ता है और उसके बदले में वह ब्याज पुरस्कार के रूप में चाहता है। अत: ब्याज तरलता के त्याग का ही पुरस्कार है।

तरलता पसंदगी के कारण

प्रत्येक व्यक्ति की तरलता पसन्दगी के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :–

(i) **दूरदर्शिता उद्देश्य** (Precaution Motive) – प्रत्येक व्यक्ति भविष्य की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए अपने पास कुछ मुद्रा रखना पसन्द करता है जिससे ब्याज दर प्रभावित नहीं होती है।

(ii) **सौदा उद्देश्य** (Transaction Motive) – प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक अंश दैनिक कार्यों एवं भुगतानों के लिए रखता है, जिसे सौदा उद्देश्य कहते हैं। इस पर ब्याज की दर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(iii) **सट्टा उद्देश्य** (Speculation Motive) – अनेक व्यक्ति भविष्य में ब्याज की दरों में होने वाले परिवर्तनों से लाभ उठाने हेतु मुद्रा को नकदी में अपने पास रखते हैं जिसे सट्टा उद्देश्य कहते हैं।

सौदा उद्देश्य, सावधानी उद्देश्य एवं सट्टा उद्देश्य मिलकर मुद्रा की माँग का निर्धारण करते हैं। इनमें से सौदा उद्देश्य एवं सावधानी उद्देश्य के लिए मुद्रा की माँग स्थिर होती है। इसलिए इनका ब्याज दर पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है, किन्तु अकेला सट्टा उद्देश्य ब्याज दर को सर्वाधिक प्रभावित करता है।

तरलता पसन्दगी रेखा (Liquidity Preference Curve) :– तरलता पसन्दगी रेखा (L.P.Curve) ब्याज की भिन्न–भिन्न दरों पर भिन्न–भिन्न मात्रा में मुद्रा की माँग को प्रदर्शित करती है। यह रेखा दर्शाती है कि जब ब्याज दर अधिक होती है, तब मुद्रा की माँग कम एवं जब ब्याज दर कम होती है तब, मुद्रा की माँग अधिक होती है। कींस का कथन है कि ब्याज दर तथा मुद्रा की माँग में उल्टा या विपरीत सम्बन्ध है, अर्थात ब्याज दर नीची होने पर अधिक मुद्रा माँगी जाती है। इसके विपरीत ब्याज दर ऊँची होने पर मुद्रा की माँग कम रहती है। इसे रेखाचित्र–1 के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

रेखाचित्र–5 के अनुसार ब्याज दर ऊँची (OK या 10%) होने पर मुद्रा की माँग नीची (OQ या 100 रु.) होती है। इसके विपरीत ब्याज दर नीची (O_1K_1) या 3% होने पर मुद्रा की माँग अधिक (OQ_1 या 300 रु.) होती है।

तरलता ट्रेप (Liquidity Trap) यह ध्यान रहे कि ब्याज दर एक बिन्दु (रेखाचित्र में K_1Q_1 या 3%) से नीचे नहीं गिरती है, क्योंकि ब्याज दर कम होने पर लोग यह सोचते है कि नकद धन उधार देने की तुलना में उसे अपने पास रखना अच्छा है। चित्र में K_1S तक की रेखा आधार रेखा के समानान्तर है। इस दशा में लोग अपने पास से कुछ भी उधार नहीं देते हैं। इस दशा को कींस ने उधार बन्दी (Credit Dead lock) कहा है। इससे मुद्रा की पूर्ति OQ_2 होने

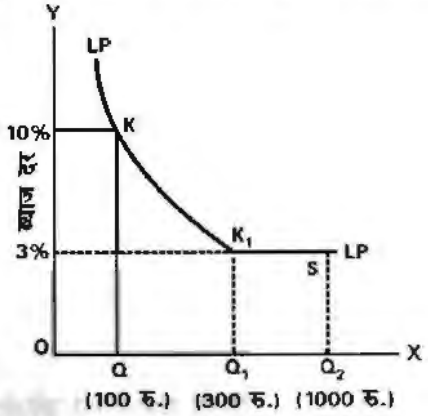

चित्र-5

पर भी ब्याज दर Q_2 S (3%) ही रहती है । अत: K_1S की दूरी को कींस ने तरलता ट्रेप (Liquidity Trap) कहा है । रेखाचित्र में LP रेखा मुद्रा की माँग को दर्शाती है ।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money) :– प्रत्येक देश की सरकार एवं वहाँ की केन्द्रीय बैंक को मुद्रा जारी करने का एकाधिकार होता है। किसी समय विशेष में मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहती है । इसे आधार रेखा पर एक खड़ी रेखा के रूप में प्रदर्शित किया जाता है, जैसा कि रेखाचित्र–6 से स्पष्ट है–

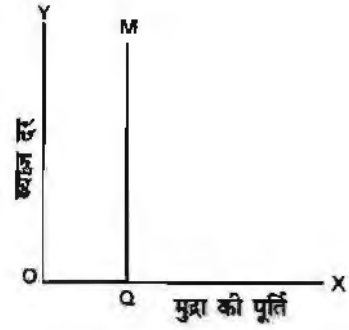

चित्र-6

चित्र में मुद्रा की पूर्ति को रेखा QM द्वारा दर्शाया गया है । मुद्रा की पूर्ति पर ब्याज दर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । कारण यह है कि मुद्रा की पूर्ति सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा की जाती है । यही कारण है कि मुद्रा की पूर्ति रेखा का स्वरूप लम्बाकार होता है ।

ब्याज दर का निर्धारण (Determination of Rate of Interest) :– कींस के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहाँ मुद्रा की माँग एवं मुद्रा पूर्ति बराबर होती है । रेखाचित्र–7 में मुद्रा की माँग और पूर्ति के साम्य को दर्शाया गया है ।

रेखाचित्र–7 में LP तरलता रेखा या मुद्रा की माँग एवं QM मुद्रा की पूर्ति रेखा । ये रेखाएँ एक–दूसरे को E बिन्दु पर काटती हैं । यह साम्य बिन्दु है, जिस पर OR ब्याज दर निर्धारित होती है ।

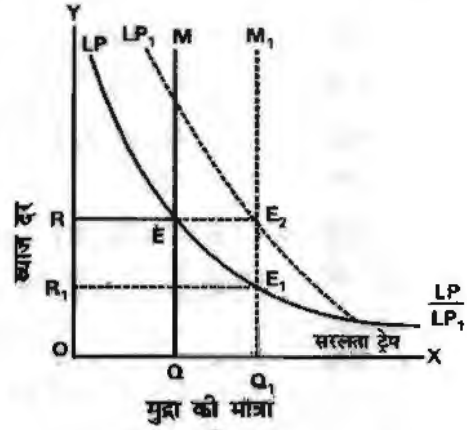

चित्र-7

मान लें कि मुद्रा की पूर्ति QM से बढ़कर Q_1M_1 हो जाती है तथा मुद्रा की माँग या LP रेखा में कोई परिवर्तन नहीं होता । इस स्थिति में साम्य परिवर्तित होकर E_1 हो जाता है और परिणामस्वरूप ब्याज दर घटकर OR_1 रह जाती है, अर्थात **मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने से ब्याज दर में कमी होती है ।**

अब यदि मुद्रा की पूर्ति के साथ–साथ तरलता पसन्दगी या मुद्रा की माँग में भी वृद्धि होती है, अर्थात LP के स्थान पर LP_1 माँग रेखा होती है । इस स्थिति में साम्य E_2 बिन्दु पर होता है । इस नए साम्य पर पुन: ब्याज दर OR_1 से बढ़कर OR हो जाती है तथा मुद्रा की माँग एवं पूर्ति OQ_1 रहती है । अत: यह स्पष्ट है कि ब्याज दर का निर्धारण तरलता रेखा (मुद्रा की माँग) एवं मुद्रा की पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है ।

सिद्धान्त की विशेषतायें (Features of the Theory) –

इस सिद्धान्त की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं :–

(i) **बचत एवं विनियोग के मध्य संतुलन** – इस सिद्धान्त द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थव्यवस्था में ब्याज के घटने-बढ़ने का बचत एवं विनियोग के सन्तुलन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है । यह प्रभाव आय एवं रोजगार के घटने एवं बढ़ने से पड़ता है ।

(ii) **समस्त अर्थव्यवस्था पर लागू** – यह सिद्धान्त समस्त प्रकार की अर्थव्यवस्था पर लागू होता है ।

(iii) **प्रावैगिक सिद्धान्त** – इस सिद्धान्त में भविष्य की अनिश्चितता ही मुख्य तत्व है जिससे यह प्रावैगिक दशा का प्रतीक है ।

NOTES

(iv) **विशुद्ध मौद्रिक घटना** – कीन्स ने ब्याज को विशुद्ध मौद्रिक घटना माना है जिससे ब्याज दर को बैंक द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है।

(v) **आर्थिक नीति अपनाना सरल** – इसके आधार पर देश में रोजगार एवं आय के लिए उचित आर्थिक नीति को सरलता से अपनाया जा सकता है।

आलोचनाएँ – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(i) **अनिश्चित सिद्धान्त** – हेन्सन का मत है कि यह सिद्धान्त भी अनिश्चित है, परन्तु मुद्रा की माँग क्या होगी, यह निश्चित नहीं है।

(ii) **संकुचित एवं संकीर्ण क्षेत्र** – सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि वस्तु विनिमय वाली अर्थव्यवस्था में ब्याज दर का निर्धारण किस प्रकार होगा, जिससे यह सिद्धान्त भी संकुचित एवं सीमित है।

(iii) **तरलता एवं अतरलता में भेद सम्भव नहीं** – आलोचकों का मत है कि तरलता एवं अतरलता में भेद करना सम्भव नहीं है जिसे **कीन्स** ने मान लिया है।

(iv) **मुद्रा का अस्पष्ट अर्थ** – सिद्धान्त में मुद्रा का अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया है क्योंकि कहीं पर साख को मुद्रा में सम्मिलित किया है और कहीं पर नहीं किया गया है।

(v) **पूँजी की उत्पादकता के कारण ब्याज** – ब्याज केवल तरलता से वंचित होने के कारण ही उदय नहीं होती, बल्कि पूँजी की उत्पादकता के कारण उदय होती है।

(vi) **सीमित दृष्टिकोण – कीन्स** का दृष्टिकोण सीमित एवं संकुचित है जिसमें तरलता को केवल हीन उद्देश्य ही माना गया है।

(vii) **अनियमितता – कीन्स** के सिद्धान्त में अनियमितताएँ पायी जाती हैं क्योंकि अनेक बातों को स्वयं ही विरोध सिद्धान्त में दिया गया है।

आलोचनायें – कीन्स के ब्याज सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न प्रकार हैं :-

(i) ब्याज के निर्धारण में वास्तविक तत्वों की उपेक्षा की गई है।

(ii) ब्याज दर का निर्धारण निश्चित रूप से सम्भव नहीं हो पाता है।

(iii) बचतों के बिना तरलता सम्भव नहीं है।

ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त
(Modern Theory of Interest)

ब्याज दर के उपर्युक्त वर्णित सिद्धान्तों में से कोई भी ब्याज-दर की सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। हाल ही के कुछ वर्षों में **प्रो. हिक्स** (Hicks) एवं **प्रो. लरनर** (Lerner) जैसे अर्थशास्त्रियों ने इन सिद्धान्तों से (विशेषकर क्लासिकल एवं केन्जियन सिद्धान्तों से) कुछ महत्वपूर्ण अंशों को निकालकर उन्हें एक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इसे ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त ने बचत, निवेश, तरलता-अधिमान एवं मुद्रा-पूर्ति जैसे चार परिवर्ती तत्वों (variables) को एक सुविलयित सिद्धान्त (well-integrated theory) में संयोजित कर दिया है। इससे पूर्व ऋणयोग्य कोष सिद्धान्त ने भी इन चारों तत्वों को विलयित करने का प्रयास किया था। लेकिन यह प्रयास सफल सिद्ध नहीं हुआ। आधुनिक सिद्धान्त ने यह कार्य प्रशंसनीय ढंग से सम्पन्न किया। इस सिद्धान्त ने मौद्रिक एवं गैर-मौद्रिक (अथवा वास्तविक) तत्वों को संयोजित करके ब्याज-दर के निर्धारण की व्याख्या प्रस्तुत की है। क्लासिकल सिद्धान्त ने ब्याज-दर के निर्धारण की व्याख्या प्रस्तुत करते समय केवल **वास्तविक तत्वों** (अर्थात् **वास्तविक बचत एवं वास्तविक निवेश**) को ही महत्व दिया था। इसके विपरीत, केन्स के सिद्धान्त ने केवल मौद्रिक तत्वों (अर्थात् तरलता-अधिमान एवं मुद्रा-पूर्ति) को ही महत्व प्रदान किया था। **आधुनिक सिद्धान्त ब्याज-दर के निर्धारण की व्याख्या करते समय मौद्रिक एवं वास्तविक, दोनों**

प्रकार के तत्वों को महत्व देता है। अत: आधुनिक सिद्धान्त ब्याज के क्लासिकल सिद्धान्त में केन्जियम सिद्धान्त, दोनों का ही सम्मिश्रण है।

आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार आय-सहित ब्याज-दर के चार निर्धारक हैं। ये चार निर्धारक इस प्रकार हैं – **बचत-क्रिया** (saving function), **निवेश-क्रिया** (investment function), **तरलता-अधिमान क्रिया** (liquidity preference function) एवं मुद्रा-**पूर्ति**। क्लासिकल सिद्धान्त के अनुसार, ब्याज की दर बचत एवं निवेश का समीकरण करती है। यह विचार वास्तव में तर्कसंगत ही है। केन्स के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर नकदी की माँग (अर्थात् तरलता अधिमान) एवं नकदी की पूर्ति में सन्तुलन स्थापित कर देती है। यह विचार भी उचित ही है। यदि बचत, निवेश, तरलता-अधिमान एवं मुद्रा-पूर्ति के चार परिवर्ती तत्वों को आय-सहित विलयित कर दिया जाये तो ब्याज-दर के निर्धारण की एक सन्तोषजनक व्याख्या प्राप्त हो जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आधुनिक सिद्धान्त ने दो वक्रों का उद्विकास किया है – IS वक्र तथा LM वक्र। प्रथम वक्र **वास्तविक क्षेत्र** (real sector) में स्थापित सन्तुलन को व्यक्त करता है जबकि दूसरा वक्र **मौलिक क्षेत्र** (monetary sector) के सन्तुलन को प्रदर्शित करता है। IS एवं LM वक्रों का परस्पर काटने वाला बिन्दु ब्याज की सन्तुलन-दर को प्रकट करता है। ब्याज की इस सन्तुलन-दर पर वास्तविक खण्ड एवं मौद्रिक खण्ड, दोनों ही सन्तुलनावस्था में होते हैं। इस ब्याज-सन्तुलन-दर पर वास्तविक खण्ड एवं मौद्रिक खण्ड, दोनों ही सन्तुलनावस्था में होते हैं। इस ब्याज दर पर कुल बचत एवं कुल निवेश बराबर होते हैं। इसके साथ ही, इस ब्याज दर पर मुद्रा की कुल माँग एवं मुद्रा की कुल पूर्ति भी बराबर होती है।

IS एवं LM रेखाओं को ज्ञात करना – ब्याज दर के निर्धारण के लिए IS तथा LM (विनियोग और बचत तथा तरलता पसन्दगी एवं मुद्रा की मात्रा) रेखाओं को निम्न प्रकार से खींचा जाता है –

(1) **विनियोग-बचत (IS) रेखा ज्ञात करना** – IS वक्र विभिन्न आय स्तरों तथा ब्याज की उन विभिन्न दरों के संयोगों को व्यक्त करती है, जिनके समक्ष कुल वास्तविक बचत तथा कुल वास्तविक विनियोग के मध्य संतुलन रहता है। रेखाचित्र – 8 (अ) में Sy_1, Sy_2, Sy_3 एवं Sy_4 विभिन्न आय रेखाएँ हैं जो आय के बढ़ते हुए स्तर को दर्शाती हैं। OX अक्ष पर बचत विनियोग एवं OY अक्ष पर ब्याज दर को दर्शाया गया है। रेखाचित्र 8 (ब) में IS वक्र को दर्शाया गया है।

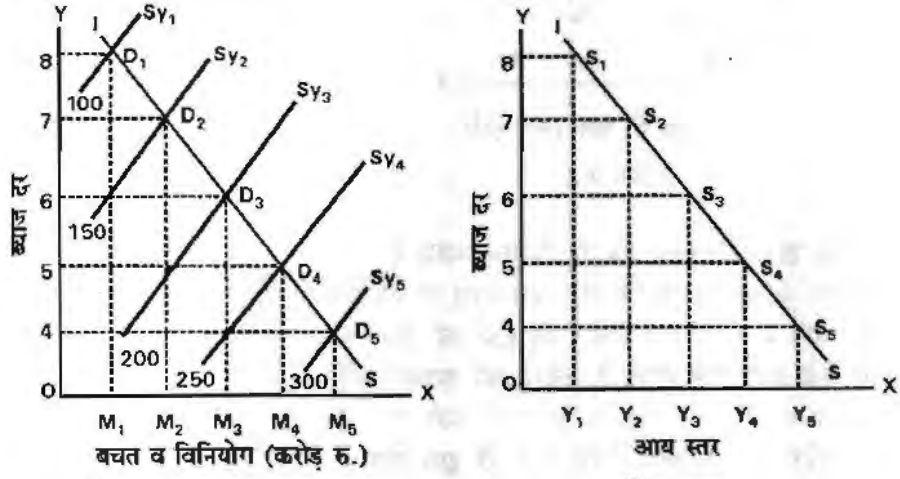

चित्र 8-A चित्र 8-B

रेखाचित्र 8(A) के अनुसार जब आय का स्तर Sy_1 या 100 करोड़ रु. होता है, तब 8 प्रतिशत ब्याज दर पर बचत एवं निवेश OM_1 या 10 करोड़ रु. रहता है। ठीक इसी प्रकार Sy_2, Sy_3, Sy_4 एवं Sy_5 आय स्तरों पर ब्याज दर को 7 रु., 6 रु. एवं 5 रु. एवं 4 रु. होने पर बचत – निवेश की मात्रा क्रमश: M_2, M_3 M_4 एवं M_5 रहती है। संतुलन क्रमश: D_1, D_2, D_3 एवं D_4 पर रहता है। इन बिन्दुओं को जोड़ने से IS वक्र का निर्माण होता है। इसे अलग से रेखाचित्र 8(B) में दर्शाया गया है। यह ध्यान रहे कि विनियोग बचत (IS) वक्र बायें से दाहिनी ओर ऊपर नीचे गिरता है जो यह बताता है कि ऊँचे

NOTES

आय स्तर पर बचत भी अधिक होती है तथा ब्याज दर कम होती है । अन्य शब्दों में, ऊँचे आय स्तर पर बचत अधिक होने से ब्याज दर कम होती जाती है, जिसके परिणामस्वरूप IS वक्र बायें से दाहिनी ओर झुकता जाता है । दूसरे शब्दों में, जितना आय-स्तर ऊँचा होता है, उतनी ही बचत की मात्रा अधिक होती है । जितनी बचत की मात्रा अधिक होती है, उतनी ही ब्याज की दर कम होती है । अत: जैसे-जैसे आय-स्तर बढ़ता चला जाता है, ब्याज की दर नीचे गिरती चली जाती है । IS वक्र की स्थिति बचत एवं निवेश-वक्रों की स्थितियों पर निर्भर करती है । इन वक्रों की सापेक्ष स्थितियों में हुआ कोई भी परिवर्तन IS वक्र की स्थिति में भी परिवर्तन कर डालेगा ।

(2) **तरलता पसन्दगी एवं मुद्रा की मात्रा (LM) रेखा को ज्ञात करना** – LM वक्र आय तथा ब्याज की दर के उन विभिन्न संयोगों को व्यक्त करती है, जिन पर मुद्रा की कुल माँग (तरलता पसन्दगी) और मुद्रा की कुल पूर्ति के मध्य सन्तुलन रहता है । LM वक्र के निर्माण के लिए उन ब्याज दरों और आय के स्तरों को ज्ञात करना होता है जिन पर मुद्रा की मात्रा एवं पूर्ति बराबर होती है । इसे रेखाचित्र 6 अ एवं ब द्वारा समझा जा सकता है

रेखाचित्र – 9 A में OX अक्ष पर मुद्रा की मात्रा एवं OY अक्ष पर ब्याज की दर को दर्शाया गया है । Ly_1, Ly_2, Ly_3 एवं Ly_4 विभिन्न आय स्तर हैं । आय स्तर के Ly_1 रहने पर 4 प्रतिशत ब्याज दर पर मुद्रा की माँग–पूर्ति या तरलता OM रहती है । जब आय में वृद्धि Ly_2, Ly_3 एवं Ly_4 होती है, तब मुद्रा की माँग–पूर्ति में साम्य की स्थिति के लिए ब्याज दर में क्रमश: 5 प्रतिशत, 6 प्रतिशत एवं 7 प्रतिशत की वृद्धि होती है । रेखाचित्र – 9 B में विभिन्न आय स्तर एवं ब्याज दर के मध्य सन्तुलन बनाने वाली रेखा खींची गई है । यही LM रेखा है ।

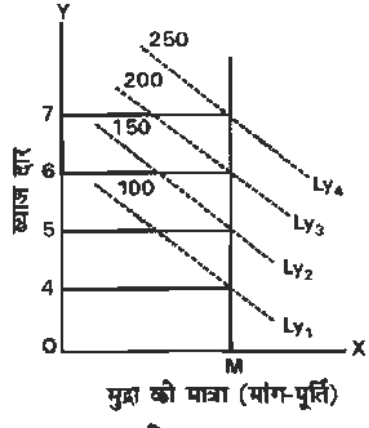

चित्र 9-A

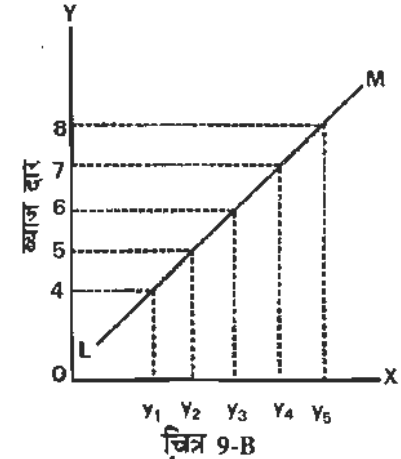

चित्र 9-B

दूसरे शब्दों में, LM वक्र उन विभिन्न ब्याज दरों को प्रदर्शित करता है जो लोगों की नकदी की माँग (तरलता अधिमान) एवं विभिन्न आय स्तरों पर उपलब्ध नकदी की पूर्ति के बीच समानता स्थापित करती हैं । अब प्रश्न यह पैदा होता है कि LM वक्र दायीं ओर ऊपर क्यों उठता है ? इसका कारण स्पष्ट है । जैसे-जैसे आय-स्तर बढ़ता है, लोगों का तरलता-अधिमान अथवा उनकी नकदी की माँग बढ़ती जाती है । परिणामत: ब्याज की दर भी बढ़ती चली जाती है । इसके विपरीत, जैसे-जैसे आय-स्तर नीचे गिरता है, लोगों के तरलता-अधिमान में भी ह्रास होता है । परिणामत: ब्याज की दर भी नीचे गिर जाती है ।

ब्याज दर का निर्धारण – आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ पर IS एवं LM वक्र परस्पर एक-दूसरे को काटती हैं । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि न तो क्लासिकल सिद्धान्त और न ही कींसियन सिद्धान्त ब्याज दर की समुचित व्याख्या प्रस्तुत करता है । दूसरे शब्दों में, न तो IS वक्र और न ही LM वक्र अकेले में ब्याज दर को निर्धारित करते हैं, वरन् दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से ब्याज दर निर्धारित होती । ब्याज दर के निर्धारण को रेखाचित्र-10 के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है ।

रेखाचित्र -10 में IS और LM वक्र रेखाएँ E बिन्दु पर काटती हैं। अत: ब्याज दर QE या OR होगी तथा आय स्तर QQ होगा। E बिन्दु पर IS = LM होने का अर्थ है कि इस बिन्दु पर विनियोग, बचत, तरलता पसन्दगी एवं मुद्रा की मात्रा सभी बराबर हैं। अन्य शब्दों में, मुद्रा की माँग एवं पूर्ति बराबर है। दूसरे शब्दों में 'E' बिन्दु दोहरे सन्तुलन (Two-fold Equilibrium) को दर्शाता है, जहाँ एक ओर तो बचत एवं निवेश सन्तुलनावस्था में है और दूसरी ओर नकदी की माँग एवं पूर्ति में भी सन्तुलन स्थापित होता है। यह सन्तुलन OR या EQ ब्याज दर पर निर्धारित होता है।

रेखाचित्र - 10 से यह भी स्पष्ट होता है कि EQ या OR ब्याज-दर को छोड़कर अन्य किसी भी ब्याज दर पर यह दोहरा सन्तुलन स्थापित नहीं होता। आइए, $E_1 Q_1$ ब्याज-दर पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होगा कि इस ब्याज-दर पर O Q आय-स्तर से सम्बन्धित बचत एवं निवेश निस्सन्देह सन्तुलनावस्था में है, लेकिन इस आय स्तर पर नकदी की माँग एवं पूर्ति सन्तुलनावस्था में नहीं है। नकदी की माँग एवं पूर्ति $E_2 Q_2$ ब्याज-दर पर सन्तुलनावस्था को प्राप्त होते हैं। लेकिन यह सन्तुलन OQ_2 आय-स्तर पर स्थापित होता है, OQ_1 आय-स्तर पर नहीं। OQ_1 अथवा OQ_2 आय-स्तरों पर शक्तियों के दोनों समूहों में से एक तो निश्चय ही असन्तुलन की अवस्था में होगा। आय के दोनों स्तरों को एक साथ प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केवल EQ ब्याज-दर पर ही **दोहरा सन्तुलन** स्थापित होता है। यह सन्तुलन एक ओर तो बचत एवं निवेश के बीच और दूसरी ओर नकदी की माँग एवं पूर्ति के बीच स्थापित होता है। स्मरण रहे, EQ ब्याज दर IS तथा LM वक्रों के परस्पर काटने या बराबर होने का परिणाम है।

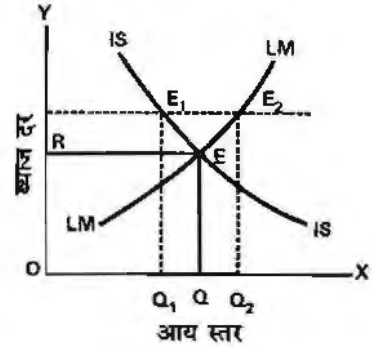

चित्र-10

ब्याज की दर ऋणात्मक या शून्य

(Rate of Interest Negative or Zero)

सैद्धान्तिक रूप से ब्याज की दर ऋणात्मक या शून्य हो सकती है, परन्तु वास्तविक जीवन में यह दोनों ही स्थिति सम्भव नहीं होती हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्याज की ऋणात्मक दर केवल ऐसे समाज में ही सम्भव है जिसमें कानून का अभाव पाया जाता हो। ऐसे समाज में यदि व्यक्ति बचत भी करते हैं तो उसे किसी शक्तिशाली व्यक्ति के पास रखेंगे और अपनी बचतों को सुरक्षित रखने हेतु, उन्हें ऐसी शक्तिशाली संस्थाओं को कुछ धन भुगतान करना होगा और इस भुगतान को ही ब्याज की ऋणात्मक दर कहा जाता है। व्यवहार में अविकसित देशों में भी ब्याज की दर कभी भी ऋणात्मक नहीं पायी जाती है। यह कभी सम्भव नहीं हो पाता है कि ऋण देने वाला ही ब्याज दे। यदि ऐसी स्थिति आती भी है, तो वह ऋण देने के स्थान पर पूँजी को अपने पास ही रखना पसन्द करेगा।

सैद्धान्तिक रूप में ब्याज की दर शून्य की सम्भावना निम्न परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकती है –

(i) यदि समाज में पूँजी की मात्रा इतनी अधिक हो कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता शून्य हो तो ब्याज की दर भी शून्य होगी परन्तु व्यवहार में यह पाया जाता है कि विकसित देशों में बड़ी मात्रा में पूँजी का संचय किया जाता है और वहाँ पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कम होती है परन्तु वह शून्य नहीं होती है, अत: ब्याज की दर भी शून्य नहीं हो पाती।

(ii) यदि समाज की कुल आय उपभोग पर व्यय कर दी जावे और वहाँ पर कोई बचत या विनियोग न हो, तो ब्याज की दर शून्य होगी। यह स्थिति केवल प्राचीन समय में ही सम्भव हो सकती थी, परन्तु वर्तमान युग में ऐसी पिछड़ी व्यवस्था या समाज का पाया जाना सम्भव नहीं है।

NOTES

प्रत्येक देश में प्रावैगिक तत्वों की विद्यमानता के कारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता शून्य नहीं हो पाती, जिससे ब्याज की दर भी **शून्य नहीं हो सकती।** यह प्रावैगिक तत्व हैं – (i) युद्ध तथा भूचाल, (ii) जनसंख्या में वृद्धि, (iii) नवीन आविष्कार एवं खोजें आदि।

अत: स्पष्ट है कि ब्याज की दर में कमी हो सकती है, परन्तु यह दर **कभी भी शून्य नहीं हो सकती। प्रो. कींस** ने भी अपने तरलता पसन्दगी सिद्धान्त में ब्याज दर को शून्य एवं ऋणात्मक होना नहीं माना है। कींस के अनुसार ब्याजदर **तरलता जाल** (Liquidity Trap) से नीचे नहीं जाता। दूसरे शब्दों में ब्याज दर सदैव धनात्मक रहता है।

ब्याज की दरों में भिन्नता
(Differences in Rates of Interest)

प्राय: एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय व एक स्थान से दूसरे स्थान में ब्याज की दरों में भिन्नता पायी जाती है। ब्याज की इस दर के भिन्न होने के मुख्य कारण निम्न हैं :–

(1) **असुविधा में अन्तर** – एक धनी व ईमानदार व्यक्ति से ऋण बिना किसी कठिनाई के प्राप्त होने से पूँजीपति को पूँजी उधार देने में कम असुविधा होती है और इसी कारण इससे ब्याज की दर कम ली जाती है। इसके विपरीत, एक निर्धन व्यक्ति के साथ अधिक असुविधा होने के कारण उसका ऋण समय पर वापस नहीं प्राप्त हो पाता, ऋण थोड़ी-थोड़ी किस्तों में प्राप्त होता है, जिससे छोटे किसानों, व्यापारियों एवं मजदूरों को ऊँची ब्याज दर पर ऋण प्राप्त होता है।

(2) **ऋण की अवधि में अन्तर** – लम्बी अवधि के ऋणों पर अधिक ब्याज दर ली जाती है, क्योंकि इन ऋणों में जोखिम व अनिश्चितता अधिक रहती है, इसके विपरीत अल्पकालीन ऋणों पर ब्याज की दर कम होती है।

(3) **ऋण के उद्देश्य में अन्तर** – अनुत्पादक कार्यों के लिए ऊँची दर पर ब्याज ली जाती है तथा उत्पादक कार्यों के लिए नीची दर पर ही ऋण प्रदान किया जाता है, क्योंकि अनुत्पादक कार्यों में जोखिम अधिक रहती है।

(4) **पूँजी की उत्पादकता** – जिन व्यवसायों में पूँजी का प्रयोग करके अधिक लाभ या उत्पादन प्राप्त किया जा सकता हो, ऐसे व्यवसायों को चलाने हेतु व्यक्ति ऊँची ब्याज दर पर भी ऋण देने को तत्पर हो जाता है। इसके विपरीत दशाओं में ब्याज की दर कम होगी।

(5) **आर्थिक विकास स्तर में अन्तर** – आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में लोगों की आय अधिक होती है, वहाँ पर अधिक बचत होती है और पूँजी की पूर्ति पर्याप्त होती है, जिससे ब्याज दर कम हो जाती है। इसके विपरीत पिछड़े देशों में परिस्थितियाँ विपरीत हो जाती हैं और उनमें ब्याज की दर ऊँची हो जाती है।

(6) **बैंकिंग सुविधाओं का अन्तर** – जिन देशों में बैंकिंग सुविधाएँ अपर्याप्त हों, वहाँ पर ब्याज की दर ऊँची होती है। इसके विपरीत अच्छी बैंकिंग सुविधाओं वाले देशों में ब्याज की दर कम होती है।

(7) **पूँजी की गतिशीलता में अन्तर** – विकसित देशों में पूँजी की गतिशीलता अधिक पायी जाती है, जिससे वहाँ विभिन्न स्थानों पर ब्याज की दरों में बहुत कम अन्तर पाया जाता है। इसके विपरीत पिछड़े देशों में, जहाँ पूँजी की गतिशीलता कम पायी जाती है, वहाँ पर विभिन्न स्थानों व क्षेत्रों में ब्याज की दर में भिन्नता पायी जाती है।

(8) **ऋण की जमानत में अन्तर** – यदि ऋण उचित एवं पर्याप्त जमानत पर दिया गया है तो ब्याज की दर भी कम होगी, इसके विपरीत दशाओं में ऋण ऊँची ब्याज की दर पर दिया जाता है। यदि ऋण देते समय पर्याप्त जमानत का अभाव पाया जाए तो उस पर ऊँची ब्याज की दर वसूल की जाती है।

(9) **प्रबन्ध व्यय में अन्तर** – छोटे कृषकों, कारीगरों एवं व्यापारियों को ऋण देने में पूँजीपति को ऋण प्रबन्ध पर अधिक व्यय करना होता है, क्योंकि यह लोग थोड़ी मात्रा में ऋण लेते हैं तथा उसे किस्तों में चुकाते हैं, अत: इन ऋणों पर ब्याज की दर भी अधिक ली जाती है। इसके विपरीत परिस्थितियों में ब्याज की दर कम रहती है।

(10) **जोखिम में अन्तर** – एक अच्छी साख वाले व्यापारी को ऋण देने में जोखिम कम होने से पूँजीपति कम ब्याज पर ही ऋण प्रदान कर देता है। इसके विपरीत सटोरियों या कम साख वाले व्यक्तियों को पूँजी उधार देने में अधिक जोखिम होने से पूँजीपति इन्हें ऊँची दर पर ऋण प्रदान करते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. ब्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
   Explain critically the liquidity preference theory of interest.
2. प्रो. कींस के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त को समझाइये। इसकी आलोचनाएँ भी बताइये।
   Discuss Keynesian theory of liquidity preference. Give its criticism also.
3. "ब्याज एक मौद्रिक घटना है" इस संदर्भ में ब्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।
   "Interest is monetary phenomenon." Discuss in this connection the liquidity preference theory of interest.
4. ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।
   Explain the modern theory of interest.
5. "ब्याज मुद्रा की माँग और पूर्ति से निर्धारित होता है।" मुद्रा की माँग की धारणा यह उधार देय कोषों को समझाइये और ब्याज के निर्धारण में इसका योगदान स्पष्ट कीजिये।
   "Interest is determined by the demand for and supply of money." Explain the concept of demand for money and its role in interest determination.
6. "ब्याज उधार देय कोषों के प्रयोग की कीमत है तथा उधार देय कोषों की माँग एवं पूर्ति से निर्धारित होता है।" विवेचना कीजिये।
   "Interest is the price which is paid for the use of loanable funds and it is determined by the demand and supply of loanable funds." Discuss.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions

1. ब्याज को परिभाषित कीजिये।
   Define the Interest.
2. ब्याज के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?
   What do you understand by Theories of Interest?
3. ब्याज दर का निर्धारण क्या है?
   What is determination of Rate of Interest.
4. ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त समझाइये।
   Explain the Modern Theory of Interest.
5. ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त समझाइये।
   Explain the Classical theory of Interest.

NOTES

6. ब्याज का आस्ट्रियन सिद्धान्त क्या है ?
What is Agio-theory of Interest?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. "ब्याज वह आय है जो पूँजी के स्वामी को प्राप्त होती है" इस परिभाषा के लेखक का नाम है-
(अ) केरन क्रास (ब) मार्शल (स) कींस (द) कारवार
2. "ब्याज के प्रतीक्षा सिद्धान्त" का लेखक है-
(अ) कींस (ब) कारवार (स) मार्शल (द) हाम
3. ब्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त का लेखक है-
(अ) कींस (ब) केरन क्रास (स) कैसल (द) फिशर
4. तरलता पसन्दगी को प्रभावित करने वाले तत्व हैं-
(अ) सट्टा-उद्देश्य (ब) सौदा उद्देश्य (स) व्यावसायिक उद्देश्य (द) उक्त सभी
5. ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त में माँग ज्ञात करने के लिए दो तत्व खोजने आवश्यक हैं-
(अ) विनियोग व बचत (ब) तरलता पसन्दगी और मुद्रा की मात्रा
(स) लोगों की आय व आदत (द) ब्याज की दर और आय की मात्रा
6. वास्तविक ब्याज दर, मौद्रिक ब्याज दर से-
(अ) कम होती है (ब) अधिक होती है
(स) बराबर होती है (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

उत्तर- 1. (द), 2. (स), 3. (अ), 4. (द), 5. (अ), 6. (ब)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

5

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(CLASSICAL THEORY OF EMPLOYMENT)

प्रस्तावना –

रोजगार सिद्धान्त किसी भी अर्थव्यवस्था में कुल रोजगार के निर्धारक तत्वों का विश्लेषण करता है। कुल रोजगार के निर्धारक तत्व ही देश की राष्ट्रीय आय का स्तर निर्धारित करता है। रोजगार स्तर में परिवर्तन होने पर आय स्तर में भी परिवर्तन हो जाता है।

रोजगार सिद्धान्त प्रस्तुत करने का श्रेय लार्ड जे. एम. कीन्स को है जिन्होंने 1963 में अपनी पुस्तक में इसे स्पष्ट किया था। कीन्स का सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र के सिद्धान्त एक विशेष स्थिति पर लागू होते है जबकि कीन्स का सिद्धान्त सामान्य स्थिति से सम्बन्धित है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त में जे. एस. मिल, मार्शल, पीगू व कीन्स का नाम महत्वपूर्ण है।

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(Classical Theory of Employment)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा पूर्ण रोजगार को एक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था की सामान्य स्थिति माना गया था। उनका मत था कि पूर्ण प्रतियोगिता में बेरोजगारी एक अस्थायी तथा असाधारण तत्व होता है जो कुछ समय बाद स्वयं ही समाप्त हो जाता है। अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार स्थापित होने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जबकि सरकार निजी एकाधिकारी या श्रम संघों द्वारा आर्थिक शक्तियों के निर्बाध ढंग से कार्य करने में किसी भी प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न न करे। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रोजगार के उपलब्ध साधनों का तो अध्ययन किया, परन्तु इस ओर बहुत कम ध्यान दिया कि उपलब्ध साधनों का वास्तविक उपभोग अथवा रोजगार कैसे निर्धारित होता है।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त बिना मुद्रा स्फीति के पूर्ण रोजगार की विद्यमानता मानता है। अर्थव्यवस्था में आर्थिक पद्धति में ऐसी स्वचालित शक्तियाँ होती हैं जो पूर्ण रोजगार प्राप्त करने में सहायक हैं। अत: पूर्ण रोजगार को एक सामान्य स्थिति माना जाता है और इस स्तर से बिखराव को एक असामान्य स्थिति माना जाता है जो कि स्वत: ही पूर्ण रोजगार की ओर ले जाता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रोजगार सम्बन्धी व्याख्या का आधार 'से' का नियम बताया है।

मान्यताएँ (Assumptions) –

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है :-

(1) अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति के बिना ही पूर्ण रोजगार विद्यमान है।

(2) श्रम व उत्पाद बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान है।

(3) अर्थव्यवस्था का सम्पूर्ण उत्पादन उपभोग एवं विनियोग व्यय में विभाजित किया जाता है।

(4) मजदूरी एवं मूल्य में लोच पायी जाती है।

(5) अल्पकाल में पूँजी स्टॉक तकनीकी ज्ञान विद्यमान रहता है।

(6) अर्थव्यवस्था में बिना विदेशी व्यापार के बन्द निर्बाध पूँजी अर्थव्यवस्था पायी जाती है।

(7) सभी श्रमिक समान प्रकार के हैं।

(8) मुद्रा की मात्रा दी रहती है।

(9) मुद्रा मजदूरी व वास्तविक मजदूरी प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं तथा वह आनुपातिक हैं।

NOTES

'से' का नियम

(Say's Law)

प्रतिष्ठित विचारधारा का मुख्य आधार फ्रांसीसी अर्थशास्त्री जीन बेपटिस्ट से (Jean Baptist Say -1767-1832) द्वारा प्रतिपादित बाजार का नियम है। इस नियम के अनुसार पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न कर लेती है क्योंकि पूर्ति उत्पादन द्वारा बढ़ जाती है व साथ में उत्पत्ति के साधनों की आय भी बढ़ जाती है, जिसके फलस्वरूप वस्तुओं की माँग भी बढ़ जाती है। अत: पूर्ति बढ़ने के साथ-साथ माँग भी बढ़ती जाती है। 'से' के अनुसार यह उत्पादन ही है जो कि वस्तुओं के लिए बाजार उत्पन्न करता है। जब सम्पूर्ण उत्पादन स्वत: ही बिक जाएँ तो अति-उत्पादन की स्थिति उत्पन्न ही नहीं हो पाती है। अत: अर्थव्यवस्था में सामान्य बेरोजगारी की दशा भी उत्पन्न नहीं हो पाती है।

'से' के नियम के अनुसार उपभोग उत्पादन के साथ- साथ चलता जाता है या उत्पादन की माँग का एक मात्र कारण माना जाता है। उत्पादन द्वारा अपना माल बेचने पर उन्हें मौद्रिक आय प्राप्त होती है और उससे उनकी क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। उत्पादित मूल्य के बराबर ही आय उत्पन्न होती है और इस आय की सहायता से ही बाजार से अन्य माल भी खरीदा जा सकता है। प्रत्येक माल जो बाजार में लाया जाए, वह अन्य वस्तुओं के लिए माँग उत्पन्न करता है। 'से' के अनुसार यदि कार्य दु: खदायी हो, तो कोई भी व्यक्ति माल का उत्पादन नहीं करेगा जब तक कि वह इस माल को उस माल से विनिमय करने को तैयार न हो जिसे वह चाहता हो।

अत: माल की पूर्ति में ही उसकी माँग निहित रहती है। ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था में अति उत्पादन की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती है क्योंकि पूर्ति सदैव माँग तक ही सीमित हो जाती है। कोई विशिष्ट वस्तु का अति उत्पादन सम्भव हो सकता है, क्योंकि कभी-कभी उत्पादक माँग का सही अनुमान नहीं लगा पाते हैं, परन्तु यह एक अस्थायी स्थिति होती है और बाद में उत्पादन में कमी करके इसे समायोजित किया जा सकता है। **जे. एस. मिल** का मत है कि, "उपभोग उत्पादन के साथ रहता है तथा उत्पादन ही माँग का मूल कारण रहता है। बिना माँग के कभी भी पूर्ति नहीं की जाती है। माँग की तुलना में उत्पादन कभी भी अधिक नहीं होता है। अत: पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पादित करती है, जिससे सामान्य उत्पादन का आधिक्य नहीं होता और वहाँ सामान्य बेरोजगारी नही हो पाती है।"

'से' के नियम के अनुसार, "माँग का मुख्य स्रोत घटक आय का प्रवाह है, जो कि उत्पादन कि प्रक्रिया से स्वयं ही उत्पन्न होता है। जब उत्पादक विभिन्न इनपुट का प्रयोग उत्पादन कार्यों में करता है, तो वह आवश्यक आय उपार्जित करता है तथा घटकों को किराया, मजदूरी व ब्याज आदि के रूप में भुगतान करता है। इससे पुन: माँग का सृजन हो जाता है। अत: पूर्ति स्वयं अपनी माँग का सृजन करती है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन के घटकों द्वारा अर्जित आय को वस्तुओं के क्रय में व्यय कर दिया जाता है।"

जो धन व्यय नहीं किया जाता उसे बचा लिया जाता है और उसे विनियोजित कर दिया जाता है। यदि इसमें अन्तर हों, तो ब्याज दर की सहायता से समानता लाने के प्रयास किए जाते हैं। प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुसार ब्याज, बचत का एक पारितोषक है। यदि ब्याज दर ऊँची है, तो बचत की मात्रा भी अधिक रहेगी। यदि विनियोग बचत से अधिक है, तो ब्याज की दर में वृद्धि होगी। इससे बचत बढ़ेगी और विनियोग कम हो जाएँगे और पूर्ण रोजगार पर यह दोनों बराबर हो जाते हैं। अत: ब्याज दर बढ़ने पर बचत बढ़ जाती है तथा विनियोग की मात्रा भी बढ़ जाती है।

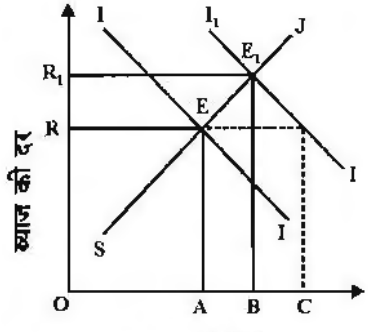

बचत व विनियोग
चित्र-5.1

बचत एवं विनियोग में समानता सम्बन्धी व्यवस्था को चित्र -1 से स्पष्ट किया जा सकता है :-

चित्र में दोनों वक्र E बिन्दु पर मिलते हैं और ब्याज की दर OR है जहाँ OA बचत व विनियोग दोनों बराबर हैं। यदि

विनियोग बढ़कर I'I' हो जाए तो ब्याज दर बढ़कर OR_1 हो जाती है तथा विनियोग OC हो जाता है। EI पर बचत व विनियोग दोनों वक्र मिलते हैं तथा बचत व विनियोग दोनों OB पर बराबर हो जाते हैं।

मौद्रिक अर्थव्यवस्था में 'से' का नियम मुद्रा के प्रतिष्ठित सिद्धान्त पर निर्भर है, जिसमें बताया गया है कि मूल्य स्तर मुद्रा की पूर्ति का एक कार्य है। सूत्र रूप में –

$$MV = PT$$

यहाँ पर M = मुद्रा की पूर्ति, V = मुद्रा की गति, P = मूल्य स्तर एवं T = व्यवहार की मात्रा। सूत्र के अनुसार कुल मुद्रा की पूर्ति (MV) अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन (PT) के बराबर होती है। मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन आने से मूल्य में आनुपातिक परिवर्तन आ जाता है। यह मान लिया गया है कि मुद्रा ही विनिमय का माध्यम है। इसे निम्न चित्र से दिखाया जा सकता है :–

चित्र में कुल मुद्रा (MV) की सहायता से कुल उत्पादन OQ सम्भव हुआ है।

पीगू का दृष्टिकोण (Pigou's Version) –

पीगू ने 'से' के नियम को श्रम बाजार के रूप में प्रतिपादित किया है। पीगू के अनुसार, स्वतंत्र प्रतियोगिता में आर्थिक पद्धति की प्रवृत्ति श्रम बाजार में पूर्ण रोजगार प्रदान करने की होती है। स्वतंत्र बाजार की कार्यप्रणाली से ही बेरोजगार की स्थिति उदय हो जाती है। यदि समस्त सरकारी प्रयास हटा दिए जाएँ तथा प्रतियोगिता की शक्तियाँ कार्यरत रहें, तो मजदूरी दर पर पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता में, कार्य के दौरान मजदूरी दरों में एक प्रवृत्ति होगी कि माँग से सम्बन्ध स्थापित करते हुए प्रत्येक को रोजगार प्राप्त हो। इसे निम्न सूत्र से समझाया जा सकता है –

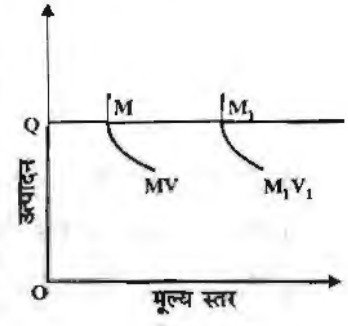

चित्र-8.2

$$N = \frac{qy}{w}$$

N = श्रमिकों की संख्या

q = मजदूरी व वेतन के रूप में अर्जित आय का भाग

y = राष्ट्रीय आय

w = मुद्रा मजदूरी दर

मुद्रा मजदूरी दर में (w) में कमी करके श्रमिकों की संख्या (N) में वृद्धि की जा सकती है। अत: मजदूरी मे कमी करके पूर्ण रोजगार को प्राप्त किया जा सकता है। इसे निम्न चित्र से दिखाया जा सकता है :–

यहाँ S पूर्ति वक्र व D श्रम का माँग वक्र है। E बिन्दु पूर्ण रोजगार की स्थिति को दर्शाता है। यदि मजदूरी कम कर दी जाएँ तो बेरोजगारी समाप्त हो जाती है। इससे पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है। मजदूरी दरों में कमी करने पर ही पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है।

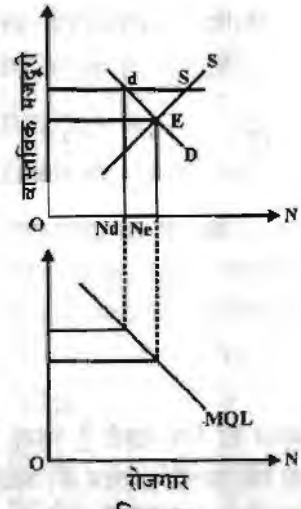

चित्र-5.3

पीगू ने 'से' के नियम को श्रम बाजार पर लागू किया है। पूर्ण प्रतियोगिता में अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति श्रम बाजार में पूर्ण रोजगार लाने की होती है। अर्थव्यवस्था में मजदूरी दरें एक ऐसे स्तर पर आकर स्थिर हो जाती हैं जहाँ समस्त श्रमिकों को रोजगार मिल जाता है। माँग की दशाओं में परिवर्तन या श्रम बाजार की अपूर्णता के कारण कुछ समय तक बेरोजगारी दिखायी देती है। यह सभी प्रकार की बेरोजगारी अस्थायी बेरोजगारी होती है। श्रम

NOTES

बाजार में स्वत: ही समायोजन होता रहता है और इसके लिए केवल मजदूरी दरों में परिवर्तन लाना होता है।

पीगू द्वारा दी गयी व्याख्या में रोजगार बढ़ाने के चार उपाय बताए गए हैं :-

(1) संगठन में सुधार किया जाना चाहिए जिससे अस्थायी बेरोजगारी कम की जा सके।

(2) मजदूरी पदार्थों से सम्बन्धित उद्योगों में श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता में वृद्धि की जाए।

(3) गैर-मजदूरी पदार्थों की कीमत में वृद्धि की जाए तथा उन पर व्यय किया जाने लगे।

(4) श्रम की सीमान्त अनुपयोगिता को कम किया जाए।

यह व्याख्या दो मूल तत्वों पर आधारित है जो कि निम्न प्रकार से है :-

(i) मजदूरी श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है, तथा

(ii) मजदूरी को प्राप्त होने वाली मजदूरी की उपयोगिता रोजगार की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होते हैं।

इस प्रकार रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त को तीन रूपों में रखा जा सकता है :-

(1) श्रम के रूप में,

(2) कुल उत्पादन व माल के रूप में,

(3) मुद्रा बाजार के रूप में।

(1) **श्रम के रूप में** - अर्थव्यवस्था में श्रम की माँग एवं श्रम की पूर्ति द्वारा रोजगार का स्तर निर्धारित किया जाता है। माँग व पूर्ति का वक्र जहाँ मिलते हों, वहाँ पर मजदूरी दर व पूर्ण रोजगार का स्तर निश्चित हो जाता है।

(2) **कुल उत्पादन व माल के रूप में** - देश का कुल उत्पादन, दिए गए पूँजीगत स्टॉक एवं तकनीकी ज्ञान के आधार पर रोजगार के स्तर को निर्धारित करता है। ब्याज की दर के द्वारा ही बचत एवं विनियोग में साम्य स्थापित हो पाता है जिससे से पूर्ण रोजगार स्तर पर माँगी गयी वस्तुएँ पूर्ति के बराबर हो सकें।

(3) **मुद्रा बाजार के रूप में** - मुद्रा बाजार में साम्य को सूत्र $MV = PT$ के द्वारा दर्शाया गया है। इसमें मूल्य स्तर द्वारा उत्पादन का पूर्ण रोजगार स्तर को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Classical Theory)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की व्याख्या का आधार 'से' का रोजगार सिद्धान्त है जिसकी आलोचना निम्न दो दृष्टिकोणों से की जा सकती है :-

(1) वस्तुओं के दृष्टिकोण से, तथा

(2) रोजगार या श्रमिकों के दृष्टिकोण से।

(1) **वस्तुओं के दृष्टिकोण से** - नियम में यह माना गया है कि प्रत्येक पूर्ति अपनी माँग का स्वयं ही सृजन करती है, परन्तु यह धारणा अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आय को वस्तुओं की खरीद पर व्यय कर लेते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि आय के एक भाग को भविष्य के लिए बचाकर रख लिया जाता है जिससे वस्तुओं की वर्तमान प्रभावशाली माँग में उतनी ही कमी हो जाती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि यह बचत विनियोग कर दी जाती है। बचत बढ़ने पर ब्याज दर गिर जाती है, परन्तु आलोचकों का मत है कि विनियोग की मात्रा ब्याज दरों की अपेक्षा व्यापार की दशा तथा लाभ की आशंसा पर निर्भर करती है। दूसरी आलोचना यह है कि आंशिक सन्तुलन के विश्लेषण को, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर लागू कर दिया गया है।

(2) **श्रमिकों के दृष्टिकोण से** – सिद्धान्त में यह माना गया है कि श्रम की पूर्ति स्वत: ही श्रम की माँग से समायोजित हो जाती है। अत: सामान्य बेरोजगारी नहीं हो सकती। यदि बेरोजगारी है तो वह अस्थायी रहती है और मजदूरी दर गिरने पर सभी को रोजगार मिल जाता है, परन्तु व्यवहार में यह मान्यता गलत है। अर्द्धविकसित देशों में जहाँ मजदूरी दरें बहुत नीची हैं, परन्तु फिर भी वहाँ पर बेरोजगारी बहुत अधिक है।

कीन्स द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Classical Theory by Keynes)

कीन्स ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना इसकी अवास्तविक मान्यताओं के आधार पर की है। कीन्स द्वारा की गयी आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं :–

(1) **'से' का नियम स्वीकार नहीं किया** – पूर्ति स्वत: ही अपनी माँग उत्पन्न कर लेती है यह धारणा गलत है। समाज में धन के वितरण की असमानताओं के कारण एक वर्ग ऐसा रहता है जिसकी आय उसकी आवश्यकता से अधिक रहती है जिससे कुल माँग, कुल पूर्ति के बराबर नहीं होती हैं और अति उत्पादन तथा बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कीन्स ने यह बात अस्वीकृत कर दी कि अर्थव्यवस्था में पूर्ति एवं माँग में स्वत: ही समायोजन हो जाता है।

(2) **पूर्ण-रोजगार सन्तुलन की मान्यता अवास्तविक** :– प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण रोजगार के स्तर पर अर्थव्यवस्था में सन्तुलन को विश्लेषण का आधार माना जिसे कीन्स ने स्वीकार नहीं किया और न्यून रोजगार सन्तुलन को वास्तविक स्थिति बतलाया।

(3) **पूर्ण प्रतियोगिता एक अवास्तविक स्थिति** – पीगू द्वारा पूर्ण प्रतियोगिता प्रणाली को रोजगार वृद्धि का एक मात्र साधन बताना पूँजीवादी प्रणाली की समस्याओं के प्रति एक अव्यावहारिक दृष्टिकोण माना गया। **पीगू** ने श्रम संघ व राज्य हस्तक्षेप का विरोध किया था, जबकि कीन्स ने इसे अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग माना।

(4) **बचत व विनियोग की व्याख्या भ्रामक है** :– प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह विचारधारा कि ब्याज दरें बचत व विनियोग में सन्तुलन स्थापित करती हैं, सही नहीं है चूँकि विनियोग की मात्रा केवल ब्याज दर पर ही नहीं, बल्कि लाभ की आशंसाओं या पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता पर निर्भर करती हैं। बचत के कारण आय-व्यय की धारा में बाधा उत्पन्न होती है। माँग में कमी होकर उत्पादन में कमी की जाती है जो बेरोजगारी की समस्या को जन्म देती है जबकि 'से' के नियम के अनुसार यह बेरोजगारी आ ही नहीं सकती है।

(5) **पीगू की व्याख्या गलत** – **पीगू** का मत था कि मजदूरी में कटौती स्वीकार करने पर बेरोजगारी की समस्या समाप्त हो जाएगी जिसे कीन्स ने सही नहीं माना। **कीन्स** का मत है कि मन्दीकाल में मजदूरी की लोच रोजगार में वृद्धि करने का साधन नहीं बन सकती है। पीगू की विचारधारा सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से उचित नहीं है। कीन्स ने न तो मजदूरी-कटौती का समर्थन किया और न ही मजदूरी वृद्धि का सुझाव दिया है। रोजगार के स्तर के निर्धारण का आधार मजदूरी दर को नहीं माना गया बल्कि प्रभावपूर्ण माँग को आधार माना गया है।

(6) **पूर्ण रोजगार की प्रतिष्ठित मान्यता भ्रमपूर्ण** – कीन्स ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की पूर्ण रोजगार सम्बन्धी मान्यता को गलत बताया। उसने पूर्ण रोजगार को एक विशेष स्थिति में माना। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अर्द्धबेरोजगारी पायी जाती है क्योंकि पूँजीवादी समाज **'से'** के नियम के अनुसार कार्य नहीं कर पाता और पूर्ति सदैव माँग से अधिक रहती है। अनेक श्रमिक प्रचलित मजदूरी दर या इससे कम पर भी कार्य करने को तैयार रहते हैं, परन्तु फिर भी उन्हें कार्य नहीं मिलता। अत: इस अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार होना एक असामान्य स्थिति मानी जाती है।

(7) **स्वतंत्र व्यापार की नीति भ्रमात्मक** – कीन्स के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की स्वतंत्र व्यापार की नीति जो पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक मानी गयी थी, सही नहीं माना। कीन्स का मत था कि पूँजीवादी व्यवस्था स्वचालित एवं स्वत: समायोजित होने वाली है। धनी वर्ग के पास अधिक धन रहता है, जिसे

वह सम्पूर्ण रूप से उपभोग पर व्यय नहीं कर पाते हैं। इसके विपरीत गरीबों के पास इतना धन नहीं होता कि वह समस्त उपभोग की वस्तुएँ क्रय कर सकें। अत: समाज में कुल पूर्ति की तुलना में कुल माँग में कमी रहती है, जिससे अति उत्पादन एवं बेरोजगारी बढ़ जाती है। इससे मन्दी आ जाती है जो कि स्वचालित अर्थव्यवस्था में सम्भव नहीं थी। अत: कीन्स ने प्रशुल्क व मौद्रिक नीति की सहायता से पूर्ति व माँग को समायोजित करने हेतु राज्य के हस्तक्षेप को उचित माना।

(8) **मुद्रा की माँग की आलोचना** – प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा का प्रयोग व्यवहार करने एवं सावधानी के लिए माना और उसने उसकी उपयोगिता सट्टे के कार्यों हेतु नहीं मानी, परन्तु कीन्स ने इसकी आलोचना की। कीन्स ने मुद्रा का सट्टे के कार्यों हेतु महत्व समझा। अत: ब्याज की दर एक न्यूनतम स्तर से नीचे नहीं गिर सकेंगी और मुद्रा की सट्टे के कार्यों हेतु माँग पूर्ण ब्याज लोचपूर्ण रहेगी। कीन्स का मत था कि यदि ब्याज की दर शून्य भी हो जाए, तो भी विनियोग की तुलना में बचत अधिक रहेगी। परन्तु यह एक अव्यावहारिक स्थिति है।

(9) **मुद्रा को अप्रभावी मानना गलत है** – प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को निष्क्रिय माना है और इसी कारण से उन्होंने उत्पादन, रोजगार व ब्याज की दर को मौद्रिक सिद्धान्त से भिन्न माना। उनके अनुसार उत्पादन का स्तर और रोजगार तथा ब्याज की साम्यदर का निर्धारण वास्तविक शक्तियों के आधार पर होता है, परन्तु कीन्स ने इसकी आलोचना करते हुए बताया कि मौद्रिक सिद्धान्त मूल्य सिद्धान्त से पृथक रहता है। मुद्रा की मात्रा एवं मूल्य स्तर व ब्याज दर में एक सम्बन्ध स्थापित किया गया। जब मुद्रा की मात्रा बढ़ती है, तो ब्याज की दर गिर जाती है, विनियोग बढ़ते हैं तथा आय व उत्पादन बढ़ जाते हैं जिससे माँग, मजदूरी, मूल्य व सामान्य मूल्य स्तर बढ़ जाता है।

(10) **मुद्रा मजदूरी व वास्तविक मजदूरी में सीधा सम्बन्ध नहीं** – कीन्स ने प्रतिष्ठित अर्थशात्रियों के इस विचार को नहीं माना कि मुद्रा, मजदूरी व वास्तविक मजदूरी में सीधा आनुपातिक सम्बन्ध है। इसके विपरीत इनमें प्रतिकूल सम्बन्ध पाया जाता है। जब मुद्रा मजदूरी गिरती है तो वास्तविक मजदूरी बढ़ती है और इसके विपरीत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि वास्तविक मजदूरी में कमी से रोजगार में वृद्धि होगी। कीन्स का मत था कि मौद्रिक व प्रशुल्क उपायों द्वारा रोजगार में वृद्धि सम्भव हो सकती है।

(11) **मजदूरी में कमी से पूर्ण रोजगार प्राप्त होना गलत बताया** – कीन्स ने पीगू की इस विचारधारा का खण्डन किया कि मुद्रा मजदूरी में कमी करने पर अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है। मजदूरी दरों में कमी करने से एक उद्योग में रोजगार बढ़ाया जा सकता है तथा लागत में कमी होकर माँग में वृद्धि सम्भव हो सकती है, परन्तु अर्थव्यवस्था में ऐसी नीति के पालन करने से रोजगार में कमी होगी। जब मजदूरी दरें कम होंगी, तो श्रमिकों की आय गिरेगी और कुल माँग में कमी होकर रोजगार में कमी होगी। कीन्स सदैव मजदूरी में कमी करने का विरोधी रहा।

(12) **आंशिक समायोजन से उत्पादन शक्ति के उपभोग में असफलता** – कीन्स इस बात से सहमत नहीं थे कि समाज में आंशिक गैर समायोजन से उत्पादन शक्ति के पूर्ण उपभोग में असफलता आ जाती है। अत: राज्य हस्तक्षेप को आवश्यक माना गया। राज्य द्वारा विनियोग करके आर्थिक क्रिया के स्तर में वृद्धि की जा सकती है। राज्य आवश्यक अधिनियम पारित करके श्रमिकों को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान कर सकता है। अत: कीन्स ने देश, में पूर्ण रोजगार प्राप्त करने हेतु राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक माना।

(13) **दीर्घकाल में पूर्ण रोजगार साम्य को गलत माना** – कीन्स ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के दीर्घकाल में पूर्ण रोजगार साम्य के दृष्टिकोण को गलत माना। कीन्स ने बताया कि दीर्घकाल में सभी मृत्यु को प्राप्त करेंगे और अपने विश्लेषण को अल्पकालीन माना। कीन्स ने रुचि, आदत उत्पादन तकनीक, श्रम की पूर्ति आदि को अल्पकाल में स्थिर माना तथा दीर्घकाल में माँग के प्रभाव को छोड़ दिया। बेरोजगारी दूर करने हेतु विनियोग में वृद्धि पर जोर दिया गया।

अत: रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त को अवास्तविक माना गया जो कि वर्तमान आर्थिक समस्याओं को हल करने में असमर्थ पायी गयीं।

NOTES

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त से क्या आशय है? इसकी मान्यताओं का वर्णन कीजिए।
   What is meant by classical theory of employment? Mention its assumptions.
2. 'से' का रोजगार सिद्धान्त का वर्णन कीजिए तथा इस सम्बन्ध में पीगू का दृष्टिकोण समझाइए।
   Mention the Say principle of employment and explain Pigou's attitude towards it.
3. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचनाएँ दीजिए। इस सम्बन्ध में कीन्स द्वारा दी गयी आलोचनाओं का भी वर्णन कीजिए।
   Give the criticisms of classical theory of employment. Mention the criticisms given by Keynes in this respect.
4. 'से' का रोजगार सिद्धान्त का वर्णन कीजिए तथा कीन्स द्वारा इसे न मानने का आधार दीजिए।
   Mention the classical theory of 'Say' and give the basis of criticism given by Keynes.
5. प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। किन कारणों से कीन्स ने इसकी आलोचना की है?
   Explain classical theory of employment. On what grounds has it been criticised by Keynes.
6. पीगू के रोजगार सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। वर्तमान आर्थिक प्रणाली में यह कहाँ तक सही है?
   Explain Pigou's theory of employment. How far does it hold good in modern economic system?

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त से क्या आशय है?
   What is meant by Classical theory of employment.
2. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की मान्यताओं का वर्णन कीजिये।
   Mention the assumptions of Classical theory of employment.
3. पीगू का दृष्टिकोण समझाइये।
   Explain the Pigou's attitude.
4. कीन्स द्वारा दी गयी आलोचनाओं का वर्णन कीजिये।
   Mention the criticisms given by Keynes in this respect.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त सम्बन्धित है-

   (अ) जे. बी. से (ब) जे. एम. कीन्स (स) एडम स्मिथ (द) इनमें से कोई नहीं

   Classical theory of employment is related with :

   (a) J. B. Say's (b) J. M. Keynes (c) Adam Smith (d) None of these

NOTES

2. बेरोजगारी के प्रकार हैं-

(अ) ऐच्छिक (ब) अनैच्छिक (स) मौसमी (द) उपरोक्त सभी

Kinds of unemployment is:

(a) Voluntary (b) Involuntary (c) Seasonal (d) All of above

3. रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त लागू हुआ है-

(अ) 1940 (ब) 1936 (स) 1932 (द) 1920

Classical theory of employment has been enforced from:

(a) 1940 (b) 1936 (c) 1932 (d) 1920

उत्तर- 1. (अ), 2. (द), 3. (ब)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

6

कीन्स का रोजगार सिद्धान्त

(KEYNESIAN THEORY OF EMPLOYMENT)

रोजगार सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में पीगू ने पूर्ण प्रतियोगिता में अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति श्रम बाजार में पूर्ण रोजगार लाने की बतायी। कीन्स ने मजदूरी दर, ब्याज दर एवं कीमत सिद्धान्त जैसे पुराने यंत्रों के स्थान पर कुछ नवीन धारणाओं की स्थापना की जैसे उपभोग प्रवृत्ति, पूँजी की सीमान्त क्षमता तथा तरलता अधिमान आदि।

कीन्स द्वारा प्रस्तुत किया गया विश्लेषण एक अल्पकालीन विश्लेषण है। अल्पकाल में उत्पादन क्षमता स्थिर मान ली जाती है और रोजगार की मात्रा राष्ट्रीय आय तथा उत्पादन के स्तर पर निर्भर करती है। कीन्स का रोजगार निर्धारण सिद्धान्त राष्ट्रीय आय के निर्धारण का भी सिद्धान्त है। कीन्स का मत है कि अल्पकाल में रोजगार स्तर तथा आय की मात्रा प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करती है।

प्रभावपूर्ण माँग

(Effective Demand)

आशय - साधारण भाषा में माँग से आशय इच्छा से है। जब इसे पूर्ण करने हेतु आय व्यय की जाए तो यह प्रभावपूर्ण माँग बन जाती है। कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का प्रारम्भिक बिन्दु प्रभावपूर्ण माँग का सिद्धान्त है। कीन्स के अनुसार रोजगार स्तर का निर्धारण उपभोग व विनियोग की वस्तुओं के लिए प्रभावपूर्ण माँग की स्थिति पर निर्भर करता है। प्रभावपूर्ण माँग में कमी होने पर बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है। अत: कीन्स के रोजगार सिद्धान्त को **माँग-न्यूनता सिद्धान्त** कहा जाता है।

प्रभावपूर्ण माँग को व्यय के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। व्यय के दो रूप होते हैं :-

(1) उपभोग व्यय एवं (2) विनियोग व्यय।

प्रभावपूर्ण माँग या व्यय में वृद्धि होने पर ही उपभोग पदार्थों एवं पूँजीगत पदार्थों का उत्पादन बढ़ जाता है। उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ आय एवं रोजगार में भी वृद्धि हो जाती है। आय की वृद्धि की तुलना में उपभोग में वृद्धि कम होती है और आय एवं उपभोक्ता व्यय के मध्य अन्तर बना रहता है। इस अन्तर को समाप्त करने हेतु पूँजीगत पदार्थों पर व्यय अधिक करना होता है। यदि पूँजीगत पदार्थों पर वृद्धि नहीं होगी, तो आय-व्यय का अन्तर बना रहेगा और बेरोजगारी उत्पन्न होगी।

प्रभावपूर्ण माँग उस सम्पूर्ण व्यय को व्यक्त करता है, जो कि रोजगार के सन्तुलन स्तर पर सम्पूर्ण उत्पादन पर किया जाता हो। देश में कुल उत्पादन ही राष्ट्रीय आय कहा जाता है, अत: कुल व्यय एवं कुल आय एक दूसरे के बराबर होना चाहिए। कुल उत्पादन में उपभोग एवं पूँजीगत दोनों को सम्मिलित किया जाता है। अन्य शब्दों में कुल व्यय से आशय उपभोग व्यय तथा विनियोग व्यय से है, जो कि उपभोग पदार्थों व विनियोग पदार्थों की बिक्री से प्राप्त कुल राशि के बराबर माना जाता है।

अत: प्रभावपूर्ण माँग = राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य अर्थात् राष्ट्रीय आय अर्थात् - उपभोग पदार्थों पर किया गया व्यय + विनियोग पदार्थों पर किया गया व्यय।

अल्पकाल में रोजगार प्रभावपूर्ण माँग से निर्धारित किया जाता है और प्रभावपूर्ण माँग उपभोग पदार्थों तथा विनियोग पदार्थों पर किए गए राष्ट्रीय व्यय के बराबर है। उपभोग व्यय का निर्धारण सदैव उपभोग प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है, जो कि अल्पकाल में स्थिर रहती है।

विनियोग का निर्धारण दो तत्वों द्वारा होता है; पूँजी की सीमान्त क्षमता एवं ब्याज पर।

कीन्स के अनुसार प्रभावपूर्ण माँग का निर्धारण निम्न दो तत्वों से होता है :-

(1) कुल माँग, (2) कुल पूर्ति

NOTES

(1) **कुल माँग** (Aggregate Demand) –

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए रोजगार का निर्धारण कुल माँग कीमत एवं कुल पूर्ति कीमत के द्वारा किया जाता है। रोजगार की माप श्रम की मात्रा के आधार पर की जाती है।

कुल **माँग कीमत** से आशय कुल विक्रय राशि से है, जिसे रोजगार के किसी विशेष स्तर पर उत्पादित माल को बेचकर की जाती है। अत: एक निश्चित स्तर पर कुल उत्पादन को बेचने से जो कुल राशि प्राप्त होती है, वही रोजगार के कुल स्तर पर कुल माँग-कीमत को व्यक्त करती है। अत: उत्पादन या रोजगार के एक निश्चित स्तर पर माल की बिक्री से जो राशि प्राप्त होने की आशा हों, वह वस्तुओं व सेवाओं की माँग पर निर्भर करती है। रोजगार के भिन्न-भिन्न स्तरों पर कुल माँग कीमतें भी पृथक-पृथक होती हैं जिसे कुल माँग मूल्य कहा जाता है। इसे निम्न सारणी से रूप में दिखाया जा सकता है :-

कुल माँग अनुसूची

रोजगार का स्तर (N) (लाख) में	कुल माँग मूल्य (D) (करोड़ में)	रोजगार का स्तर (N) (लाख) में	कुल माँग मूल्य (D) (करोड़ में)
20	230	45	280
25	240	50	290
30	250	55	300
35	260	60	310
40	270		

इसे निम्न चित्र से दिखाया जा सकता है :-

चित्र में OD रेखा कुल माँग मूल्य को प्रदर्शित करती है

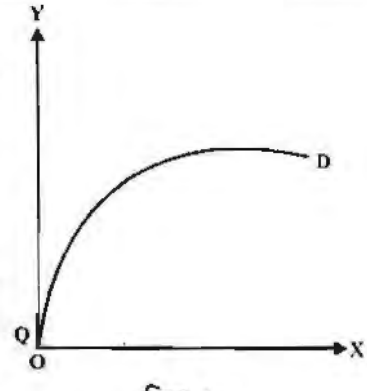

चित्र-6.1

(2) **कुल पूर्ति कीमत** (Aggregate Supply Price)–

रोजगार के किसी विशेष स्तर पर उत्पादन की बिक्री से साहसी को प्राप्त होने वाली कुल राशि को कुल पूर्ति कीमत कहा जाता है। किसी साहसी को अपने माल की कम से कम कितनी कीमत मिलनी चाहिए, यह उसकी उत्पादन लागत पर निर्भर करता है। रोजगार का कोई भी स्तर उस समय तक बनाए रखा जा सकता है। जब तक कि माल की बिक्री से प्राप्त होने वाली मुद्रा-राशि उत्पादन लागत राशि से कम न हो। रोजगार के भिन्न-भिन्न स्तरों पर कुल पूर्ति कीमत भी ज्ञात की जा सकती है। कुल पूर्ति कीमत को सारणी के रूप में दिखाया जा सकता है जिसे कीन्स ने कुल पूर्ति क्रिया कहा है। कुल पूर्ति कीमत को निम्न सारणी से दिखाया जा सकता है :-

कुल पूर्ति-कीमत

रोजगार का स्तर (N) (लाख) में	कुल पूर्ति मूल्य (Z) (करोड़ में)	रोजगार का स्तर (N) (लाख) में	कुल पूर्ति मूल्य (Z) (करोड़ में)
20	210	45	310
25	230	50	330
30	250	55	350
35	260	60	370
40	290		

प्रभावशाली माँग का निर्धारण (Determination of Effective Demand) –

रोजगार का स्तर उस बिन्दु पर निर्धारित हो जाता है, जहाँ पर कुल माँग मूल्य कुल पूर्ति मूल्य के बराबर हों। इस बिन्दु पर साहसी का लाभ अधिकतम होता है। यह बिन्दु प्रभावशाली माँग कहलाता है और इस बिन्दु पर साहसी को सामान्य लाभ प्राप्त होता है। यदि कुल माँग मूल्य कुल पूर्ति मूल्य से अधिक हो, तो अधिक लाभ प्राप्त करने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं और श्रमिकों को अधिक रोजगार दिया जा सकेगा। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक कि आय, इसकी लागत से अधिक हो। यह प्रक्रिया उस बिन्दु पर रुक जाएगी जब कि कुल माँग मूल्य कुल पूर्ति मूल्य के बराबर न हो जाएँ और यही बिन्दु प्रभावकारी माँग का होगा। इसी बिन्दु पर रोजगार का स्तर एवं उत्पादन की मात्रा निर्भर करेगी। प्रभावशाली माँग के इस बिन्दु पर पूर्ण रोजगार के स्थान पर अर्द्धबेरोजगारी का साम्य पाया जाता है। यदि साहसी इस बिन्दु से अधिक रोजगार देने का प्रयास करते हैं, तो कुल पूर्ति मूल्य कुल माँग मूल्य से बढ़ जाएगा जो यह बताता है कि कुल आय की तुलना में कुल लागत अधिक रहेगी और उस स्थिति में हानि रहेगी। अत: साहसी प्रभावकारी माँग के ऊपर अधिक श्रमिकों रोजगार नहीं देंगे जब तक कि कुल माँग मूल्य नवीन साम्य बिन्दु पर कुल पूर्ति मूल्य के बराबर न हो जाएँ और यह बिन्दु पूर्ण रोजगार का बिन्दु हो सकता है। यदि कुल माँग मूल्य में और अधिक वृद्धि होती है तो इससे स्फीतिक स्थिति उत्पन्न होगी और रोजगार में कोई वृद्धि नहीं होगी और उत्पादन पूर्ण रोजगार स्तर से आगे बढ़ जाएगा। प्रभावी माँग के साम्य बिन्दु को निम्न तालिका से दिखाया जा सकता है :-

कुल माँग एवं कुल पूर्ति मूल्य

रोजगार का स्तर (N) (लाख में)	कुल पूर्ति मूल्य (Z) (करोड़ रु. में)	कुल माँग मूल्य (D) (करोड़ रुपए में)	
		पुराना	नया
20	210	230	235
25	230	240	245
30	250	250	255
35	260	260	265
40	290	270	275
45	310	280	285
50	330	290	295
55	350	300	305
60	370	310	315

किसी अर्थव्यवस्था में कुल माँग क्रिया साहसी की प्राप्तियों और कुल पूर्ति क्रिया उनकी कुल लागतों को बताता है। यह दोनों तत्व अर्थव्यवस्था में रोजगार-स्तर को निर्धारित करते हैं। रोजगार का विस्तार उस समय तक होता रहेगा जब तक कि कुल लागतें कुल प्राप्तियों से कम रहती हैं और यह दोनों एक दूसरे के बराबर न हो जाएँ। यदि लागत प्राप्तियों से अधिक है तो साहसी रोजगार देने को तैयार न होंगे।

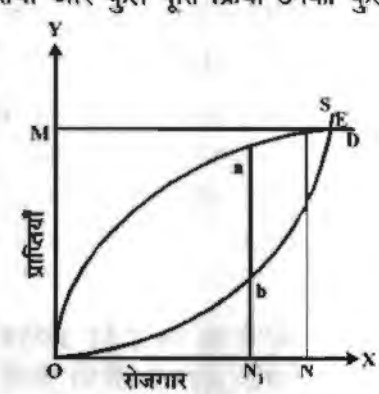

चित्र-6.2

कुल माँग क्रिया तथा कुल पूर्ति क्रिया वक्र रेखाएँ जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटें वही प्रभावपूर्ण माँग का बिन्दु है। प्रभावपूर्ण माँग का बिन्दु यह दिखाता है कि रोजगार के एक

NOTES

विशेष स्तर पर कुल माँग कीमत तथा कुल पूर्ति कीमत एक दूसरे के बराबर हैं। यही अल्पकालीन सन्तुलन बिन्दु है जो कि रोजगार स्तर को प्रदर्शित व निर्धारित करता है।

इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है :-

चित्र में D कुल माँग क्रिया तथा S कुल पूर्ति क्रिया वक्र है। E बिन्दु पर कुल माँग कीमत और कुल पूर्ति कीमत एक दूसरे के बराबर हैं और रोजगार सन्तुलन स्थापित हो जाता है। कीन्स के अनुसार यह सन्तुलन प्राय: पूर्ण रोजगार स्तर से कुछ नीचे ही स्थापित होता है। प्राय: आय एवं उपभोग में अन्तर रह ही जाता है और विनियोग माँग में वृद्धि इसे समाप्त नहीं कर पाती है। इसी कारण कीन्स ने पूर्ण रोजगार से कम पर सन्तुलन बिन्दु को अधिक वास्तविक माना है

प्रभावपूर्ण स्तर के निर्धारण में कीन्स ने कुल पूर्ति क्रिया को इतना अधिक महत्व नहीं दिया है, जितना कि कुल माँग क्रिया को दिया गया है। इसी कारण कीन्स के सिद्धान्त को कुल माँग का सिद्धान्त भी कहा गया है। अल्पकाल में प्राय: लागत में परिवर्तन नहीं होते हैं और व्यय में होने वाले परिवर्तन ही रोजगार-स्तर का निर्धारण करते हैं। अत: रोजगार बढ़ाने हेतु कुल व्यय में वृद्धि करना आवश्यक माना गया है।

प्रभावशाली माँग का महत्व (Importance of Effective Demand) -

प्रभावशाली माँग का सिद्धान्त ही कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का मुख्य अंशदान है। प्रभावशाली माँग ही अर्थव्यवस्था में रोजगार के स्तर को निर्धारित करती है। प्रभावशाली माँग में वृद्धि होने पर ही रोजगार में वृद्धि होती है और माँग में कमी होने पर रोजगार स्तर कम हो जाता है। अत: बेरोजगारी का कारण प्रभावशाली माँग में कमी होना है। प्रभावशाली माँग से ही कुल व्यय को बताता है जो रोजगार के स्तर को बताता है। राष्ट्रीय आय राष्ट्रीय व्यय के बराबर होती है। राष्ट्रीय व्यय उपभोग वस्तुओं व विनियोग वस्तुओं पर किया जाता है। अत: प्रभावशाली माँग का मुख्य घटक उपभोग एवं विनियोग है। अत: संक्षेप में प्रभावशाली माँग = राष्ट्रीय उत्पाद का मूल्य = रोजगार की मात्रा = राष्ट्रीय आय = राष्ट्रीय उत्पाद का मूल्य = उपभोग वस्तुओं पर व्यय + विनियोग वस्तुओं पर व्यय।

प्रभावशाली माँग का सिद्धान्त ही बेरोजगार का कारण एवं उपाय माना जाता है। प्रभावशाली माँग में कमी के कारण ही बेरोजगारी उत्पन्न होती है और उपभोग व्ययों में वृद्धि करके या विनियोग व्ययों में वृद्धि करके इसे दूर किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में निजी व्यय रोजगार के स्तर को प्राप्त करने में अप्रभावी रहता है। इसे सरकारी व्यय द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अत: प्रभावशाली माँग का सिद्धान्त ही रोजगार सिद्धान्त का आधार माना जा सकता है।

कीन्स का आय, उत्पादन व रोजगार सिद्धान्त

(Keynesian Theory of Income, Output and Employment)

कीन्स के सिद्धान्त में, रोजगार प्रभावशाली माँग पर निर्भर करता है। प्रभावशाली माँग उत्पादन को प्रभावित करती है। उत्पादन से आय होती है और आय ही रोजगार प्रदान करती है। कीन्स ने अपने सिद्धान्त में जिन चार बातों को बराबर माना है वे हैं – (i) प्रभावशाली माँग, (ii) उत्पादन, (iii) आय एवं, (iv) रोजगार। वह रोजगार को आय का एक कार्य मानते हैं।

प्रभावशाली माँग दो घटकों से निर्धारित होती है – (i) कुल पूर्ति कार्य, (Z) एवं (ii) कुल माँग क्रिया (D) कुल पूर्ति क्रिया उत्पादन की तकनीकी दशाओं पर निर्भर है, जो कि अल्पकाल में परिवर्तित नहीं होती है। चूँकि कीन्स ने अल्पकाल में कुल पूर्ति क्रिया को स्थायी माना है, अत: उसने समूचा ध्यान कुल माँग क्रिया पर दिया है जो कि बेरोजगारी को दूर कर सकता है। रोजगार कुल माँग पर निर्भर है जो कि स्वयं उपभोग माँग एवं विनियोग माँग पर निर्भर करती है।

कीन्स का मत है कि उपभोग या विनियोग में वृद्धि करके रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। उपभोग सदैव आय पर निर्भर करता है और जब आय में वृद्धि होती है तो उपभोग भी बढ़ जाता है, परन्तु वह आय की तुलना में इतना नहीं बढ़ पाता है। दूसरे शब्दों में आय में वृद्धि के साथ-साथ बचत

भी बढ़ती जाती है। आय व रोजगार में वृद्धि करने हेतु उपभोग को बढ़ाने के लिए उपभोग की इच्छा को बढ़ाना होगा, परन्तु उपभोग की इच्छा स्वयं जनता की मनोवैज्ञानिक दशा, उनकी रुचि, आदतों, माँग व सामाजिक ढाँचे पर निर्भर करती है, जो कि आय के वितरण को निर्धारित करती है, परन्तु अल्पकाल में यह सभी तत्व स्थिर रहते हैं। अत: उपभोग की इच्छा स्थिर रहती है। अत: रोजगार विनियोग पर निर्भर करता है और यह विनियोग की मात्रा के आधार पर परिवर्तित होता रहता है।

रोजगार के सिद्धान्त में कीन्स ने कुल माँग को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। कुल पूर्ति रेखा एक ओर रोजगार के स्तरों तथा दूसरी ओर प्रत्याशित न्यूनतम बिक्री राशियों के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं।

अर्थव्यवस्था एक बार जब पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुँच जाती है तो अल्पकाल में कुल व्यय में परिवर्तन होने पर उत्पादन में और अधिक वृद्धि सम्भव नहीं होगी। यदि कुल व्यय पूर्ण रोजगार से अधिक हो जाएँ, तो वास्तविक उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होगी, केवल कीमतों में वृद्धि होगी जिससे मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। कुल आय में वृद्धि के साथ प्रत्याशित कुल व्यय बढ़ता जाता है। इसे निम्न चित्र से दिखाया जा सकता है :-

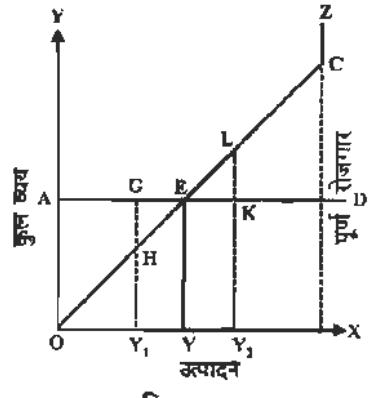

चित्र-6.3

चित्र में कुल माँग रेखा AD है तथा कुल पूर्ति रेखा OCZ है। E बिन्दु पर उत्पादन, आय एवं रोजगार की मात्रा निर्धारित होती है। उत्पादन का स्तर Y सन्तुलन स्तर को बताता है।

उत्पादन का संतुलन स्तर Y आवश्यक रूप से पूर्ण रोजगार का स्तर नहीं होता। अत: स्पष्ट है कि अल्पकाल में एक अर्थव्यवस्था में उत्पादन, आय व रोजगार का आकार प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है।

कुल व्यय पर कुल माँग निर्भर करती है तथा कुल व्यय कुल उपभोग व्यय तथा कुल विनियोग व्यय पर निर्भर करता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं व सेवाओं पर होने वाले व्यय को कुल उपभोग व्यय कहते हैं और पूँजीगत वस्तुओं पर साहसी द्वारा किया गया व्यय कुल विनियोग व्यय कहा जाता है।

एक अर्थव्यवस्था में कुल व्यय सदैव कुल आय के बराबर होना चाहिए। सूत्र के रूप में -

$$Y = C + I \quad \text{or}$$

$$Y - C = I \quad \text{or}$$

$$S = I$$

यहाँ पर Y = कुल आय,

C = उपभोग

I = विनियोग

S = बचत।

रोजगार को निर्धारित करने वाले तत्वों में कुल उपभोग व्यय तथा कुल विनियोग व्यय आते हैं। उपभोग व्यय अनेक तत्वों पर निर्भर करता है जैसे कि व्यक्तियों की रुचियाँ व आदतें, उनकी भावी आशाएँ आदि। कुल आय व कुल उपभोग व्यय में भी निश्चित सम्बन्ध होता है। जब आय में वृद्धि होती है तो उपभोग में भी वृद्धि होती है; परन्तु आय की अपेक्षा उपभोग में कम वृद्धि होती है।

कुल आय में से जो भाग उपभोग किया जाए उसे उपभोग की प्रवृत्ति तथा आय का जो भाग बचाया जाता है, उसे बचत की प्रवृत्ति कहा जाता है। उपभोग की औसत प्रवृत्ति का सूत्र निम्न है :-

$$\text{उपभोग की औसत प्रवृत्ति} = \frac{\text{कुल उपभोग व्यय}}{\text{कुल आय}} \quad \text{or}$$

NOTES

$$= \frac{C}{Y}$$

$$\text{उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति} = \frac{\text{कुल उपभोग व्यय में वृद्धि}}{\text{कुल आय में वृद्धि}} \quad \text{or}$$

$$= \frac{\Delta C}{\Delta Y}$$

कुल आय और कुल व्यय के सम्बन्ध को निम्न चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है :–

चित्र में E बिन्दु पर कुल आय एवं कुल उपभोग व्यय बराबर है। यदि आय बढ़ती है तो उपभोग व्यय भी बढ़ता है, परन्तु वह उसी अनुपात में नहीं बढ़ता है। इस बढ़ी हुई आय का एक भाग बचत कर लिया जाता है। एक देश की अर्थव्यवस्था में अल्पकाल में लोगों की उपभोग की आदतें शीघ्रता से बदलती नहीं हैं क्योंकि लोगों की परम्पराएँ व आदतें स्थिर रहती हैं।

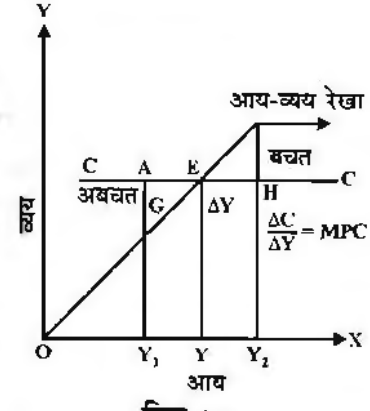

चित्र-6.4

विनियोग व्यय (Investment Expenditure) – नवीन पूँजीगत सम्पत्तियों का निर्माण विनियोग व्यय माना जाता है, जैसे कि मशीनों व यंत्रों का निर्माण आदि।

कीन्स के अनुसार विनियोग व्यय निम्न दो बातों पर निर्भर करता है :–

(1) **पूँजी की सीमान्त कुशलता** (Marginal Efficiency of Capital) – नवीन पूँजीगत सम्पत्तियों पर लाभ की प्रत्याशित दर को पूँजी की सीमान्त कुशलता माना जाता है। यदि लाभ की प्रत्याशित दर ऊँची है तो साहसी अधिक धन विनियोजित करेंगे।

(2) **ब्याज की दर** (Rate of Interest) – साहसी विनियोग के एक भाग की पूर्ति प्राय: दूसरों से ऋण लेकर करता है जिस पर उसे ब्याज देनी होती है। नीची ब्याज दर पर विनियोग अधिक प्रोत्साहित होगा और ऊँची ब्याज दर विनियोग को हतोत्साहित करेंगी। ब्याज की दर तरलता पसन्दगी पर निर्भर करती है और तरलता पसन्दगी तीन बातों पर निर्भर है :–

(i) कार्य सम्पादन उद्देश्य, (ii) दूरदर्शिता उद्देश्य एवं, (iii) सट्टा उद्देश्य।

ब्याज की दर व तरलता पसन्दगी में सीधा सम्बन्ध है। यदि तरलता पसन्दगी ऊँची है तो ब्याज की दर भी ऊँची होगी। इस प्रकार तरलता पसन्दगी ब्याज की दर को प्रभावित करती है, परन्तु वह स्वयं भी ब्याज की दर से प्रभावित होती है।

कीन्स ने गुणक के सिद्धान्त को एक महत्वपूर्ण अंग माना है। उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति दिए होने पर गुणक विनियोग तथा कुल आय में एक निश्चित सम्बन्ध रहता है। यदि विनियोग को एक निश्चित मात्रा से बढ़ाते हैं, तो आय में वृद्धि विनियोग की मात्रा से कई गुना अधिक बढ़ जाती है। चूँकि–

$$Y = C + I \quad \text{या}$$

$$\Delta Y = \Delta C + \Delta I$$

$$\text{or} \quad \Delta Y - \Delta C = \Delta I$$

अत: उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी उतना ही अधिक गुणक का प्रभाव होगा। विनियोग में थोड़ी सी वृद्धि कुल आय व रोजगार में अधिक वृद्धि करती है। अल्पकाल में अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता स्थिर रहती है और कुल व्यय में वृद्धि होने पर भी वास्तविक उत्पादन व आय को अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में कुल व्यय में वृद्धि केवल मूल्यों की स्फीति वृद्धि को उत्पन्न करेंगी।

यह स्फीति या अवस्फीति पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त करने में अवरोधक है और अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार के स्तर तक बनाए रखने में सरकारी व्यय की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

कीन्स के सामान्य रोजगार सिद्धान्त की मुख्य बातें

(Main Points of Keynesian General Theory of Employment)

कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :-

(1) अल्पकाल में आय व रोजगार प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है।

(2) कुल माँग कुल व्यय पर निर्भर करती है। कुल व्यय के दो अंग हैं –

(i) उपभोग व्यय एवं, (ii) विनियोग व्यय।

(3) उपभोग व्यय प्राय: उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति पर निर्भर करता है।

(4) विनियोग व्यय दो बातों पर निर्भर करता है –

(i) पूँजी की सीमान्त कुशलता एवं, (ii) ब्याज की दर।

(5) गुणक के कारण विनियोग में थोड़ी सी वृद्धि आय व रोजगार में अनेक गुनी वृद्धि कर देती है।

(6) गुणक को, उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति के आधार पर ज्ञात किया जाता है।

(7) राष्ट्रीय आय व रोजगार के निम्न निर्धारक तत्व हैं :-

(i) उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति,

(ii) तरलता पसन्दगी या ब्याज की दर,

(iii) पूँजी की सीमान्त कुशलता।

(8) अल्पकाल में उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति तथा तरलता पसन्दगी प्राय: स्थिर रहती है।

(9) अल्पकाल में आय व रोजगार को पूँजी की सीमान्त कुशलता ही प्रभावित करती है।

(10) स्फीति एवं अवस्फीति अन्तर को दूर करने व पूर्ण रोजगार के स्तर को बनाए रखने में सरकार की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है।

(11) ब्याज दर दो बातों पर निर्भर करती है –

(i) तरलता अधिमान एवं, (ii) मुद्रा की मात्रा।

(12) तरलता अधिमान के तीन उद्देश्य होते हैं –

(i) लेन-देन उद्देश्य,

(i) सुरक्षा उद्देश्य एवं, (ii) सट्टा उद्देश्य।

मुद्रा की मात्रा सरकार की मौद्रिक नीति द्वारा नियंत्रित होती है।

(13) कीन्स के ब्याज दर को अल्पकाल में स्थिर तत्व माना है।

(14) रोजगार बढ़ाने हेतु प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि की जानी चाहिए और इसके लिए विनियोग व्यय में वृद्धि करना आवश्यक है।

(15) विनियोग में वृद्धि करने से आय व रोजगार में कई गुना अधिक वृद्धि हो जाती है।

(16) गुणक के प्रभाव के कारण विनियोग में थोड़ी सी वृद्धि आय व रोजगार में गुणक के कारण कई गुना अधिक वृद्धि कर देती है।

(17) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का रोजगार बढ़ाने में अधिक प्रभाव पड़ता है।

(18) आय एवं व्यय में अन्तर पाया जाता है और इसी कारण इससे बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

NOTES

कीन्स के रोजगार सिद्धान्त को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है :-

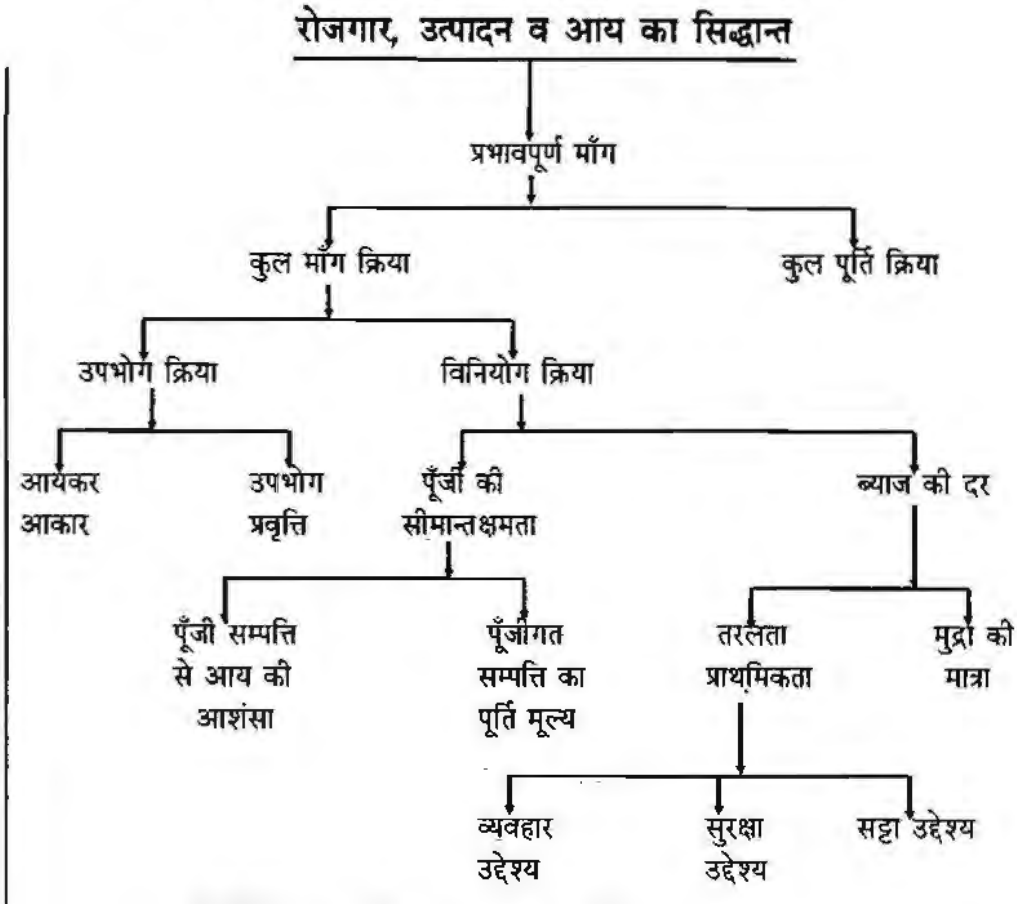

कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का महत्व

(Importance of Keynesian Theory of Employment)

कीन्स के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्व को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :-

सैद्धान्तिक महत्व -

कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का सैद्धान्तिक महत्व निम्न प्रकार से है :-

(1) कीन्स ने मैक्रो दृष्टिकोण अपनाकर अर्थशास्त्र को एक नया रूप प्रदान किया है।

(2) मुद्रा सिद्धान्त को कीमत तथा उत्पादन के साथ समन्वित करके एक पूर्ण सिद्धान्त के रूप में विकसित करने का प्रयास किया गया है।

(3) उपभोग व्यय व आय के मध्य अन्तर को समाप्त करने की दृष्टि से विनियोग में वृद्धि करना आवश्यक माना गया।

(4) आय व रोजगार का सन्तुलन पूर्ण रोजगार से कम स्तर पर भी स्थापित किया जा सकता है।

(5) कीन्स का सिद्धान्त एक सामान्य सिद्धान्त है जो कि अर्थव्यवस्था को सभी परिस्थितियों में लागू किया जाता है।

(6) आर्थिक विश्लेषण में एक नवीन सैद्धान्तिक धारणा प्रदान की और एक व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में उसे रखा गया।

(7) अर्थशास्त्र के विश्लेषण में प्रावैगिक तत्व का समावेश किया गया और इससे आधुनिक सिद्धान्त के विकास में सहायता प्राप्त हुई।

व्यावहारिक महत्व :-

(1) सिद्धान्त की अबाध नीति को प्रभावहीन बताया गया है और प्रभावपूर्ण माँग बढ़ाने में सरकारी हस्तक्षेप को आवश्यक माना गया है।

(2) रोजगार वृद्धि के लिए राजकोषीय नीति को महत्व दिया गया है व मौद्रिक नीति की सीमाओं पर भी ध्यान दिया गया है

(3) कीन्स इस बात से सहमत नहीं थे कि मजदूरी दरें घटाकर रोजगार में वृद्धि की जा सकती है।

(4) राष्ट्रीय आय बचत व विनियोग आदि धारणाओं को महत्व देकर सामाजिक लेखांकन की नीति को प्रोत्साहित किया गया है।

(5) सन्तुलित बजट के स्थान पर घाटे के बजट को बनाने पर जोर दिया गया है।

(6) कीन्स ने हीनार्थ प्रवधन की नीति पर भी ध्यान दिया है।

कीन्स के सिद्धान्त एवं प्रतिष्ठित विचारधारा में अन्तर

(Difference between Keynesian Theory and Classical Concept)

कीन्स के रोजगार सिद्धान्त एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के प्रमुख अन्तर निम्न प्रकार से हैं :-

(1) **सरकारी नीति** - प्रतिष्ठित विचारधारा अबन्ध नीति पर आधारित है जो बिना राज्य हस्तक्षेप के समायोजित हो जाती है जबकि कीन्स ने आर्थिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया।

(2) **व्यय व बचत** - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बचत को पूंजी निर्माण के लिए आवश्यक माना, परन्तु कीन्स ने व्यय करना समाज के लिए हितकर माना तथा बचत करना एक बुराई माना गया।

(3) **पूर्ण रोजगार** - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार पर जोर देते हैं। कीन्स का मत है कि पूर्ण रोजगार कभी नहीं होता है, उसमें थोड़ी कमी अवश्य रह जाती है जिसे न्यून-रोजगार सन्तुलन कहा गया।

(4) **व्यष्टि व समष्टि भावात्मक** - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की व्याख्या का स्वरूप व्यष्टि भावात्मक था, जबकि कीन्स ने समष्टि भावात्मक व्याख्या प्रस्तुत की, जो कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध रखती है।

(5) **मुद्रा सिद्धान्त से पृथक** - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने सामान्य सिद्धान्त को मुद्रा सिद्धान्त से पृथक रखा। कीन्स ने मौद्रिक सिद्धान्त को आय व रोजगार सिद्धान्त का एक अनिवार्य अंग माना।

(6) **पूँजीवाद का विश्लेषण** - प्रतिष्ठित विचारधारा पूँजीवाद का विश्लेषण है, जबकि कीन्स का सिद्धान्त पूँजीवाद के सुधार से सम्बन्धित है।

(7) **सरकारी अर्थशास्त्र से सम्बन्धित** - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का सम्बन्ध निजी क्षेत्र से था परन्तु कीन्स ने अपने सिद्धान्त को सार्वजनिक नीति से सम्बद्ध किया।

(8) **ब्याज का निर्धारण** - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार ब्याज का निर्धारण बचत व विनियोग से होता है; परन्तु कीन्स के अनुसार ब्याज का निर्धारण तरलता पसन्दगी व मुद्रा पूर्ति के द्वारा होता है।

(9) **स्थैतिक व प्रावैगिक** - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का आर्थिक विश्लेषण स्थैतिक था, जबकि कीन्स का विश्लेषण प्रावैगिक था।

(10) **पृथक सिद्धान्त** - प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रोजगार का एक पृथक सिद्धान्त अनावश्यक समझा जबकि कीन्स ने रोजगार का एक पृथक सिद्धान्त आवश्यक समझा।

(11) **मजदूरी कटौती** - बेरोजगारी को हल करने हेतु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी कटौती को आवश्यक बताया, परन्तु कीन्स का मत था कि बेरोजगारी की समस्या माँग-वृद्धि से हल की जा सकती है।

NOTES

(12) **दीर्घकालीन सन्तुलन** – प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री दीर्घकालीन सन्तुलन पर बल देते थे जबकि कीन्स ने अल्पकालीन सन्तुलन को ही अधिक महत्व दिया।

कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की आलोचनाएँ
(Criticism of Keynesian Theory of Employment)

कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएं निम्न प्रकार हैं :-

(1) **सामान्य सिद्धान्त का अभाव** :- कीन्स के अनुसार सिद्धान्त को एक सामान्य सिद्धान्त नहीं माना गया है और यह सब स्थानों व परिस्थितियों में लागू नहीं होता है। यह सिद्धान्त औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में लागू रहता है और अल्पविकसित देशों के लिए उपयुक्त नहीं है।

(2) **बेरोजगारी का व्यापक हल नहीं है** :- कीन्स का सिद्धान्त बेरोजगारी की समस्या का एक व्यापक हल नहीं है। यह सिद्धांत (i) तकनीकी एवं घर्षणात्मक बेरोजगारी पर उचित ध्यान देने में असफल रहा, (ii) इसमें न्यायपूर्ण रोजगार पर ध्यान नहीं दिया गया।

(3) **प्रभावपूर्ण माँग व रोजगार में सम्बन्ध** – यह कथन कठिन है कि प्रभावपूर्ण माँग एवं रोजगार की मात्रा में कोई सीधा सम्बन्ध है। वास्तव में द्रव्य की पूर्ति व मजदूरी में लोच रोजगार की मात्रा को प्रभावित करते हैं।

(4) **उपभोग की प्रवृत्ति** – आलोचकों ने उपभोग की प्रवृत्ति को गलत बताया और यह एक अपूर्ण व अनुभवहीन विचार बताया गया। कीन्स ने (i) उपभोग को आय पर निर्भर माना और उपभोग पर प्रभाव की भी उपेक्षा कि, (ii) प्रत्येक व्यक्ति का उपभोग इस बात पर निर्भर करेगा कि समूचे आय वितरण में उसकी सापेक्षिक स्थिति क्या होगी, (iii) उपभोक्ता अपनी आय में कमी होने पर उपभोग में कमी करने में कठिनाई अनुभव करेगा। (iv) उपभोग प्राय: स्थायी आय पर निर्भर करता है।

(5) **आधार को विस्तृत करना** – कीन्स का सिद्धान्त एक अल्पकालीन सिद्धान्त और इसने अल्पकालीन नीतियों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। उन्होंने दीर्घकालीन आर्थिक विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया है। अत: यह एक उपयोगी सिद्धान्त नहीं है।

(6) **एकपक्षीय** – कीन्स का विनियोग सम्बन्धी विवेचन एकपक्षीय है तथा विनियोग से पूँजीगत स्टाक में वृद्धि होती है, इसे नहीं बताया गया।

(7) **त्वरक पर ध्यान न देना** – कीन्स ने त्वरक पर कोई ध्यान नहीं दिया और केवल गुणक पर ही ध्यान दिया है। इससे यह सिद्धान्त अधूरा रहा।

(8) **साधनों के वितरण का विवेचन नहीं किया** – कीन्स ने अपने सिद्धान्त में साधनों के वितरण की समस्या का विवेचन नहीं किया जिससे सिद्धान्त अधूरा व अपूर्ण माना गया है।

(9) **अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित** – कीन्स का यह सिद्धान्त (i) पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है तथा (ii) बन्द अर्थव्यवस्था की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है। (iii) व्यापार सन्तुलन पर उचित ध्यान नहीं दिया है।

(10) **सिद्धान्त प्रावैगिक नहीं है** – कीन्स ने समय अन्तर पर कोई ध्यान नहीं दिया और सिद्धान्त में स्थैतिकी पर ही जोर दिया गया है।

(11) **मैक्रो दृष्टिकोण** – यह सिद्धान्त अकेले मैक्रो दृष्टिकोण से ही प्रतिपादित किया गया है और इसमें माइक्रो दृष्टिकोण की उपेक्षा की गयी है।

(12) **अल्पकाल से सम्बन्धित** – यह सिद्धान्त अल्पकाल से सम्बन्धित है, जिसमें उत्पादन तकनीक संगठन व पैमाना आदि तत्वों को स्थिर माना गया है। इससे दीर्घकालीन आर्थिक विकास सम्भव न हो सकेगा।

(13) **ब्याज दर सिद्धान्त अनिश्चित** – कीन्स का तरलता अधिमान सिद्धान्त निश्चित नहीं माना गया है।

(14) **रोजगार वृद्धि कार्यक्रम त्रुटिपूर्ण** – आलोचकों का मत है कि कीन्स का कार्यक्रम अर्थव्यवस्था के आंशिक सन्तुलन का उचित उपचार नहीं माना जाता है। राजकोषीय नीति को मौद्रिक नीति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझना उचित नहीं माना जाता है।

(15) **विनियोग के नियोजन पर ध्यान नहीं** – कीन्स ने विनियोग के नियोजन पर ध्यान नहीं दिया है। सरकार द्वारा अधिक विनियोग करने पर निजी विनियोग में कमी आ जाती है।

(16) **कीन्स के विचार न मौलिक न नवीन** – कीन्स का सिद्धान्त पहले से ही ज्ञात सिद्धान्त पर आधारित रहा है। यह विचार मौलिक नहीं है और सिद्धान्त को अधूरा माना गया है।

अर्द्धविकसित देशों में कीन्स का सिद्धान्त

(Theory of Keynes in Underdeveloped Countries)

अर्द्धविकसित देशों की समस्याएँ कीन्स की मान्यताओं से भिन्न है, अत: कीन्स का सिद्धान्त उन देशों पर लागू नहीं होता, है। यह बात निम्नलिखित तथ्यों के द्वारा स्पष्ट हो जाती है :–

(1) **बेरोजगारी का भिन्न स्वरूप** – कीन्स का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या का उपचार प्रस्तुत नहीं करता है। इन देशों में अदृश्य बेरोजगारी एवं अर्द्धबेरोजगारी की समस्या बनी रहती है जो श्रम की अधिकता व अन्य साधनों की कमी का परिणाम होता है। कीन्स ने अपने सिद्धान्त में केवल चक्रीय बेरोजगारी को ही ध्यान में रखा था।

(2) **वास्तविक समस्या आर्थिक विकास करना** – कीन्स ने विकसित क्षेत्रों में आर्थिक स्थिरता की समस्या का अध्ययन किया है जबकि अर्द्धविकसित देशों की सबसे बड़ी समस्या आर्थिक विकास की गति को बढ़ाना होता है। इसके लिए विनियोग बढ़ाना होगा जो कि बचत से ही सम्भव है। अत: कीन्स का बचत में कमी से सम्बन्धित सुझाव अर्द्धविकसित देशों के लिए हानिकारक रहेगा।

(3) **सुलभ मुद्रा-नीति उपयुक्त नहीं** – रोजगार में वृद्धि के लिए कीन्स ने सुलभ मुद्रा-नीति का सुझाव दिया जबकि अर्द्धविकसित देशों में समस्या मुद्रा की कमी की न होकर वास्तविक पूँजी की कमी की है। इसका उपचार बचत को बढ़ाकर ही सम्भव हो सकता है। मुद्रा का अनियंत्रित विस्तार से कीमतें बढ़ेंगी जो कि विकास के मार्ग में बाधक है।

(4) **प्रभावपूर्ण माँग की समस्या निम्न प्रकार की है** – कीन्स का मत है कि व्यय में वृद्धि करके प्रभावपूर्ण माँग व रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। अर्द्धविकसित देशों में आय का स्तर नीचा व सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ऊँची होती है। यह देश निर्धनता के कुचक्र में फँसे रहते हैं। यहाँ पर प्रभावपूर्ण माँग तभी बढ़ सकती है, जब आय में वृद्धि हो।

(5) **सिद्धान्त की मान्यताएँ यथार्थपूर्ण नहीं** – कीन्स के सिद्धान्त की मान्याताएँ अर्द्धविकसित देशों में लागू नहीं हो पाती हैं। कीन्स ने दो प्रकार की मान्यताएँ मानी हैं — (i) अल्पकालीन विश्लेषण सम्बन्धी एवं, (ii) गुणक सम्बन्धी।

अल्पकालीन विश्लेषण में **कीन्स** की यह मान्यता है कि पूँजी सामग्री उत्पादन तकनीक, प्रबन्ध आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता जबकि अर्द्धविकसित देशों में इन्हें बदलने की आवश्यकता होती है।

गुणक के सम्बन्ध में कीन्स की मान्यताएँ हैं कि (i) बेरोजगारी अनैच्छिक है, (ii) उपभोग पदार्थों के उद्योगों में अतिरिक्त उत्पादन क्षमता है, (iii) कार्यशील पूँजी की पूर्ति लोचपूर्ण है, (iv) वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति लोचपूर्ण है, परन्तु यह सभी मान्यताएँ अर्द्धविकसित देशों में नहीं पायी जाती हैं।

(6) **नियोजन का तरीका** – अर्द्धविकसित देशों में आर्थिक विकास के लिए नियोजन का ढंग अपनाया गया है जबकि कीन्स ने पूँजीवाद का समर्थन किया था। कीन्स ने उपभोग वृद्धि का समर्थन किया था, जबकि अर्द्धविकसित देशों में उपभोग को नियंत्रित करने के उपाय अपनाए जाते हैं। विनियोग का विस्तार सरकारी नीति के द्वारा किया जाता है तथा आय वितरण में असमानताएँ कम करने के प्रयास किए जाते हैं।

NOTES

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. कीन्स के अनुसार एक अर्थव्यवस्था में आय व रोजगार के मुख्य निर्धारक तत्व कौन से हैं ? विस्तार से वर्णन कीजिए।
   According to Keynes, what are the principal determinants of income and employment in an economy? Mention in detail.
2. 'कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का प्रारम्भिक बिन्दु प्रभावपूर्ण माँग का सिद्धान्त है।' विवेचना कीजिए।
   'The logical point of Keynes theory of employment is the principle of effective demand. Discuss.'
3. 'कीन्स का सामान्य सिद्धान्त विचारों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।' विवेचन कीजिए।
   'Keynes general theory of employment occupies an important place in the history of economic thought.' Discuss.
4. 'कीन्स की एक बड़ी सफलता यह थी कि उसने पूर्ण रोजगार से नीचे के स्तर पर सन्तुलन स्थापित होने की संभावना पर प्रकाश डाला।' समझाइए।
   'A great achievement of Keynes in his theory was to show that under employment equilibrium was possible.' Explain.
5. कीन्स के सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्व की व्याख्या कीजिए।
   Discuss the theoretical and practical significance of Keynesian theory.
6. कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
   Critically examine the Keynesian theory of employment.
7. रोजगार के कीन्स सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए तथा सिद्धान्त में गुणक के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
   Critically discuss the Keynesian theory of employment and explain the contribution of multiplier in the theory.
8. कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की मुख्य बातें दीजिए तथा कीन्स के सिद्धान्त एवं प्रतिष्ठित विचारधारा में अन्तर बताइए।
   Give the main points of Keyne's theory of employment and differentiate between Keyne's theory and classical theory.
9. अर्द्धविकसित देशों में कीन्स का रोजगार सिद्धान्त कहाँ तक लागू होता है ? समझाइए।
   How far Keyne's theory of employment applies in under-developed countries? Explain.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. प्रभावपूर्ण माँग क्या है ?
   What is Effective Demand.
2. प्रभावशाली माँग का निर्धारण समझाइये।
   Explain the Determination of Effective demand.
3. कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का महत्व समझाइये।
   Explain the importance of Keynesian theory of employment.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. प्रभावपूर्ण माँग के निर्धारक हैं-

(अ) कुल उत्पादन (ब) कुल राष्ट्रीय आय

(स) कुल राष्ट्रीय व्यय (द) उपरोक्त सभी

Determinants of Effective Demand is:

(a) Tota output (b) Total National Income

(c) Total National Expenditure (d) All of above

2. कीन्सवादी रोजगार के सिद्धान्त को कहते हैं-

(अ) प्रभावपूर्ण माँग का सिद्धान्त (ब) प्रभावपूर्ण पूर्ति का सिद्धान्त

(स) उपभोग का सिद्धान्त (द) विनियोग का सिद्धान्त

Keynesian theory of employment are:

(a) Theory of Effective demand (b) Theory of Effective supply

(c) Thoery of Consumption (d) Investment of theory

3. प्रभावपूर्ण माँग का सम्बन्ध किस अर्थशास्त्री से है-

(अ) पीगू (ब) जे. बी. से (स) जे. एम. कीन्स (द) मूर

उत्तर- 1. (द), 2. (अ), 3. (स)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

7

मौद्रिक सिद्धान्त- मुद्रा की माँग एवं पूर्ति

(MONITORY THEORIES- DEMAND AND SUPPLY OF MONEY)

सामान्यतया बाजार में वस्तुओं का मूल्य उसकी माँग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। वस्तु की माँग तथा उसके मूल्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पाया जाता है। यदि माँग बढ़ती है तो मूल्य बढ़ जाते हैं और माँग कम होने पर मूल्य गिर जाते हैं, परन्तु वस्तु की पूर्ति का मूल्य से विपरीत सम्बन्ध रहता है। यदि पूर्ति घटती है तो मूल्य बढ़ जाते हैं और पूर्ति बढ़ने पर मूल्य घट जाते हैं। अत: स्पष्ट है कि यदि वस्तु के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को नियंत्रित करना है, तो उस वस्तु की माँग व पूर्ति को नियंत्रित करना आवश्यक होगा। यदि मुद्रा को अन्य वस्तुओं के समान समझ लिया जाए, तो उसके मूल्य निर्धारण के लिए 'मुद्रा की पूर्ति' तथा 'मुद्रा की माँग' का अर्थ जानना आवश्यक है। मुद्रा की माँग एवं पूर्ति का अध्ययन न केवल मौद्रिक सिद्धान्तों को समझने बल्कि उपयुक्त मौद्रिक नीति एवं कुशल मौद्रिक प्रबन्धन की नीति निर्धारित करने में आवश्यक है।

मुद्रा की पूर्ति

(Supply of Money)

प्राय: मुद्रा के रूप में प्रयोग किए जाने वाले साधनों में 'तरलता' का गुण पाया जाता है। कोई भी साधन जिसका मूल्य किसी भी देश में प्रचलित मूल्य मापक इकाई के रूप में व्यक्त किया जाए तथा जिसे बिना किसी हानि या असुविधा के व्यय करने योग्य रूप में परिवर्तित किया जा सकता हो, तरल सम्पत्ति माना जाता है। इस आधार पर व्यय करने योग्य समस्त साधन मुद्रा कहलाते हैं।

सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की गयी समस्त प्रकार की मुद्रा विधि ग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money) मानी जाती है जिसे विनिमय माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है। विधि ग्राह्य मुद्रा को साधारण मुद्रा भी कहते हैं। इसी में प्रमुख व सहायक मुद्रा भी सम्मिलित की जाती है। कोई वैधानिक आधार न होने पर भी साख मुद्रा एवं बैंक मुद्रा को विभिन्न प्रकार के भुगतानों तथा क्रय विक्रय के माध्यम के रूप में स्वीकृत किया जाता है। इसे ऐच्छिक मुद्रा कहा जाता है। बैंक मुद्रा एक ऐसे अधिकार को व्यक्त करता है जिसके द्वारा बैंक से साधारण मुद्रा प्राप्त की जा सकती है। **हॉय** का मत है कि साधारण मुद्रा प्राप्त करने का यह दावा उतना ही उपयोगी है जितनी कि स्वयं साधारण मुद्रा होती है। इसे अनेक नामों से पुकारा जाता है जैसे कि साख मुद्रा, बैंक मुद्रा, जमा मुद्रा, चैक बुक मुद्रा या मुद्रा का प्रतिस्थापन आदि। इन सभी का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में किया जाने के कारण इसे मुद्रा ही कहा जाता है।

प्राय: बैंकों में चालू खातों में जमा राशि को बिना किसी पूर्व सूचना या व्यवस्था के चैक द्वारा निकाला जा सकता है। इस प्रकार की जमा राशि को माँग जमा कहा जाता है। इसके विपरीत स्थायी खातों में एक निश्चित समय के लिए जमा की गयी राशि को 'काल जमा' कहा जाता है। यह राशि एक निश्चित समयावधि समाप्त होने पर ही बैंकों से प्राप्त की जाती है। यदि इसे निश्चित समयावधि पूर्ण होने से पूर्व निकालना हो, तो इसके लिए बैंक से विशेष अनुमति प्राप्त करनी होती है। इस व्यवस्था में ब्याज के रूप में प्राप्त होने वाला कुछ भाग छोड़ दिया जाता है। स्पष्ट है कि इसमें उतनी तरलता नहीं होती है जितनी कि साधारण मुद्रा जमा या चालू खाता व सेविंग खाते में जमा की गयी राशि की होती है। अत: इसे मुद्रा न कहकर अर्द्ध मुद्रा या निकट मुद्रा भी कहा जाता है। अत: बैंक मुद्रा की मात्रा को निर्धारित करने हेतु केवल माँग-जमा को ही लिया जाता है, क्योंकि अन्य प्रकार की जमा राशियों पर प्राय: चैक की सुविधा नहीं रहती है। काल जमा राशि देश के मौद्रिक साधनों का एक भाग होते हुए भी बैंक मुद्रा की मात्रा में सम्मिलित नहीं की जाती है।

अतः मुद्रा की पूर्ति या कुल मात्रा निर्धारित करने हेतु तीन तत्वों को सम्मिलित किया जाता है :-

(i) केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित विभिन्न प्रकार के नोटों की कुल मात्रा,

(ii) सरकार की ओर से निकाली गयी मुद्रा- विभिन्न प्रकार के सिक्कों की कुल मात्रा,

(iii) बैंकों में माँग-जमा की कुल मात्रा।

मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति
(Effective Supply of Money)

मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति से आशय उस मात्रा से होता है जो किसी समय में चलन में होती है। मुद्रा की कुल पूर्ति को अपने कार्य या प्रभाव के आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है :-

(i) मुद्रा का वह भाग जो केन्द्रीय सरकार के खजाने, केन्द्रीय बैंक, या वाणिज्यिक बैंकों के पास आरक्षित मुद्रा के रूप में रखा जाए। यह मुद्रा कोष के रूप में रखी रहती है।

(ii) मुद्रा का वह भाग जो परिचलन में रहता है।

परिचलन में मुद्रा विनिमय सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के भुगतानों के माध्यम के रूप में उपयोग व प्रयोग करने के लिए जनता के पास उपलब्ध रहती है। जनता में समस्त व्यक्ति, व्यावसायिक फर्में, राज्य सरकारें, स्थानीय संस्थाएँ व निगम आदि आते हैं। मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति में मुद्रा की कुल मात्रा के उस दूसरे भाग को सम्मिलित करते हैं जो कि व्यय करने योग्य रूप में जनता को किसी भी समय प्राप्त होती है।

इस प्रकार मुद्रा की कुल प्रभावकारी पूर्ति को ज्ञात करने हेतु मुद्रा की कुल पूर्ति में से धात्विक व पत्र-मुद्रा की वह मात्रा निकाल दी जाती है, जो कि सरकार केन्द्रीय बैंक या वाणिज्य बैंकों के पास कोषों या आरक्षित मुद्रा के रूप में पड़ी रहती है। मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति ही मुद्रा का मूल्य निर्धारण करती है।

मुद्रा का प्रचलन वेग
(Velocity of Circulation of Money)

मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति के अतिरिक्त मुद्रा में एक गुण उसके प्रवाह का रहता है। मुद्रा की विभिन्न इकाइयाँ विनिमय की क्रिया से होकर अनेक हाथों से गुजरती रहती हैं। यह सदैव मुद्रा का कार्य करती रहती हैं। एक निश्चित अवधि में मुद्रा की एक इकाई औसतन जितनी बार किसी भी भुगतान हेतु प्रयोग की जाए, उसे मुद्रा का प्रचलन वेग कहा जाता है। किसी निश्चित अवधि में मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति की मात्रा केवल प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के द्वारा ही निर्धारित नहीं होती, वरन् – उसकी मात्रा व प्रचलन वेग के गुणनफल के बराबर होती है। अर्थात –

मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति = मुद्रा की मात्रा × प्रचलन वेग

उदाहरणार्थ यदि एक निश्चित अवधि में 500 रुपए एक के बाद एक दूसरे 10 हाथों में जाता हो और हर बार वह विनिमय माध्यम का कार्य करता हो, तो इसका प्रचलन वेग 5000 (500 × 10) हुआ और इस अवधि में मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति भी 5,000 रुपए होगी।

हॉय का मत है कि मुद्रा का प्रचलन वेग व्यक्तियों, व्यापारिक फर्मों तथा अन्य व्यक्तियों के मध्य किसी निश्चित अवधि में होने वाले मौद्रिक हस्तांतरणों की संख्या को बताता है। इस संख्या में सभी प्रकार के हस्तांतरण को सम्मिलित किया जाता है। यह हस्तांतरण उपभोक्ता या उत्पादक या वित्तीय लेन-देन से सम्बन्धित हो सकते हैं। मुद्रा के प्रचलन वेग का सम्बन्ध केवल उस मुद्रा से रहता है, जो कि चलन में रहती है। जो मुद्रा संचित मुद्रा या स्थिर मुद्रा होती है, उसमें प्रचलन वेग नहीं होता है। मुद्रा का प्रयोग सभी प्रकार के कामों एवं लेने- देन के सम्बन्ध में किया जाता है। प्रचलन का यह रूप मुद्रा के नकद भुगतान वेग को दर्शाता है। **इरविंग फिशर** ने मुद्रा के मूल्य निर्धारण में इसी प्रकार की मुद्रा का प्रयोग किया था।

प्राय: मुद्रा की समस्त इकाइयों का प्रचलन वेग एक समान नहीं होता है। मुद्रा के विभिन्न रूपों में प्रचलन-वेग पृथक-पृथक रहता है। साधारण मुद्रा, बैंक मुद्रा, भिन्न-भिन्न मूल्यों के सिक्कों एवं नोटों के प्रचलन वेग में अन्तर पाया जाता है। मुद्रा की विभिन्न इकाइयों, उनके विविध रूपों एवं उनके विविध प्रयोगों के आधार पर प्रचलन-वेग के भिन्न-भिन्न औसत ज्ञात किए जाते हैं और इस औसत के आधार पर ही कुल मुद्रा का प्रचलन-वेग ज्ञात किया जाता है।

प्रचलन-वेग के प्रकार (Kinds of Velocity of Money)

प्रचलन-वेग के विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं :-

(1) **मुद्रा का नकद भुगतान वेग** - व्यक्तियों, संस्थाओं, फर्मों व बैंकों आदि के द्वारा किया जाने वाला सभी प्रकार का क्रय-विक्रय एवं लेन- देन को मुद्रा का नकद भुगतान वेग के नाम से जानते हैं।

(2) **मुद्रा का आय प्रचलन वेग** :- देश में मुद्रा के प्रयोग को वस्तुओं व सेवाओं के क्रय- विक्रय के रूप में देखा जाए और उसे निश्चित अवधि में राष्ट्र की कुल वास्तविक आय में सम्मिलित किया जाए, तो उसे मुद्रा का आय प्रचलन वेग कहा जाता है।

इस प्रकार मुद्रा का आय प्रचलन वेग किसी वर्ष में मुद्रा की पूर्ति का उस वर्ष की राष्ट्रीय आय के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। वास्तविक राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होने वाली वस्तुओं व सेवाओं के लेन-देन का आकार समस्त प्रकार के लेन देन के आकार से छोटा होता है, जिससे आय प्रचलन वेग मुद्रा के नकद भुगतान वेग की अपेक्षा छोटा होता है।

(3) **मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग** :- मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग उस औसत समय-विस्तार को व्यक्त करता है जो एक अन्तिम आय प्राप्तकर्त्ता से दूसरे अन्तिम आय प्राप्तकर्त्ता के मध्य मुद्रा प्रवाह के लिए आवश्यक हो या एक वर्ष की अवधि में विभिन्न आय प्राप्तकर्त्ताओं के बीच मुद्रा-प्रवाह के चक्रों की मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग कहा जाता है।

सूत्र रूप में -

$$V = \frac{PQ}{M} \quad \text{or} \quad \frac{NNP}{M}$$

यहाँ पर V = आय प्रचलन वेग,

P = कीमत स्तर,

Q = वस्तुओं की कुल मात्रा

M = मुद्रा की पूर्ति

$NNP = P \times Q$ (कीमत × वस्तुओं की कुल मात्रा)

मुद्रा के प्रचलन वेग को प्रभावित करने वाली दशाएँ
(Factors affecting Velocity of Money)

व्यवहार में मुद्रा का प्रचलन वेग कभी स्थिर नहीं रहता है। इसे प्रभावित करने वाले प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं :-

(1) **मुद्रा की मात्रा** :- यदि मुद्रा की मात्रा कम हो, तो मुद्रा का प्रचलन वेग अधिक रहता है, क्योंकि उसका प्रयोग बार-बार करना पड़ता है। इसके विपरीत यदि मुद्रा अधिक मात्रा में उपलब्ध है, तो प्रचलन वेग कम हो जाता है।

(2) **नकद क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति** :- नकद क्रय विक्रय की प्रवृत्ति अधिक होने पर प्रचलन-वेग अधिक हो जाता है। उधार क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति होने पर प्रचलन वेग कम हो जाता है।

(3) **जनता की तरलता पसन्दगी** :- यदि जनता नकदी को अपने पास अधिक मात्रा में रखती है तो प्रचलन वेग कम हो जाएगा और तरलता पसन्दगी कम होने पर प्रचलन वेग अधिक हो जाएगा।

(4) **मजदूरी भुगतान का ढंग** :– मजदूरी भुगतान की अवधि लम्बी होने पर श्रमिक को नकद धन बचाकर रखना पड़ता है, जिससे प्रचलन-वेग कम हो जाता है। मजदूरी का दैनिक या साप्ताहिक भुगतान होने पर प्रचलन वेग अपेक्षाकृत अधिक हो जाएगा।

(5) **मूल्य सम्बन्धी भावी अनुमान** :– यदि भविष्य में मूल्य बढ़ने का अनुमान हो, तो वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है और मुद्रा के प्रचलन-वेग में वृद्धि हो जाएगी। भविष्य में कीमतें गिरने की आशंका होने पर लोग अपनी माँग को भविष्य के लिए टाल देते हैं और उससे प्रचलन वेग कम हो जाता है।

(6) **राजनैतिक शान्ति** :– देश में राजनैतिक शान्ति होने पर उधार की प्रथा बढ़ जाती है और प्रचलन-वेग कम हो जाता है। राजनैतिक अस्थिरता होने पर अविश्वास बढ़ जाता है और नकद भुगतान की प्रवृत्ति बढ़ जाती है जिससे प्रचलन-वेग भी बढ़ जाता है।

(7) **साख-मुद्रा की गतिशीलता** :– साख मुद्रा की गतिशीलता अधिक होने पर साख-मुद्रा के प्रचलन वेग में वृद्धि हो जाती है। देश की अधिक सम्पन्नता, आर्थिक विकास व बैंकिंग प्रणाली का विकास साख मुद्रा के प्रचलन वेग को बढ़ाती है।

(8) **आर्थिक विकास का स्तर** :– यदि देश में आर्थिक विकास का स्तर ऊँचा है तो विनिमय में वृद्धि होती है और उससे प्रचलन वेग में भी वृद्धि हो जाती है। पिछड़ी हुई व कम विकसित अर्थव्यवस्था में प्रचलन-वेग अपेक्षाकृत कम होता है।

(9) **मजदूरी प्राप्ति का ढंग** :– मजदूरी भुगतान का ढंग भी प्रचलन वेग को प्रभावित करता है। नकद मजदूरी मिलने पर प्रचलन वेग बढ़ेगा, अन्यथा नहीं।

(10) **यातायात व सन्देशवाहन के साधन** :– देश में यातायात व सन्देशवाहन के साधन उन्नत दशा में होने पर विनिमय का क्षेत्र व्यापक हो जाता है और उससे प्रचलन वेग भी बढ़ जाता है। बड़े शहरों में प्राय: मुद्रा का प्रचलन वेग अधिक ही रहता है।

(11) **उधार सम्बन्धी सुविधाएँ** :– उधार सम्बन्धी सुविधाओं के कारण क्रय-विक्रय प्रोत्साहित हो जाता है जिससे प्रचलन वेग कम हो जाता है। उधार सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव में नकद भुगतान बढ़ जाते हैं और प्रचलन वेग बढ़ जाता है।

(12) **भुगतान की औसत अवधि** :– यदि उधार सौदों के भुगतान की अवधि अधिक है तो प्रचलन वेग भी कम हो जाएगा और यदि भुगतान थोड़े समय के बाद कर दिया जाए, तो मुद्रा का प्रचलन वेग भी अधिक हो जाएगा।

(13) **उपभोग की प्रवृत्ति** :– यदि देश में उपभोग की प्रवृत्ति अधिक है, तो प्रचलन वेग अधिक हो जाएगा और यदि देश में बचत की प्रवृत्ति बलवान व प्रबल है तो मुद्रा का प्रचलन-वेग भी कम हो जाएगा।

वास्तव में किसी निश्चित अवधि में मुद्रा की पूर्ति का अनुमान लगाना किसी निश्चित अवधि हेतु अनुमान लगाने से अधिक सरल माना जा सकता है।

मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन
(Changes in the Money Supply)

प्रत्येक देश में मुद्रा की पूर्ति तीन मुख्य स्रोतों से प्राप्त होती है :–

(i) सरकार, (ii) केन्द्रीय बैंक एवं (iii) वाणिज्यिक बैंक।

यह तीनों स्रोत ही विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियाँ प्राप्त करते हैं और इन्हीं के आधार पर मुद्रा का निर्माण किया जाता है जो कि दायित्व का निर्माण करते हैं। यह दायित्व माँग पर देय होने से ऋणों व अन्य भुगतानों के माध्यम से स्वीकार किया जाता है। देश में सरकार व केन्द्रीय बैंक द्वारा साधारण मुद्रा का निर्माण किया जाता है और वाणिज्यिक बैंक द्वारा बैंक मुद्रा का निर्माण किया जाता है। इनका

NOTES

देश की मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों को जानने हेतु (i) साधारण मुद्रा एवं (ii) बैंक मुद्रा के निर्माण से होने वाली प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है।

(i) सरकार **एवं केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन** :- देश में केन्द्रीय बैंक या सरकार सर्वोच्च मौद्रिक संस्था के रूप में मुद्रा की पूर्ति को नियंत्रित करता है। नोट-निर्गमन का एकाधिकार केवल सरकार को रहता है। साख-नियंत्रण के अधिकारों का प्रयोग करके केन्द्रीय बैंक द्वारा देश के वाणिज्य बैंकों के आरक्षित कोष व साख निर्माण की शक्ति को प्रभावित किया जाता है, परन्तु व्यवहार में, सरकार व केन्द्रीय बैंक निर्धारित मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति का पालन करते हैं। कुशल मौद्रिक प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक है कि मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों में समन्वय हों। केन्द्रीय बैंक सरकार के एक अंग के रूप में कार्य करता है फिर भी एक स्वायत्त संस्था के रूप में उसका स्वतंत्र अस्तित्व भी रहता है।

(ii) **हीनार्थ प्रबन्धन** :- केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के नोटों के अतिरिक्त छोटे व सहायक सिक्के व कम मूल्य के नोट भी जारी करती है। मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन सरकार की राजकोषीय नीति के आधार पर किया जाता है। जब कभी भी सरकार द्वारा किए जाने वाले व्यय की मात्रा उसकी आय से अधिक हो जाए, तो इस घाटे की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लिया जाता है।

सरकार अपने संचित कोषों का उपयोग कर सकती है, इससे कोषों में रखी निष्क्रिय मुद्रा सक्रिय हो जाती है और मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है, परन्तु सीमित कोष होने के कारण, इनका उपयोग अधिक समय तक किया जाना सम्भव नहीं हो पाता है।

अर्द्ध विकसित देशों में केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर भी घाटे की पूर्ति की जा सकती है। जमानत के रूप में ट्रेजरी बिल व प्रतिभूतियों को रखकर नोट छापे जा सकते हैं और इससे भी मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है।

अत: स्पष्ट है कि घाटे के बजट बनाने से मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है और बचत वाले बजट बनाने पर मुद्रा की पूर्ति में कमी हो जाती है। विदेशी विनिमय के घाटे से भी मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है।

(iii) **मौद्रिक लोच** :- मौद्रिक लोच की मात्रा भी सरकार द्वारा अपनायी गयी मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति से प्रभावित होती है। देश में व्यापार व उद्योग की स्थिति और आर्थिक विकास के स्तर में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन लाना जरूरी हो जाता है। जब यह परिवर्तन अनियंत्रित हो, तो उसका प्रभाव मुद्रा के मूल्य पर पड़ता है। मुद्रा की पूर्ति में प्रत्येक वृद्धि उचित नहीं मानी जाती है, परन्तु इससे आय एवं उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिलती है जो कि अर्थव्यवस्था के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकती है।

(iv) **बैंक मुद्रा का निर्माण** :- बैंक मुद्रा को मुद्रा की पूर्ति का एक आवश्यक अंग माना जाता है। बैंकों के पास जमा राशि होती है, जिसके आधार पर बैंक पर चैक लिखे जाते हैं। यह जमा राशि दो प्रकार की होती है :-

(a) **नकद जमा** :- यह धन ग्राहकों द्वारा बैंक में जमा किया जाता है जिसे नकद जमा या प्रारम्भिक जमा कहा जाता है।

(b) **साख जमा** :- जब बैंक ग्राहक को ऋण देता है तो ऋण की राशि नकदी में न देकर उसके खाते में जमा कर दी जाती है, जिसे साख-जमा कहा जाता है।

बैंकों को प्राप्त होने वाली प्रारम्भिक जमा का एक अनुपात नकद कोष में रखकर शेष ऋण के रूप में दे दिया जाता है। बैंकों द्वारा दिए जाने वाले ऋण, फिर बैंक मुद्रा का रूप ले लेते हैं, क्योंकि इस राशि को चैक द्वारा निकाला जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि बैंक साख का निर्माण करते हैं। यह पाया गया है कि बैंकों के पास जितनी राशि जमा के रूप में जमा की जाए उससे अनेक गुनी अधिक राशि ऋणों के रूप में जनता को दी जाती

है। अत: यह प्रक्रिया साख निर्माण की सहायता से ही पूरी हो पाती है। व्यक्तिगत रूप से कोई भी अकेला बैंक साख का सृजन करने में असमर्थ रहता है, परन्तु सामूहिक रूप से सभी बैंक मिलकर साख का निर्माण करने में सफल हो जाते हैं।

देश में जमाओं का निर्माण उस समय सम्भव हो पाता है जबकि :-

(i) बैंकों द्वारा दिए गए ऋणों की माँग नकदी में न की जाए।

(ii) कुल जमा के एक निश्चित अनुपात से अधिक बैंकों को अपने पास नकद कोष नहीं रखने पड़ते हों।

(iii) जनता द्वारा बैंकों से ऋणों की माँग की जानी चाहिए, एवं

(iv) बैंक भी अपनी अधिकतम सीमा तक ऋण देने को तैयार हों।

प्राय: विकसित देशों में अर्द्धविकसित देशों की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति में बैंक मुद्रा का अनुपात अधिक ऊँचा रहता है। मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन लाने में बैंकों का योगदान महत्वपूर्ण रहता है। परन्तु बैंकों की साख निर्माण की शक्ति असीमित नहीं होती है। साख निर्माण की मूल शक्ति बैंकों के नकद कोष पर निर्भर है। नकद कोषों का अनुपात निम्न तीन बातों पर निर्भर करता है :-

(i) जनता द्वारा नकदी की माँग, (ii) बैंकों की स्थिति,

(iii) बैंकों पर कानूनी प्रतिबन्ध।

किसी भी देश में साख की मात्रा (i) देश की मौद्रिक व्यवस्था, (ii) केन्द्रीय बैंक की साख सम्बन्धी नीति, (iii) देश की सामान्य आर्थिक स्थिति, (iv) व्यापार की स्थिति, (v) ऋण लेने वालों की स्थिति, (vi) प्रतिभूतियों का स्वभाव, (vii) ऋण की जमानत, (viii) अनुकूल परिस्थितियाँ आदि।

भारत में मुद्रा-पूर्ति की माप विधि

(Method of Measurement of Money Supply in India)

रिजर्व बैंक द्वारा मौद्रिक स्टाक को मापा जाता है जिसके लिए मौद्रिक स्टाक को निम्न चार भागों में विभाजित किया गया है :-

(1) M_1 = जनता को उपलब्ध चलन की मात्रा,

(2) M_2 = M_1 तथा डाक खाने के बचत खाते में जमा राशियाँ,

(3) M_3 = M_1 तथा बैंकों की काल जमा राशि,

(4) M_4 = M_1 तथा डाकखानों के बचत संगठन की कुल जमा राशियाँ।

मुद्रा उपलब्धि को प्रभावित करने वाले तत्व

(Factors affecting Money Supply)

मुद्रा उपलब्धि को प्रभावित करने वाले मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं :-

(1) **सरकारी बैंक साख** :- इसमें रिजर्व बैंक से प्राप्त की गयी शुद्ध साख एवं अन्य बैंकों से प्राप्त की गयी साख की राशियाँ सम्मिलित की जाती है।

(2) **शुद्ध विदेशी विनिमय सम्पत्तियाँ** :- इसमें रिजर्व बैंक तथा अन्य बैंकों की शुद्ध विदेशी विनिमय सम्पत्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

(3) **व्यावसायिक बैंक साख** :- इसमें व्यावसायिक क्षेत्र द्वारा रिजर्व बैंक तथा अन्य बैंकों से प्राप्त की गयी साख की राशियों को सम्मिलित किया जाता है।

(4) **शुद्ध संचलन दायित्व** :- इसमें सरकार का जनता के प्रति शुद्धसंचलन दायित्व को लिया जाता है।

इस राशि के योग में से बैंकिंग क्षेत्र के अमौद्रिक दायित्व की राशि को घटा देने पर जनता के पास मुद्रा उपलब्धि की राशि ज्ञात हो जाती है।

NOTES

मुद्रा की माँग
(Demand for Money)

मुद्रा की प्रकृति एवं कार्यों के आधार पर मुद्रा की माँग दो प्रकार से की जा सकती है :-

(1) मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है, तथा

(2) मुद्रा मूल्य का संचय करती है।

(1) **विनिमय माध्यम के रूप में मुद्रा की माँग** (Demand of Money as Exchange of Medium):- प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि मुद्रा की माँग का आधार इसकी विनिमय के रूप में उपयोगिता है। मुद्रा में क्रय शक्ति होने के कारण इसकी माँग की जाती है। मुद्रा की इस विशेषता के कारण ही बाजार से वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकता है। मुद्रा की माँग प्रत्यक्ष रूप से न होकर व्युत्पन्न माँग रहती है। किसी देश में मुद्रा की माँग किसी निश्चित अवधि में विनिमय हेतु उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है।

अत: मुद्रा की माँग का निर्धारण निम्न तीन तत्वों पर निर्भर करता है :-

(i) वर्तमान उत्पादन एवं वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य,

(ii) अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग होने वाली वस्तुओं का मूल्य,

(iii) ऐसी वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य जो पहले से ही हो।

विनिमय के लिए उपलब्ध वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा अनेक बातों से प्रभावित होती है। यह बातें हैं :-

(i) उत्पत्ति के साधनों की बहुलता, (ii) उत्पादन के साधनों की कुशलता, (iii) वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान, (iv) उत्पत्ति का पैमाना, (v) व्यापारिक संगठन, (vi) उत्पत्ति के साधनों का रोजगार स्तर, (vii) उत्पादन व उपभोग में अन्तर, (viii) वस्तुओं के हस्तांतरण की गति, (ix) जनसंख्या का आकार, (x) प्राकृतिक साधन व देश का क्षेत्रफल, (xi) मुद्रा की पूर्ति।

इन सभी कारणों का अल्पकाल में कोई परिवर्तन न होने की सम्भावना के कारण लेन- देन के लिए मुद्रा की माँग भी अल्पकाल में स्थिर रहती है। मुद्रा की माँग एक निश्चित अवधि से सम्बन्धित होने के कारण मुद्रा की मात्रा पर प्रचलन वेग का भी प्रभाव पड़ता है।

(2) **नकद कोष के रूप में मुद्रा की माँग** (Demand of Money in the form of Cash Reserve) **या मूल्य संचय** (Store of Value) - केम्ब्रिज अर्थशास्त्री व आधुनिक विचारधारा वाले अर्थ शास्त्रियों का मत था कि मुद्रा की माँग पर मुद्रा के मूल्य संचय का प्रभाव पड़ता है। उनके अनुसार मुद्रा की माँग से आशय राष्ट्रीय आय के उस अनुपात से है, जिसे समाज अपने पास किसी निश्चित समय पर नकद कोष के रूप में रखना चाहता हो। इस माँग का आधार राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होने वाली वस्तुएँ व सेवाएं होती हैं।

मुद्रा की माँग का उसके प्रचलन वेग से सर्वथा विपरीत सम्बन्ध रहता है। जब भी मुद्रा की माँग विनिमय के रूप में की जाए तो मुद्रा की गति समस्त लेन-देन से सम्बन्धित रहती है। नकद कोष के रूप में मुद्रा की माँग करने पर गति का सम्बन्ध उन वस्तुओं के लेन-देन से रहता है जो राष्ट्र की कुल वास्तविक आय में सम्मिलित रहती हो। इसे आय प्रचलन वेग कहा जाता है। आय प्रचलन वेग का आकार सदैव लेन-देन प्रचलन वेग की तुलना में छोटा रहता है।

तरलता पसन्दगी का प्रभाव
(Effects of Liquidity Preference)

केन्स के अनुसार, साधनों को नकदी के रूप में रखने की पसन्दगी तीन उद्देश्यों से की जाती है जो कि निम्न हैं :-

(1) **लेन-देन उद्देश्य** :- लेन-देन हेतु नकदी की माँग उपभोक्ताओं व व्यापारियों द्वारा ही की जाती है। अपने चालू व्ययों की पूर्ति हेतु व्यापारियों द्वारा नकद कोष की माँग व्यावसायिक उद्देश्य का रूप ग्रहण कर सकती है।

(2) **सतर्कता उद्देश्य** :- भविष्य में आकस्मिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु व्यक्ति, परिवार तथा व्यवसायी सतर्कता की दृष्टि से अपनी बचतों को नकदी के रूप में रखना चाहते हैं।

(3) **सट्टा उद्देश्य** :- भविष्य की अनिश्चितता से प्रभावित होकर जब नकदी की माँग इस उद्देश्य से की जाए कि भविष्य में मूल्य तथा लाभ से सम्बन्धित बाजारों के अनुपातों की अपेक्षा, सही अनुमान लगाना व लाभ अर्जित करना ही सट्टा उद्देश्य माना जाता है।

अत: लेन-देन सम्बन्धी उद्देश्य की पूर्ति में मुद्रा विनिमय माध्यम का कार्य करती है तथा सतर्कता उद्देश्य व सट्टा उद्देश्य में मुद्रा मूल्य संचय का कार्य करती है। इन तीनों उद्देश्यों से की गयी माँग का योग ही मुद्रा की कुल माँग मानी जाती है।

विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मुद्रा की माँग भिन्न-भिन्न तत्वों पर निर्भर करती है। लेन-देन व सतर्कता उद्देश्य से की गयी मुद्रा की माँग आय सापेक्ष होती है और आय में परिवर्तन के आधार पर परिवर्तित होती रहती है। इन पर प्राय: ब्याज दर का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है, परन्तु सट्टा उद्देश्य से की गयी मुद्रा की माँग ब्याज दर पर ही निर्भर करती है।

सूत्र के रूप में –

$$M_1 = L_1(y),$$

$$M_2 = L_2(r),$$

$$M = M_1 + M_2 = L_1(y) - L_2(r)$$

यहां पर :

M = मुद्रा की कुल माँग,

M_1 = लेन-देन व सतर्कता उद्देश्य हेतु मुद्रा की माँग,

M_2 = सट्टा उद्देश्य हेतु मुद्रा की माँग,

$M = M_1 + M_2$

L_1 = M_1 की तरलता पसन्दगी,

L_2 = M_2 की तरलता पसन्दगी

y = आय

r = ब्याज दर

लेन-देन के उद्देश्य से की गयी नकदी की माँग, सक्रिय मुद्रा की माँग कही जाती है। इसका सम्बन्ध राष्ट्रीय आय के परिवर्तन के साथ रहता है। इसे रेखाचित्र से स्पष्ट किया जा सकता है :-

चित्र 7.1 से स्पष्ट है कि जैसे- जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती जाती है, वैसे ही वैसे मुद्रा की माँग में भी वृद्धि होती जाती है। **सतर्कता के उद्देश्य** से की गयी मुद्रा की माँग का उद्देश्य मुद्रा का सक्रिय रूप से प्रयोग किया जाना सम्भव नहीं हो पाता परन्तु इसकी मात्रा भी आय के परिवर्तनों के साथ सम्बन्धित रहती है।

ब्याज दर पर सट्टा उद्देश्य से की गयी मुद्रा माँग का अधिक प्रभाव पड़ता है और सट्टा उद्देश्य से की गयी माँग आय की निर्धारक मानी जाती है। ब्याज दर के परिवर्तनों का लेन-देन व सतर्कता उद्देश्य से की गयी मुद्रा की माँग पर भी प्रभाव पड़ता है।

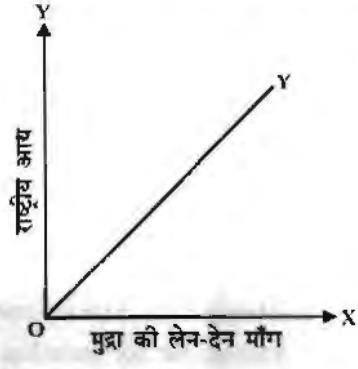

चित्र 7.1

NOTES

ब्याज दर का सट्टे के उद्देश्य से मुद्रा की माँग पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्न चित्र से स्पष्ट कर सकते हैं :-

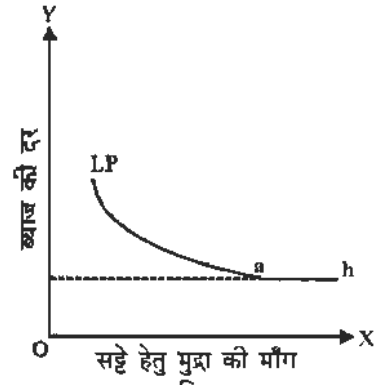

चित्र 7.2

चित्र 7.2 से स्पष्ट है कि ब्याज दर ऊँची होने पर सट्टा उद्देश्य हेतु मुद्रा की माँग भी कम हो जाती है। जैसे- जैसे ब्याज दर गिरती जाती है, सट्टे के लिए नकदी की माँग भी बढ़ती जाती है। तरलता पसन्दगी वक्र LP है जो नीचे की ओर चपटा भाग ah यह प्रदर्शित करता है कि ब्याज दर बहुत कम हो जाने के कारण मुद्रा की ब्याज दर सापेक्षता अनन्त हो जाती है और इस अवस्था को तरलता ट्रेप (Liquidity Trap) कहा जाता है।

मुद्रा की माँग व पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करते हैं जिससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था भी प्रभावित हो जाती है। मुद्रा की माँग व पूर्ति में होने वाले परिवर्तन ही बचत व विनियोग की मात्राओं को प्रभावित करते हैं। इसी के आधार पर निश्चित समय में आर्थिक सन्तुलन का स्तर भी निर्धारित किया जाता है।

मिल्टन फ्रिडमैन का दृष्टिकोण
(Attitude of Milton Friedman)

मुद्रा को धन संचय करने की एक सम्पत्ति माना गया है। मुद्रा की माँग का सिद्धान्त पूंजी सिद्धान्त का ही एक भाग है। धन संचय करने वाली इकाइयों के द्वारा मुद्रा की माँग करते समय निम्न तीन बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है :-

(i) विभिन्न सम्पत्तियों में संचय किए जाने वाले धन का आकार,

(ii) धन का संचय करने वालों की पसन्दगी एवं रुचि,

(iii) विभिन्न सम्पत्तियों की सापेक्ष कीमत एवं उनसे प्राप्त आय का आकार।

सम्पत्तियों पर प्राप्त होने वाली ब्याज दर तथा कीमत स्तर में परिवर्तन की दर के आधार पर नकद कोष को रखने की लागत की माप की जा सकती है। प्राय: मुद्रा की माँग व उसकी लागत में विपरीत सम्बन्ध रहता है। मुद्रा से सुविधा, सुरक्षा व सरलता के रूप में उपयोगिता प्राप्त होती है जिसका मूल्य स्तर से विपरीत सम्बन्ध रहता है। मुद्रा के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियों से केवल आय ही प्राप्त होती है।

फ्रिडमैन के अनुसार मुद्रा के स्टाक में परिवर्तन होने पर मूल्य स्तर या आय में उसी अनुपात में परिवर्तन हो जाता है। मुद्रा की माँग स्थिर होने पर मुद्रा की पूर्ति से मूल्य स्तर में आनुपातिक परिवर्तन आ जाता है। देश में वास्तविक आय का स्तर, कुल चलन एवं बैंकों की माँग व काल जमा राशि से जुड़ा रहने के कारण, आर्थिक स्थिरता बनाए रखने हेतु मुद्रा की पूर्ति पर उचित नियंत्रण रखना आवश्यक हो जाता है। मुद्रा की माँग में परिवर्तन करने पर मूल्य स्तर का निर्धारण हो जाता है। मौद्रिक सन्तुलन में मुद्रा की माँग व पूर्ति में सन्तुलन बना रहता है। यह सन्तुलन मौद्रिक नीति के उपयोग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. मुद्रा की पूर्ति के विभिन्न अंगों का वर्णन कीजिए तथा बताइए कि उनमें परिवर्तन किन कारणों से आते हैं?

   Mention the various components of the supply of money and explain the factors responsible for variation.

2. मुद्रा की माँग क्यों की जाती है ? उद्देश्यों के आधार पर मुद्रा की माँग की व्याख्या कीजिए।
Why money is demanded? Explain the demand of money on the basis of its objects.

3. लेन-देन व सर्तकता उद्देश्यों से की गयी मुद्रा की माँग आय के द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु सट्टा उद्देश्य से की गयी माँग आय को निर्धारित करती है। विवेचना कीजिए।
The transactions and precautionary demand for money is income determined while, the speculative demand for money is income determining. Discuss.

4. 'मुद्रा के प्रचलन वेग' व 'आय प्रचलन वेग' में अन्तर दीजिए। इसे प्रभावित करने वाले कारण दीजिए।
Distinguish between velocity of circulation of money and the income velocity of money. Explain the factor affecting them.

5. मुद्रा की माँग किस प्रकार की जाती है। तरलता पसन्दगी के प्रभाव को समझाइए।
How demand for money is made? Explain the effects of liquidity preference.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. मुद्रा की माँग क्यों की जाती है ?
Why money is demanded?

2. मुद्रा का प्रचलन वेग क्या है ?
What is velocity of circulation of money?

3. प्रचलन वेग के प्रकार समझाइये।
Explain the types of velocity of money.

4. मुद्रा की माँग क्या है ?
What is demand for money.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. अनिश्चितता की स्थिति में मुद्रा की माँग का विश्लेषण किसने किया है-
(अ) नाइट (ब) वॉमोल (स) टॉबिन (द) कीन्स
Who analysed the demand of money is uncertainity:
(a) Knight (b) Bamol (c) Tobbin (d) Keynes

2. मुद्रा की माँग के सिद्धान्त हैं-
(अ) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (ब) केन्सीय सिद्धान्त
(स) आधुनिक सिद्धान्त (द) उपरोक्त सभी
Theories of the demand of money is:
(a) Quantity theory of money (b) Keynsian theory
(c) Modern Theory (d) All of above

3. संकीर्ण मुद्रा है-
(अ) M_3 (ब) M_1 (स) M_4 (स) M_2
Narrow money is:
(a) M_3 (b) M_1 (c) M_4 (d) M_2

उत्तर- 1. (स), 2. (द) 3. (ब)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

8

मुद्रा का मूल्य
(VALUE OF MONEY)

प्रारम्भिक – प्राय: मुद्रा की क्रय शक्ति ही उसका मूल्य मानी जाती है। "तुलनात्मक दृष्टि से यह कहना सरल है कि मुद्रा का मूल्य वही है जो वह क्रय करेगी। यह एक सरल अतिरिक्त प्रयास है कि ऊँचे मूल्य हो जाने पर मुद्रा का मूल्य गिर जाता है।"

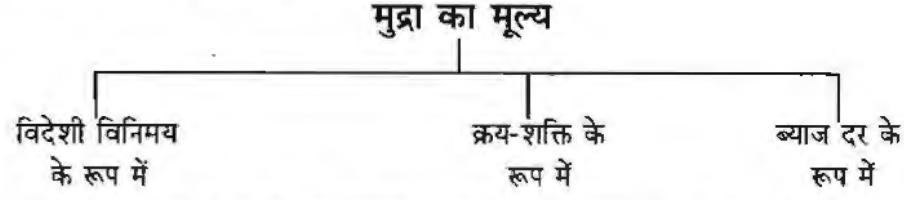

अर्थशास्त्र में मुद्रा के मूल्य का आशय कई प्रकार से लगाया जा सकता है, जैसे –

(i) विदेशी विनिमय के रूप में,

(ii) क्रय-शक्ति के रूप में, एवं

(iii) ब्याज दर के रूप में।

(i) **विदेशी विनिमय** – मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध विदेशी विनिमय दर से लगाया जाता है अर्थात् स्वदेशी मुद्रा के बदले जो मात्रा विदेशी मुद्रा की प्राप्त हो उसे ही उसका मूल्य कहेंगे। जैसे 1 ब्रिटिश पौण्ड का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य 2.6 डालर के समान है और यह दर घटकर 2.5 डालर हो जाये तो यह कहा जायेगा कि पौण्ड के मूल्य का ह्रास हो रहा है।

(ii) **क्रय-शक्ति** – मुद्रा की क्रय-शक्ति से भी मुद्रा का मूल्य जाना जाता है। यह विभिन्न वस्तुओं के औसत से सम्बन्धित होती है। यह माप सूचनांकों द्वारा होता है। यदि वस्तु मूल्यों का सूचनांक 1951 में 100 था और 1976 में यह बढ़कर 220 हो जाये तो इसका तात्पर्य यह होगा कि वस्तु के मूल्य में 120 प्रतिशत वृद्धि हो गयी है और मुद्रा मूल्य गिर गया है।

(iii) **ब्याज दर** – मुद्रा बाजार में मुद्रा का क्रय-विक्रय किया जाता है और उसके बदले में जो ब्याज दी जाती है उसी को मुद्रा का मूल्य कहा जाता है।

इस प्रकार वस्तुओं के मूल्य मुद्रा में व्यक्त किये जाते हैं, परन्तु मुद्रा का मूल्य मुद्रा में ही व्यक्त करना उचित नहीं रहता है। मुद्रा के मूल्य से आशय उसकी क्रय-शक्ति से लगाया जाता है। "मुद्रा के मूल्य से हमारा आशय मुद्रा की एक इकाई के बदले सामान्य रूप से क्रय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा से लगाया जाता है।" अत: मुद्रा की क्रय-शक्ति को वस्तुओं व सेवाओं के रूप में, जनता की उपयोगिता के आधार पर ही व्यक्त करना चाहिए। "चूँकि मुद्रा की क्रय-शक्ति मुद्रा की इकाई द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है, अत: संयुक्त वस्तु के मूल्य से इसे मापा जा सकता है, जो अनेक व्यक्तिगत वस्तुओं एवं सेवाओं से व्यय करने के उद्देश्य के महत्व के आधार पर मिलकर बनी है।" मुद्रा मूल्य सामान्य मूल्य-स्तर से विपरीत धारणा लिए होता है। सामान्य मूल्य-स्तर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का औसत मात्र होता है। **फिशर** के अनुसार, "मुद्रा की क्रय-शक्ति, मूल्यों के स्तर से विपरीत दिशा में होती है और मुद्रा की क्रय-शक्ति का अध्ययन एवं मूल्य-स्तरों का अध्ययन लगभग समान होता है।" यदि सामूहिक रूप से मूल्यों में वृद्धि होती है तो मुद्रा मूल्य घट जाता है और उनमें कमी होने पर वह बढ़ जाता है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तनों का अनुमान किसी एक वस्तु के आधार पर नहीं लगाना चाहिए, बल्कि विभिन्न वस्तुओं की औसत कीमतों के आधार पर ज्ञात करना चाहिए।

किनले के अनुसार "मुद्रा का मूल्य, सीमान्त विनिमय में प्रदान की गई सेवाओं का पूँजीकृत मूल्य है।" निरपेक्ष रूप में मुद्रा को मापना असम्भव है, अत: उचित यही होता है कि विशेष प्रकार के सौदों के लिए मुद्रा का मूल्य मापा जाये। इसके अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य में होने वाले सामयिक परिवर्तनों को मापना अधिक कठिन एवं महत्वपूर्ण है। व्यावहारिक जीवन में भी सापेक्षिक दृष्टि से ही मुद्रा का महत्व जाना जा सकता है और मुद्रा का निरपेक्ष मूल्य कोई विशेष महत्व नहीं रखता। मुद्रा की पूर्ति अन्य वस्तुओं से सदैव भिन्न होती है और मुद्रा एक सीमित चलन वाली वस्तु कहलाती है। वर्तमान समय में कागजी मुद्रा की प्रत्येक इकाई को बार-बार प्रयोग किया जा सकता है, जबकि वस्तुओं की इकाइयाँ एक ही बार उपयोग में लाई जाती है। मुद्रा एक उच्चतम वस्तु मानी जाती है क्योंकि वह समस्त वस्तुओं के मूल्य मापक का कार्य करती है। इस प्रकार समाज में समस्त वस्तुओं के क्रय-विक्रय का कार्य मुद्रा द्वारा ही किया जाता है।

मुद्रा एवं वस्तुओं में अन्तर

(Difference Between Money and Commodities)

प्रो. राबर्टसन की मान्यता है कि मुद्रा भी वस्तु की ही भाँति है, अत: उसका मूल्य भी माँग एवं पूर्ति द्वारा ही निर्धारित होता है। वास्तव में मुद्रा एवं अन्य वस्तुओं में अन्तर निम्नलिखित है –

(1) **मूल्य का अन्तर** – मुद्रा का वस्तु के रूप में कम मूल्य होता है, जबकि वस्तु का अपना मूल्य होता है और उसकी अपनी उपयोगिता होती है।

(2) **विनिमय का माध्यम** – समाज की समस्त वस्तुयें विनिमय के लिए मुद्रा पर निर्भर करती हैं और मुद्रा ही वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करती है और वस्तुओं की सक्रिय मात्रा मुद्रा की क्रय शक्ति को प्रभावित करती है।

(3) **निर्गमन में भिन्नता** – मुद्रा का निर्गमन वस्तुओं से भिन्न माना जाता है। वस्तुओं का उत्पादन श्रम, पूँजी एवं भूमि आदि तत्वों के सहयोग से होता है, परन्तु मुद्रा का प्रचलन, उसकी मात्रा, किस्म आदि सरकार की मुद्रा नीति पर निर्भर करते हैं।

(4) **उपयोग का अन्तर** – मुद्रा अनेक व्यक्तियों को हस्तांतरित होती रहती है जबकि वस्तुयें एक बार में ही अन्तिम उपभोग में आ जाती हैं।

मुद्रा का मूल्य बिना योग्यता के अर्थहीन होता है, क्योंकि मुद्रा के मूल्य के अनगिनत मूल्य होते हैं जो उपयोग के आधार पर ज्ञात किये जाते हैं। अत: इसके समाधान के लिए मुद्रा के मूल्य के कुछ निश्चित प्रमापों की स्थापना करना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए प्राय: तीन प्रमाण स्थापित किये जाते हैं।

(i) बाजार में वस्तुओं के लिए दर्शाये गये मूल्य के रूप में मुद्रा के मूल्य का अध्ययन किया जाता है।

(ii) मुद्रा के मूल्य का आशय परिवार द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं से लगाया जाता है।

(iii) तृतीय अर्थ में इसका आशय श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी से लगाया जाता है।

इस प्रकार मुद्रा के मूल्य की सही परिभाषा देना कठिन कार्य है। अनेक स्थानों में मुद्रा के मूल्य से आशय थोक मूल्य, फुटकर मूल्य अथवा श्रम मूल्य से भी लगाया जा सकता है। मुद्रा एवं वस्तुओं का एक निकट सम्बन्ध यह है कि मुद्रा की मात्रा द्वारा ही वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये जाते हैं और इसी प्रकार वस्तुओं की मात्रा द्वारा ही मुद्रा का मूल्य निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा एवं वस्तुओं का आपसी सम्बन्ध काफी घनिष्ठ है।

मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त

(Commodity Theory of Money)

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व प्राय: सभी राष्ट्रों में किसी न किसी धातु के सिक्के चलन में रहते थे। इससे पूर्व अनेक प्रकार की धातुयें विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग की जाती थीं। प्रत्येक मुद्रा किसी

न किसी धातु की बनी हुई होती है और प्रत्येक इकाई का मूल्य उसमें निहित वस्तुओं के मूल्यों पर निर्भर करता है। इसमें मुद्रा इकाई का स्वयं कोई महत्व नहीं होता, बल्कि उसका मूल्य वस्तु के मूल्य पर निर्भर करेगा। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन वस्तु के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करेगा। इसमें मुद्रा का मूल्य निर्धारण करने

में सरकारी नीति को कोई भी महत्व नहीं दिया जाता। यह भी मान्यता है कि स्वर्णकोषों के पर्याप्त मात्रा में होने पर ही मुद्राओं के मूल्य में स्थायित्व लाया जा सकता है। मुद्रा के पीछे रखे जाने वाले कोषों का महत्व पुन: बढ़ रहा है। विश्व में मुद्रा स्फीति के कारण स्वर्ण मूल्य में वृद्धि करना सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार वस्तु सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि स्वर्णमान को पुन: अपनाया जा रहा है। वस्तु सिद्धान्त इतिहास की कल्पना-मात्र है और व्यवहार में उसका कोई विशेष महत्व नहीं है।

मुद्रा के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माँग एवं पूर्ति की सापेक्षिक - शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। जिस प्रकार माँग बढ़ने से मूल्य बढ़ने तथा मूल्य घटने से माँग घटने लगती है उसी प्रकार माँग में वृद्धि होने पर मूल्य में वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित हो जाता है जहां माँग एवं पूर्ति समान हों। "एक राष्ट्रीय मुद्रा का आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य होता है। मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से आशय घरेलू वस्तुओं एवं सेवाओं की क्रय शक्ति से होता है, जबकि उसका बाह्य मूल्य विदेशी विनिमय दर होती है जो कि विदेशी मुद्रा का घरेलू मूल्य होती है।" मुद्रा का मूल्य भी वस्तु की भाँति उसकी माँग एवं पूर्ति द्वारा निश्चित किया जाता है।

मुद्रा की माँग (Demand of Money)

एक असाधारण वस्तु की माँग उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता पर निर्भर करती है, मुद्रा की माँग भी उसकी उपयोगिता के कारण ही है परन्तु इसका स्वरूप भिन्न प्रकार का होता है और मुद्रा की उपयोगिता केवल वस्तुओं को क्रय करने के लिए ही है। मुद्रा की माँग उसके विनिमय माध्यम होने पर निर्भर करती है। अत: वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा का जो विनिमय किया जाता है उसी को मुद्रा की माँग कहते हैं।

मुद्रा की माँग = मूल्य × वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा

सूत्र रूप में $D = P \times T$

यहाँ पर D = मुद्रा की माँग, P = मूल्य

T = वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की माँग से आशय विनिमय के सौदे की मात्रा से लगाया है। इसे व्यावसायिक दृष्टिकोण कहा जाता है।

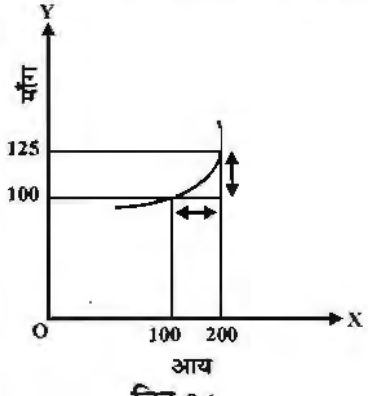

चित्र 8.1

कीन्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति 3 कार्यों के लिए मुद्रा की माँग करता है –

(1) **सौदा उद्देश्य** – प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक भाग दैनिक कार्यों के लिए रखता है जिसे सौदा उद्देश्य कहते हैं। चित्र 8.1 में दिखाया गया है कि जब आय 100 है तो माँग 100 है और आय 200 होने पर माँग बढ़कर 125 हो जाती है।

(2) **सट्टा उद्देश्य** – सट्टेबाज भविष्य में होने वाले ब्याज की दर में परिवर्तनों से लाभ उठाने हेतु मुद्रा अपने पास नकदी में रखते हैं जिसे सट्टा उद्देश्य कहते हैं। इसके लिए मुद्रा की माँग अत्यन्त अनिश्चित एवं शीघ्र परिवर्तनशील होती है। ब्याज

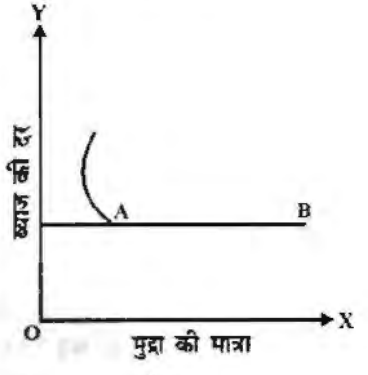

चित्र 8.2

दर घटने पर मुद्रा की माँग बढ़ती है तथा ब्याज दर बढ़ने पर माँग घटती है जैसा कि चित्र 8.2 में दिखाया गया है।

(3) **दूरदर्शिता उद्देश्य** – प्रत्येक व्यक्ति आकस्मिक दायित्वों व आवश्यकताओं के लिए नकद मुद्रा अपने पास रखना पसन्द करते हैं। इस उद्देश्य से उत्पन्न मुद्रा की माँग स्थिर होती है, जिसमें भारी परिवर्तन नहीं आते हैं।

मुद्रा की कुल माँग

मुद्रा के सौदा उद्देश्य, सट्टा उद्देश्य एवं दूरदर्शिता उद्देश्य से उत्पन्न मुद्रा की माँग के योग को मुद्रा की कुल माँग कहते हैं।

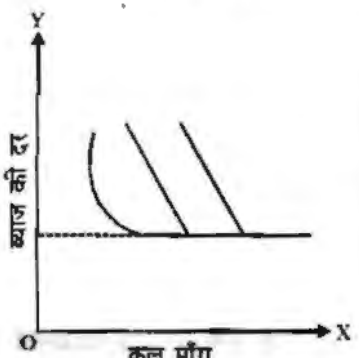

चित्र 8.3

सूत्र रूप में $M = M_1 + M_2 + M_3$ यहाँ पर M =कुल माँग, M_1 = सौदा उद्देश्य की माँग, M_2 = सट्टा उद्देश्य की माँग, M_3 = दूरदर्शिता उद्देश्य से उत्पन्न माँग। इसे चित्र 8.3 द्वारा भी दिखाया गया है।

मुद्रा की माँग को प्रभावित करने वाले तत्व

मुद्रा की माँग वस्तुओं की मात्रा पर निर्भर करती है और वस्तुओं की मात्रा निम्न बातों से प्रभावित होती है –

(1) **उत्पत्ति के साधनों की कार्यक्षमता** – वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति के साधनों की कार्यक्षमता पर निर्भर करता है। यदि साधन कम हैं, परन्तु उनकी कार्यक्षमता अधिक है तो कुल उत्पादन में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि साधन अधिक होते हुए भी अनुत्पादक व कम कुशल हैं तो उत्पादन की मात्रा भी कम हो जायेगी।

(2) **वस्तुओं के हस्तान्तरण की गति** – प्राचीन समय में उत्पादक स्वयं उपभोक्ता होता था और विनिमय की आवश्यकता नहीं होती थी व मुद्रा की माँग कम हो जाती थी। आजकल श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के कारण उत्पादक से वस्तुएं उपभोक्ता तक पहुँचने में अनेक मध्यस्थों का सहारा लिया जाता है, फलस्वरूप मुद्रा की माँग में वृद्धि हो जाती है।

(3) **रोजगार स्तर** – यदि उत्पत्ति के साधनों का रोजगार स्तर पूर्ण है तो उत्पत्ति की मात्रा अधिक होती है, इसके विपरीत पूर्ण स्थिति से कम रोजगार स्तर पर उत्पत्ति की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार जब किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था निम्न रोजगार स्तर की ओर बढ़ रही हो तो मुद्रा की माँग अधिक हो जाती है। यदि ऐसे अवसर पर नवीन मुद्रा का प्रसार कर दिया जाये तो स्फीतिक स्थिति उत्पन्न होगी जो देश के लिए हानिप्रद होगी।

(4) **उत्पत्ति का पैमाना** – बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने एवं व्यापारिक संगठनों में प्रतियोगिता होने पर अधिक मात्रा में उत्पादन सम्भव किया जाता है जिससे मुद्रा की मात्रा की आवश्यकता बढ़ जाती है। इसके विपरीत लघु स्तर पर उत्पादन करने एवं एकाधिकार की परिस्थिति होने पर उत्पत्ति की मात्रा में कमी हो जाती है और मुद्रा की माँग में भी कमी हो जाती है।

(5) **उत्पत्ति के साधनों की मात्रा** – यदि देश में उत्पत्ति के साधन अधिक हैं तो उत्पादन अधिक होगा एवं पूँजी की माँग बढ़ेगी। इसके विपरीत उत्पत्ति के साधनों में कमी होने पर उत्पादन कम होगा तथा मुद्रा की माँग भी कम हो जायेगी।

(6) **अन्य बातें** – मुद्रा की माँग पर अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ता है जैसे नवीन प्रतिभूतियों का निर्गमन, जनसंख्या का आकार, प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता, राष्ट्र का भौगोलिक क्षेत्रफल आदि। इनमें वृद्धि होने पर मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और कमी होने पर माँग घट जाती है।

इस प्रकार "एक व्यक्ति की कुल प्रभावशाली माँग एक निश्चित समयावधि में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से (साख द्वारा) व्यय की गई मुद्रा की मात्रा से निर्धारित की जाती है।" यही नियम सम्पूर्ण समाज के लिए माँग का निर्धारण करते समय लागू किया जाता है।

NOTES

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)

मुद्रा की पूर्ति से आशय उन समस्त वस्तुओं की सामूहिक मात्रा से है जो किसी समय में देश के अन्दर विनिमय के माध्यम के रूप में प्रचलित होती हैं। इसमें समस्त प्रकार की प्रामाणिक, सांकेतिक व अन्य मुद्रा को सम्मिलित कर लिया जाता है। इस सम्बन्ध में मुद्रा की पूर्ति से आशय मुद्रा की समस्त मात्रा या चलन में मुद्रा की मात्रा से लगाया जाता है। इस प्रकार किसी देश में धातु मुद्रा, कागजी मुद्रा एवं साख मुद्रा के सम्मिलित योग को चलन की मात्रा में सम्मिलित किया जाता है।

मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व

देश में मुद्रा की पूर्ति निम्न तत्वों से प्रभावित होती है –

(1) **सरकार का अधिकार** – सरकार को नोट छापने का अधिकार होने से मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित किया जाता है। यदि किसी समय चलन की मात्रा या नोटों की मात्रा में वृद्धि हो जाये तो मुद्रा की पूर्ति में भी वृद्धि हो जाती है।

(2) **व्यक्तिगत स्वभाव व द्रव्यता पसन्दगी** – यदि जनता वस्तु विनिमय प्रणाली से काम चला लेती है या अपनी बचत को बचाकर नकद में रखना पसन्द करती है तो इससे मुद्रा की पूर्ति प्रभावित होती है।

(3) **साख मुद्रा का प्रभाव** – यदि देश में साख मुद्रा का अधिक प्रसार है तो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होगी और मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियंत्रण की नीति अपनाई जाती है। साख नियंत्रण ढीला हो जाने पर साख मुद्रा के चलन में वृद्धि हो जाती है और नियंत्रण में कठोरता अपनाने पर साख मुद्रा में कमी होकर मुद्रा की पूर्ति में कमी हो जाती है।

(4) **मुद्रा की गति** – मुद्रा का वेग अधिक होने पर थोड़ी सी मुद्रा की मात्रा ही अधिक मुद्रा इकाइयों का कार्य कर सकती है। इसके विपरीत यदि चलन वेग कम है तो अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ेगी। देश में चलन मुद्रा एवं साख मुद्रा दोनों ही मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करती है।

(5) **नकद कोष** – प्रत्येक बैंक को अपने पास निर्धारित मात्रा में नकद कोष रखना पड़ता है और केन्द्रीय बैंक उसमें आवश्यक मात्रा में घटा-बढ़ी करने के आदेश दे सकती है। यदि नकद कोष में अधिक मात्रा रखी जाती है तो वह चलन से बाहर हो जाती है और मुद्रा की पूर्ति को कम कर देती है।

(6) **स्वर्ण का सुरक्षित कोष** – प्राचीन समय में धातु के सिक्कों की मात्रा स्वर्ण कोष पर निर्भर रहती थी। इसी प्रकार जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए कागजी मुद्रा के पीछे स्वर्ण की व्यवस्था की जाती थी। सुरक्षित कोष में वृद्धि होने पर मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया जा सकता था, अन्यथा नहीं।

(7) **वस्तु की मात्रा** – यदि देश में वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तो मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाया जाता है।

मुद्रा का मूल्य निर्धारण

जिस प्रकार एक वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति के साम्य पर निर्धारित होता है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी उसकी माँग एवं पूर्ति के साम्य पर स्थापित हो जाता है। जब कभी भी माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन होता है तो पुराना साम्य बिगड़ जाता है और नया संतुलन स्थापित हो जाता है तथा मुद्रा का नवीन मूल्य निर्धारित हो जाता है।

मुद्रा का राजकीय सिद्धान्त
(State Theory of Money)

कहा जाता है कि मुद्रा का मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित होता है। **फेड्रिक नैप** के अनुसार "चलन मुद्रा की आत्मा उसकी इकाइयों में निहित पदार्थ में नहीं है, बल्कि उन वैधानिक अध्यादेशों में है जो इसके प्रयोग का नियमन करते हैं।" आधुनिक काल में मुद्रा के निर्गमन, नियमन एवं मात्रा निर्धारण आदि का कार्य सरकार करती है और जनता उसे व्यवहार में लाती है। सरकार कभी-कभी विभिन्न वस्तुओं के मूल्य भी निर्धारित कर देती है।

सिद्धान्त की आलोचनायें – (1) इन तर्कों में यथेष्ट शक्ति है, परन्तु सम्पूर्ण सत्यता नहीं पायी जाती। केवल राजकीय सत्ता के आधार पर मुद्रा का चलन स्थापित रखना असम्भव है।

(2) मुद्रा मूल्य निर्धारित करने में मुद्रा की मात्रा का प्रभाव पड़ता है न कि सरकार का।

(3) वस्तुओं के मूल्य नियंत्रण द्वारा मुद्रा का मूल्य निर्धारित करना सम्भव नहीं हो पाता।

अतः स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल्य में सरकार की इच्छानुसार परिवर्तन नहीं होते, बल्कि उसके निर्धारण मे शासन का हाथ कम होता है।

मुद्रा की गति
(Velocity of Money)

मुद्रा का कार्य वस्तुओं व सेवाओं में विनिमय करना है और इस कार्य को करने में मुद्रा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथों में हस्तांतरित होती रहती है। इस प्रकार किसी दिये हुए समय में मुद्रा की कोई इकाई वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदने के लिए कितनी बार एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तांतरित होती है, उसके औसत को ही मुद्रा की गति कहेंगे। मुद्रा की मात्रा को उसकी गति से गुणा करने पर मुद्रा की पूर्ति को ज्ञात किया जा सकता है। मुद्रा की पूर्ति उसकी चलन की गति पर निर्भर करती है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर रखने पर उसकी चलन गति में कमी या वृद्धि करने पर मुद्रा की पूर्ति में कमी या वृद्धि की जा सकेगी।

गति को प्रभावित करने वाली बातें

मुद्रा की गति को प्रभावित करने वाली प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं –

(1) **नकद खरीदने की आदत** – यदि समाज में वस्तुओं को नकद में खरीदने की आदत है तो बार-बार नकद रुपया देने के कारण समाज में चलन की गति बढ़ जायेगी। यदि समाज में उधार क्रय करने की आदत है तो तत्काल भुगतान न करने के कारण मुद्रा की गति घट जायेगी।

(2) **भुगतान अवधि** – यदि क्रय किये गये सामान का भुगतान वर्ष में एक या दो बार ही किया जाता है तो मुद्रा की चलन गति कम हो जायेगी। इसके विपरीत यदि भुगतान थोड़े-थोड़े समय के उपरान्त किया जाये तो चलन की गति तीव्र होगी।

(3) **मजदूरी भुगतान का ढंग** – यदि मजदूरी दैनिक न देकर साप्ताहिक या मासिक आधार पर दी जाती है तो मजदूरों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक मात्रा में नकद धनराशि रखनी होगी, फलस्वरूप मुद्रा की चलन की गति में वृद्धि होगी।

(4) **मूल्य अनुमान** – यदि भविष्य में मूल्यों के बढ़ने की सम्भावना हो तो जनता अपनी मुद्रा के बदले में वस्तुएँ खरीदना अधिक पसन्द करेगी, जिससे मुद्रा की गति में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि मुद्रा संकुचन के कारण मूल्य गिरने की सम्भावना हो तो क्रय-विक्रय क्रियाओं में कमी हो जाती है, जिससे मुद्रा की चलन गति में कमी होगी।

(5) **राजनैतिक स्थिरता** – यदि देश में राजनैतिक स्थिरता है तथा परस्पर प्रेम, विश्वास व आस्था है तो मुद्रा की चलन गति कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि सरकार अस्थायी हो, परस्पर अविश्वास हो तो उधार की प्रथा कम हो जाती है और मुद्रा के चलन की गति भी गिर जाती है।

(6) **जमा का हस्तांतरण** – यदि धनराशि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के खाते में जल्दी-जल्दी हस्तांतरित की जाती है तो गति में कमी हो जाती है। इसके विपरीत व्यवस्था होने पर गति में वृद्धि हो जाती है।

(7) **उधार सुविधायें** – यदि माल को उधार पर प्राप्त करने की सुविधाओं में वृद्धि हो जाती है तो मुद्रा का उपयोग कम होने से उसकी गति में कमी हो जायेगी। यदि उधार सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं तो गति में वृद्धि हो जायेगी।

(8) **जनसंख्या की मात्रा** – देश में जनसंख्या घनी व अधिक होने पर मुद्रा एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तांतरित होती रहती है और चलन की गति भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत जनसंख्या कम हो जाने पर मुद्रा की चलन गति भी कम हो जाती है।

(9) **आर्थिक विकास** – यदि आर्थिक दृष्टि से देश विकसित है तो वहाँ अधिक मात्रा में विनिमय होगा और मुद्रा की गति में वृद्धि होगी। इसी प्रकार यदि राष्ट्र अविकसित है तो चलन मुद्रा की गति में कमी हो जायेगी।

(10) **परिवहन के साधन** – यदि देश में परिवहन के उन्नत साधन हैं तो वस्तुओं का विक्रय अधिक होने लगता है, फलस्वरूप मुद्रा की गति बढ़ जाती है। इसके विपरीत परिवहन के साधनों के अभाव में मुद्रा की गति भी गिर जाती है।

(11) **द्रवता पसन्दगी** – यदि समाज में नकद में अधिक धन रखने की प्रथा है तो देश में चलन की गति कम होगी। इसके विपरीत यदि कम मात्रा में नकद धन रखा जाये तो मुद्रा की चलन गति भी अधिक होगी।

(12) **बचत की आदत** – यदि आय का एक बहुत बड़ा भाग बचत के रूप में रख लिया जाये तो मुद्रा की चलन गति कम होगी। यदि व्यक्ति अपनी आय का अधिकांश भाग व्यय कर देता है तो मुद्रा की चलन गति में वृद्धि हो जाती है।

(13) **मुद्रा की मात्रा** – यदि समाज में मुद्रा की कुल मात्रा कम है तो उसकी गति में वृद्धि होगी इसके विपरीत यदि पर्याप्त मात्रा में मुद्रा उपलब्ध है तो उसको अधिक प्रयोग में लाया जा सकता है और मुद्रा की गति कम हो जायेगी।

अत: मुद्रा की गति को उपर्युक्त कारण प्रभावित करते हैं, जिन पर मानव का नियंत्रण नाम-मात्र को ही होता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1 मुद्रा के मूल्य से क्या आशय है? मुद्रा एवं वस्तु में अन्तर बताइए।
What is meant by value of money ? Differentiate between money and commodity.

2 मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त बताइए। मुद्रा की माँग व पूर्ति क्या है ? मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व दीजिए।
Mention the commodity theory of money. What is demand and supply of money? Give the elements affecting the supply of money.

3 मुद्रा की गति से क्या आशय है? गति को प्रभावित करने वाली बातें दीजिए।
What is meant by velocity of money? Give the factors affecting velocity.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. मुद्रा के मूल्य से क्या आशय है?
What is meant by value of money?

2. मुद्रा एवं वस्तु में क्या अन्तर है?
Differentiate between money and commodity.

3. मुद्रा की गति से आप क्या समझते हैं?
What do you understand by veolocity of money?

4. मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व दीजिये।
Give the elements of affecting the supply of money.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. "मुद्रा के मूल्य से हमारा आशय सामान्य रूप में वस्तुओं की उस मात्रा से है, जोकि मुद्रा की एक इकाई के द्वारा विनिमय में प्राप्त होती है।" यह कथन है-

(अ) केन्स (ब) रॉबर्टसन (स) नाइट (द) टॉबिन

By value of money we mean the amount of things in general which will be given in exchange for a unit of money.

(a) Keynes (b) Robertson (c) Knight (d) Tobbin

उत्तर-1. (ब)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

9

मुद्रा का तरलता सिद्धांत
(LIQUIDITY THEORY OF MONEY)

प्रस्तावना
(Introduction)

तरलता सिद्धांत नीति की नई धारणा है, जिसे गुर्ले एवं शॉ तथा रेडक्लिफ (Radcliffe) रिपोर्ट द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह सिद्धांत आर्थिक क्रिया और समस्त माँग को प्रभावित करने में तरलता परिसम्पत्तियों की भूमिका को उजागर करता है। इस सिद्धांत के अनुसार गैर-बैंक वित्तीय मध्यस्थ (NBFIs) तरलता और मौद्रिक नीति के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

व्यापक अर्थ में, तरलता का अर्थ मुद्रावाद (moneyness) है। तरलता में परिसम्पत्तियों को मुद्रा में कम लागत पर आसानी से बदलने का गुण होता है।

मुद्रा सबसे अधिक महत्वपूर्ण तरल परिसम्पत्ति है जिसमें सिक्के, करेंसी और बैंक जमा शामिल होते हैं। इसका कारण यह है कि वे मुद्रा के विनिमय के माध्यम का कार्य करते हैं। बैंक जमाओं के बारे में केवल **माँग जमा** मुद्रा है क्योंकि चैक उनके आधार पर ही जारी किये जा सकते हैं। इस प्रकार चैक, मुद्रा का पूर्ण स्थानापन्न होते हैं, परन्तु सावधि जमा **वास्तविक** मुद्रा नहीं होती बल्कि **निकट मुद्रा** होती है।

सावधि जमा के अतिरिक्त अन्य निकट मुद्रा परिसम्पत्तियाँ हैं : बाँड, प्रतिभूतियाँ, ऋण-पत्र, विनिमय बिल, ट्रेजरी बिल, बीमा-पालिसी आदि। ऐसी सभी प्रकार की परिसम्पत्तियाँ **कम** तरल होती हैं।

केन्द्रीय बैंक द्वारा सिक्के और नोट जारी कर तथा कमर्शियल बैंकों माँग जमाओं का निर्माण कर तरलता उत्पन्न की जाती है। केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा पूर्ति में परिवर्तन लोगों की पोर्टफोलियो परिसम्पत्तियों में पुन: समायोजन या परिवर्तन लाकर तरलता प्रभावित करती है। यह समस्त व्यय पर मुद्रा पूर्ति के प्रभाव पर निर्भर करता है। यदि स्टॉक मार्किट में तेजी होती है तो लोग शेयर खरीद सकते हैं और तरलता कम हो जाती है। दूसरी ओर, यदि स्टॉक मार्किट में अनिश्चितता होती है तो लोग बढ़ी हुई मुद्रा पूर्ति को बैंक जमाओं में रख सकते हैं या यदि वे सम्पत्ति की कीमतों में वृद्धि की आशा करते हैं तो सम्पत्ति में निवेश कर सकते हैं, परन्तु अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक ही 'सस्ती' या 'महँगी' मौद्रिक नीति का पालन कर मुद्रा पूर्ति को प्रभावित करता है। यह समस्त व्यय नियंत्रित कर ऐसा करता है, जिससे व्यवसाय क्रिया, उत्पादन और रोजगार प्रभावित होते हैं।

रेडक्लिफ रिपोर्ट और गुर्ले तथा शॉ ने अलग-अलग दर्शाया है कि NBFIs ने अर्थव्यवस्था में मुद्रा पूर्ति को बढ़ाने में मौद्रिक नीति प्रभाव को कम किया है क्योंकि वे अर्थव्यवस्था में तरलता के एक बहुत बड़े भाग को नियंत्रित करते हैं।

रेडक्लिफ समिति का मत : रेडक्लिफ-सेयरस् थीसिस
(The Radcliffe Committee View : Radcliffe-Sayers Thesis)

रेडक्लिफ समिति ने अपनी रिपोर्ट में इस मुद्रावादी धारणा को स्वीकार नहीं किया कि मुद्रा पूर्ति और राष्ट्रीय आय में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यदि केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियों को बेचकर संकुचित मौद्रिक नीति का पालन करना चाहता है तो गैर-बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियों को बेचकर संकुचित मौद्रिक नीति का पालन करना चाहता है तो गैर-बैंक वित्तीय मध्यस्थ करेंसी और निष्क्रिय (idle) माँग जमाओं को मार्किट में निकाल सकते हैं। इस प्रकार वे मुद्रा पूर्ति की कमी की पूर्ति करेंगे और समस्त माँग को अपरिवर्तित रहने देंगे।

रेडक्लिफ समिति के अनुसार, तरलता ही वस्तुओं और सेवाओं की कुल प्रभावी माँग को प्रभावित करती है, न कि मुद्रा पूर्ति। समिति ने निष्कर्ष निकाला कि "वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय करने के निर्णय–वे निर्णय जो कुल माँग स्तर को निर्धारित करते हैं–व्यय करने वालों की तरलता द्वारा प्रभावित होते हैं।" इस प्रकार, तरलता के अन्तर्गत मुद्रा की वह राशि शामिल होती है जो लोग उधार लेकर या पूँजी परिसम्पत्तियों को बेचकर, बिक्री या आय से रख सकते हैं।

दूसरा तत्व, जिसके द्वारा मौद्रिक अधिकारी सम्पूर्ण तरलता के स्तर को और फलस्वरूप समस्त व्यय के स्तर को प्रभावित कर सकता है, ब्याज दर होती है। वह ब्याज दरों के ढाँचे को दक्षता के साथ चलाकर सम्पूर्ण तरलता ढाँचा को प्रभावित करता है। जब ब्याज दरें बढ़ती हैं तो वे तरलता बढ़ाती हैं, क्योंकि वे व्यक्तियों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा रखी गई परिसम्पत्तियों का पूँजी मूल्य घटाती हैं। वित्तीय संस्थाएँ ऋण योग्य कोषों की पूर्ति घटती हैं। चूँकि व्यक्ति और व्यवसाय कोषों को प्राप्त नहीं कर सकते हैं इसलिए वे अपने व्यय को घटाते हैं। दूसरी ओर, ब्याज दर में कमी "तुलन-पत्रों" (balance sheet) को मजबूत बनाती है और उधारदाताओं को नया व्यवसाय खोजने के लिए प्रोत्साहित करती हैं।

इस संक्रमण तंत्र के आधार पर समिति ने निष्कर्ष निकाला कि मौद्रिक नीति 'पृष्ठभूमि कार्य' का पालन करती है। इसने सोचा कि व्यवसाय निवेश अल्पकालीन ब्याज दरों में परिवर्तनों का असंवेदनशील है, परन्तु यह दीर्घकालीन ब्याज दरों से प्रभावित होता है। इसलिए दीर्घकालीन ब्याज दरों का तीव्र उतार-चढ़ाव करना वांछनीय होता है क्योंकि तीव्र उतार-चढ़ाव वित्तीय संस्थाओं की मजबूती और स्थिरता को कमजोर करेंगे। मौद्रिक अधिकारी को उस स्तर पर दीर्घकालीन ब्याज दरों को रखने की कोशिश करनी चाहिए जो अर्थव्यवस्था में बचत और निवेश के बीच निकट संतुलन कायम रख सके।

समिति ने तीव्र अवस्फीतिकारी या तीव्र स्फीतिकारी स्थितियों में केवल मौद्रिक नीति पर भरोसे का समर्थन नहीं किया। मंदी के दौरान गृह-निर्माण कार्य पर कम दीर्घकालीन ब्याज दरों का संभावित प्रभाव और साख-नियंत्रण को हटाने के अतिरिक्त, मौद्रिक नीति अधिक आवश्यक नहीं मानी गई। इस प्रकार, समिति के मत में "सामान्यत: तीव्र मंदी के सामने केवल मौद्रिक नीति की संभाविताएँ इस कहावत द्वारा अच्छी तरह व्यक्त की जाती है कि" आप घोड़े को पानी तक ले जा सकते हो परन्तु उसे पीने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। इसी तरह, समिति तीव्र स्फीति के दौरान मुद्रा पर किसी प्रतिबन्ध के विरुद्ध थी। इसने बैंक अग्रिम उपभोक्ता साख और पूँजीगत निर्गमों के नियंत्रण द्वारा व्यय करने वालों की तरलता पर प्रत्यक्षत: तथा तीव्रता से प्रहार करने के उपायों की सिफारिश की, परन्तु इसने गैर-बैंक वित्तीय मध्यस्थों की उधार देने की शक्ति पर नियंत्रण का समर्थन नहीं किया। नई वित्तीय संस्थाएँ आएँगी जो मौद्रिक अधिकारी के लिए स्थिति का नियंत्रण कठिन बना देंगी। इस प्रकार, रेडफिल्ड समिति ने दीर्घकालीन ब्याज दरों में परिवर्तनों के माध्यम से 'तरलता नियंत्रणों' का सुझाव दिया। इसके अनुसार, "भीतर और बाहर के तीव्र दबावों द्वारा प्रभावित एक अर्थव्यवस्था को केवल मौद्रिक उपायों के अच्छे संतुलन में रखने का भरोसा नहीं किया जा सकता।"

आलोचनाएँ (Criticisms)

रेडक्लिफ समिति के विचारों को आगे लिखे आधारों पर कटु आलोचना की गई है –

(1) अन्य अर्थशास्त्रियों ने इस रिपोर्ट को "पूर्णरूपेण गड़बड़, पूँजी-प्रवाह दर्शाती गड़बड़ तरलता गड़बड़ और ब्याज दर गड़बड़" के रूप में वर्णित किया।

(2) प्रो. गुर्ले ने रेडक्लिफ रिपोर्ट के अपने पुनरावलोकन में "लोगों की मुद्रा में तरलता की इच्छा को संतुष्ट करने के लिए, तरलता की धारणा में और मुद्रा पूर्ति की भूमिका को लेकर सर्वत्र उलझन पाई।"

(3) इसने तरलता या तरल परिसम्पत्तियों को ठीक-ठीक परिभाषित नहीं किया, जो तरलता की सम्पूर्ण धारणा को अव्यवस्थित बनाता है।

(4) अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा पूर्ति की अपेक्षा अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण तरलता के नियंत्रण का समर्थन करने के कारण इसकी आलोचना की है।

NOTES

गुर्ले-शॉ का मत
(Gurley-Shaw's View)

गुर्ले और शॉ के अनुसार, NBFIs वित्तीय परिसम्पत्तियों को तरलता और सुरक्षा प्रदान करती हैं तथा उत्पादक उद्देश्यों के लिए अंतिम उधारदाताओं से अंतिम उधार लेने वालों का कोषों के हस्तांतरण में सहायता करती हैं। वे पूँजी-निर्माण में वृद्धि करती हैं और परिणामस्वरूप आर्थिक वृद्धि लाती हैं।

मध्यस्थ अंतिम उधार लेने वालों से प्राथमिक प्रतिभूतियों को खरीदकर तथा अंतिम उधारदाताओं को अप्रत्यक्ष प्रतिभूतियाँ बेचकर, साख की उपलब्धता और ब्याज दरों के स्तर और ढाँचे को प्रभावित करते हैं। वे कमर्शियल बैंकों से भिन्न साख का निर्माण करते हैं।

उनके अनुसार, NBFIs की बचत जमाएँ कमर्शियल बैंकों की माँग जमाओं के समरूप होती हैं, क्योंकि NBFIs के लिए अपनी बचत जमाओं को नकदी में परिवर्तित करना कठिन नहीं होता है। कमर्शियल बैंकों या NBFIS की चे बचत जमाएँ, सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए उतनी ही तरल होती हैं जितनी की माँग जमाएँ होती हैं। NBFIs द्वारा रखी जाने वाली ऐसी बचत जमाएँ निकट-मुद्रा के नाम से जानी जाती हैं।

यदि केन्द्रीय बैंक केवल मुद्रा पूर्ति में कटौती द्वारा अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त तरलता को नियंत्रित करना चाहता है, तो वह सफल नहीं होगा, क्योंकि NBFIs की बचत जमाएँ नकदी में परिवर्तित की जा सकती है। इसी तरह, यदि केन्द्रीय बैंक कमर्शियल बैंकों द्वारा उधार को नियंत्रित करने का प्रयास करता है तो वह सफल नहीं होगा। केन्द्रीय बैंक स्फीति को नियंत्रित करने के लिए मुद्रा पूर्ति घटाता है तो अन्य प्रभावों के बीच, बाजार प्रतिभूतियों पर ब्याज दरें बढ़ती हैं। ऊँचे प्रतिफल और लाभों के पूर्वानुमान के कारण NBFIs अधिक प्रतिफल वाली प्रतिभूतियों में निवेश करने के लिए अधिक कोषों को आकर्षित करने हेतु अपनी बचत जमाओं पर ब्याज दरें बढ़ाएँगे।

जिन लोगों के पास पहले से ही प्रतिभूतियाँ रखी हुई हैं, वे पाते हैं कि उनकी कीमतें वर्तमान प्रतिभूतियों पर ब्याज दरों में वृद्धि के कारण गिर गई हैं। इसलिए उन्हें बेच देंगे और अपने कोषों को मध्यस्थों के पास जमा करेंगे ताकि उनकी बचत जमाओं पर अधिक ब्याज दर कमा सकें। इस बीच, अधिक ब्याज दरों से आकर्षित होकर अन्य लोग जो निष्क्रिय नकदी शेष रखे होते हैं, वे भी उनको मध्यस्थों के पास जमा करेंगे। इसलिए जब NBFIs अपनी बचत जमाओं पर ब्याज दरें बढ़ाते हैं तो लोग अपनी मुद्रा की माँग घटाते हैं, जो आगे ब्याज की बाजार दर घटाती है।

परन्तु रेडक्लिफ रिपोर्ट के विपरीत, गुर्ले तथा शॉ तर्क देते हैं कि प्रभावी मौद्रिक नीति के लिए NBFIs पर केन्द्रीय बैंक का नियंत्रण बढ़ाया जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि NBFIs अधिक निकट-मुद्रा परिसम्पत्तियों का निर्माण करते हैं और जिससे सम्पूर्ण तरलता प्रभावित होती है, जो आगे समस्त माँग और आर्थिक क्रिया को प्रभावित करती है।

आलोचनाएँ (Critisms)

गुर्ले तथा शॉ के मत की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है –

(1) NBFIs की तीव्र वृद्धि से मौद्रिक नीति को प्रभावशीलता को शक्ति मिली है न कि वह कमजोर हुई है, जहाँ NBFIs को नियंत्रित किया गया है।

(2) इसके अतिरिक्त जब तक लोग बैंक जमा को मध्यस्थों की अप्रत्यक्ष प्रतिभूतियों में सरलता से स्थानांतरित नहीं करते हैं, तो मध्यस्थों की मौजूदगी आर्थिक क्रिया पर केन्द्रीय बैंक के प्रभाव को बढ़ा सकती है।

(3) **प्रो. जॉनसन** (Prof. Johnson) गुर्ले तथा शॉ के मत से सहमत नहीं है। उसे अनुसार, "केन्द्रीय बैंक को कमर्शियल बैंकों पर नियंत्रण की तरह वित्तीय मध्यस्थों पर नियंत्रण बढ़ाने का अधिकार देने का कोई प्रमाणित दावा नहीं है। यह विश्वास करने का थोड़ा-सा भी कारण नहीं है कि केन्द्रीय बैंक का नियंत्रण वित्तीय मध्यस्थों की उपस्थिति के कारण कमजोर हुआ।"

निष्कर्ष (Conclution)

रेडक्लिफ और गुर्ले एवं शॉ दोनों के मतों की कमियों के बावजूद, वे तरलता निर्माण में NBFIs की भूमिका को उजागर करते हैं तथा तरलता समस्त माँग और आर्थिक क्रिया को प्रभावित करती है। वे इस पर बल देते हैं कि मौद्रिक नीति की सफलता मुद्रा पूर्ति को नहीं, बल्कि सामान्य तरलता को नियंत्रित करने पर निर्भर करती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. मुद्रा का तरलता सिद्धान्त को समझाइये एवं तरलता पसन्दगी के प्रभाव की विवेचना कीजिये।
   Explain the liquidity theory of money and describe the effects of liquidity preference.
2. मुद्रा का तरलता सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? इसके महत्व की विवेचना कीजिये।
   What do you understand by liquidity theory of money. Describe its importance.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. मुद्रा का तरलता सिद्धान्त क्या है?
   What is Liquidity theory of Money?
2. गुर्ले-शॉ का मत समझाइये।
   Explain the Gurley-Shaw's view.
3. मुद्रा का तरलता सिद्धान्त की आलोचनायें बताइये।
   Discuss the criticisms of Liquidity theory of Money.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. रेडक्लिफ समिति की रिपोर्ट के प्रकाशित होने का वर्ष है-
   (अ) 1959 (ब) 1952 (स) 1950 (द) 1955
   The Report of Redeliffe Committee was published in :
   (a) 1959 (b) 1952 (c) 1950 (d) 1955
2. निम्नलिखित में से कौन निकट मुद्रा है-
   (अ) सावधि जमा (ब) माँग जमा (स) करेन्सी (द) कोई नहीं

उत्तर- 1. (अ), 2. (अ)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

10

वाणिज्यिक बैंकिंग
(COMMERCIAL BANKING)

प्रारम्भिक – वर्तमान औद्योगिक युग में बैंकों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जो समाज की विभिन्न प्रकार से सेवाएँ करते हैं जिनका हमारे आर्थिक जीवन में अधिक महत्व है। वर्तमान समय में बैंकिंग व्यवस्था समाज के आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गई है। विभिन्न राष्ट्रों की बैंकिंग पद्धति में अन्तर पाये जाते रहे, परन्तु आधुनिक समय में समस्त राष्ट्रों में बैंकिंग प्रणाली केन्द्रीय बैंकिंग पद्धति के आधार पर विकसित हो रही है जिसके प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं – (1) व्यापारिक बैंक (Commercial Bank) ; (2) केन्द्रीय बैंक (Central Bank), एवं (3) अन्य सहायक संस्थाएँ (Other Subsidiary Institutions)।

व्यापारिक बैंक व केन्द्रीय बैंक में अन्तर
(Difference Between Commercial Bank and Central Bank)

व्यापारिक बैंक एवं केन्द्रीय बैंक में अन्तर रहता है, जो कि निम्नलिखित है –

(i) **जनता से सम्बन्ध** – व्यापारिक बैंकों द्वारा जनता का कार्य किया जाता है, जिससे उसका जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क बना रहता है। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक का कार्य देश की बैंकिंग व्यवस्था को नियंत्रित करना होता है, जिससे उसका जनता से कोई सम्पर्क नहीं रहता।

(ii) **संख्या का अन्तर** – व्यापारिक बैंकों की संख्या देश में अनेक होती है जो कि माँग के आधार पर निर्धारित की जाती है, जबकि केन्द्रीय बैंक देश में एक ही रहता है।

(iii) **लाभ अर्जित का अन्तर** – व्यापारिक बैंक लाभ पर कार्य करने वाली संस्था होती है, अत: इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ अर्जित न करके देश की आर्थिक एवं मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करना होता है।

शाखा एवं इकाई बैंकिंग पद्धति
(Branch and Unit Banking Method)

संगठन व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए विश्व में चार प्रकार की बैंकिंग पद्धति पाई जाती है।

बैंकिंग पद्धति के रूपों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है :

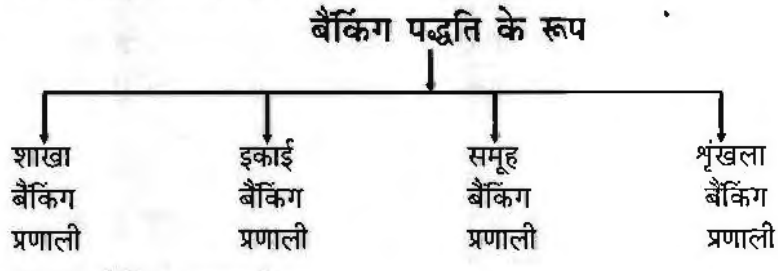

(1) शाखा बैंकिंग प्रणाली

इस प्रणाली में एक बैंक की अनेक शाखाएँ होती हैं, जो सम्पूर्ण देश में फैली रहती हैं। भारत की बैंकिंग प्रणाली का संगठन भी शाखा बैंकिंग प्रणाली के आधार पर होता है। देश में अनेक व्यापारिक बैंक हैं, जिनकी शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में सेवाएँ प्रदान करती हैं।

गुण – शाखा बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न हैं :

(i) **देनदारों की स्थिति की जानकारी** – बैंक की शाखाएँ सम्पूर्ण देश में फैली होने के कारण बैंकों को देनदारों की स्थिति का ज्ञान सरलता से हो जाता है जिससे ग्राहकों को दिये जाने वाले कर्ज की सीमा का निर्धारण सरलता से हो जाता है।

(ii) **मुद्रा का स्थानान्तरण** – शाखा बैंकिंग प्रणाली में मुद्रा का स्थानान्तरण सरलता व सुगमता से हो जाता है क्योंकि एक शाखा दूसरी शाखा के साथ समन्वित ढंग से ही कार्य करती है तथा ग्राहकों को हर प्रकार की सम्भव सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

(iii) **बड़े पैमाने का उत्पादन व श्रम-विभाजन** – शाखा प्रणाली बड़े पैमाने के उद्योग की भाँति कार्य करती है जिसमें बड़े स्तर पर समस्त बैंकिंग कार्य किये जाते हैं, जिससे उसे वृहत पैमाने के लाभ प्राप्त होते हैं। बैंक का संगठन भी बड़े पैमाने पर होने से श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होने लगते हैं तथा विभिन्न बैंकिंग कार्यों के लिए विशेषज्ञों की सेवाओं को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इसमें कार्य सम्पादन व्यय में भी मितव्ययिता प्राप्त की जा सकती है।

(iv) **नकद कोष में मितव्ययिता** – बैंकों की शाखाएँ सम्पूर्ण देश में फैले रहने से बैंकों को कम मात्रा में नकद कोष रखना होता है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर पर्याप्त मात्रा में धनराशि दूसरी शाखा से प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार इस व्यवस्था में नकद कोष में मितव्ययिता लाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त इन बैंकों का अन्य बड़ी-बड़ी बैंकों से सम्बन्ध बने रहने से आवश्यकता पड़ने पर नकद कोष सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

(v) **जोखिम का वितरण** – इस व्यवस्था में जोखिम किसी एक पर न रहकर विभिन्न शाखाओं में वितरित हो जाती है। प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था गतिशील बनी रहती है, जिससे देश की व्यवस्था पर प्रभाव पड़ते हैं तथा रुचि व फैशन आदि में परिवर्तन आने से बैंकिंग व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है। मन्दी के समय भी जो उद्योग प्रभावित होते हैं उनकी हानि की पूर्ति अन्य शाखा बैंकों से सरलता से की जा सकती है तथा एक की हानि को दूसरी शाखा से सरलता से वसूल किया जा सकता है व दूसरी शाखा के लाभों से उसे समायोजित करके हानि की पूर्ति हो सकती है।

दोष – शाखा बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न हैं :

(i) **बड़े पैमाने के दोष** – शाखा बैंकिंग में बड़े पैमाने के उत्पादन के सभी दोष पाये जाते हैं तथा निरीक्षण, नियन्त्रण एवं प्रबन्ध की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है जिन्हें सरलता से हल करना सम्भव नहीं हो पाता।

(ii) **व्ययपूर्ण प्रणाली** – शाखा बैंकिंग अत्यन्त व्ययपूर्ण प्रणाली है, क्योंकि नवीन शाखा की स्थापना पर काफी धनराशि व्यय करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त शाखाओं की संख्या बढ़ने पर उनमें नियंत्रण, निरीक्षण एवं समन्वय स्थापित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, जिसे पूर्ण करने में काफी धन व्यय करना पड़ता है।

(iii) **कुशलता पर आघात** – एक शाखा के दोषों का अन्य शाखाओं की कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। किसी एक क्षेत्र में संकट आने पर उस क्षेत्र की शाखा को हानि होती है तथा उसकी हानि को अन्य शाखाओं द्वारा सहन करना पड़ता है।

(iv) **निरीक्षण कठिन** – शाखायें प्राय: प्रधान कार्यालय से दूर स्थित रहती हैं, जिससे उनका उचित ढंग से निरीक्षण करना सम्भव नहीं हो पाता तथा शाखा के अधिकारी व कर्मचारी अपनी मनमानी करने लगते हैं, जिन पर प्रधान कार्यालय का निरीक्षण करना कठिन हो जाता है।

(v) **एकाधिकार को प्रोत्साहन** – शाखा बैंकिंग प्रथा एकाधिकार को प्रोत्साहन देती है तथा पूँजी का केन्द्रीयकरण हो जाने से आर्थिक सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में ही केन्द्रित हो जाती है, जिससे समाज को काफी हानि उठानी पड़ती है।

(vi) **अनावश्यक प्रतियोगिता** – शाखा बैंकिंग पद्धति से देश में अनावश्यक प्रतियोगिता को जन्म मिलता है जिससे बैंकों के विकास में बाधायें उपस्थित हो जाती हैं।

NOTES

(vii) **आवश्यक बातों का अभाव** – बैंक की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि ग्राहकों की रुचि के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो तथा सापेक्षता की प्रेरणा भी हो, परन्तु शाखा बैंकिंग व्यवस्था में इन दोनों बातों का प्राय: अभाव पाया जाता है।

(viii) **व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव** – शाखा बैंकिंग में प्राय: व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव पाया जाता है, जिससे शाखाओं का कार्य स्थानीय परिस्थितियों के आधार पर नहीं चल पाता है।

(2) इकाई बैंकिंग प्रणाली

इस प्रणाली में बैंक का कार्य प्राय: केवल एक ही कार्यालय द्वारा किया जाता है तथा उसकी शाखाएँ नहीं होती हैं। इसमें बैंकों के कार्य का एकीकरण आर्थिक व सामाजिक संगठन के आधार पर किया जाता है तथा बैंकों की कुल संख्या प्राय: जनसंख्या के अनुपात में अधिक रहती है। इस बैंक का व्यवसाय प्राय: उसी क्षेत्र की परिस्थितियों से सम्बन्धित होता है। इसकी स्थापना इस विचार पर की जाती है कि उसका प्रारम्भ स्थानीय समाज द्वारा होगा तथा उसका स्वामित्व भी स्थानीय समाज के व्यक्तियों में ही निहित होगा।

लाभ – इकाई बैंकिंग व्यवस्था के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं –

(i) **मुक्त सिद्धान्त** – यह पद्धति मुक्त उद्यम सिद्धान्त पर आधारित रहती है, जिससे कार्य करने में सरलता बनी रहती है।

(ii) **एकाधिकार पर प्रतिबन्ध** – इस प्रणाली द्वारा एकाधिकार बैंकिंग की वृद्धि पर रोक लगाई जाती है, क्योंकि बैंक की अनेक शाखाओं के स्थान पर विभिन्न प्रकार की अनेक बैंक होने से आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण सम्भव नहीं हो पाता।

(iii) **शीघ्र काम** – इस व्यवस्था में बैंक का कार्य ठीक समय पर व शीघ्रता से सम्पन्न किया जाता है जिससे देरी से कार्य होने की हानियाँ उत्पन्न नहीं हो पातीं।

(iv) **सरल प्रबन्धन** – इसमें बैंक का प्रबन्ध करना अत्यन्त सरल रहता है, क्योंकि इसमें विभिन्न शाखाओं के मध्य समन्वय स्थापित करने की समस्याएँ उत्पन्न नहीं होने पातीं।

(v) **अकुशलता का अभाव** – इस व्यवस्था में अकुशल बैंक अधिक समय तक जीवित न रहने से अकुशलता का अभाव पाया जाता है।

(vi) **मितव्ययिता** – इसमें छोटे पैमाने की उत्पादन प्रणाली की मितव्ययता के लाभ सरलता से प्राप्त हो जाते हैं।

(vii) **स्थानीय वित्तीय आवश्यकतायें** – इसमें स्थानीय वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर कार्य किया जाता है तथा स्थानीय जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क बने रहने से बैंक का संचालन उचित ढंग से सम्भव हो जाता है।

दोष – इकाई बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न हैं :

(i) **विफलता का भय** – इसमें जोखिम का भौगोलिक वितरण न होने से बैंक की स्थिरता में कमी आ जाती है तथा अन्य कठिनाइयाँ उपस्थित होने पर बैंकों की विफलता का भय बना रहता है।

(ii) **सुधार में कठिनाई** – इसमें व्यवसाय का पैमाना छोटा होने से बैंक के प्रबन्धन में कुशलता का अभाव पाया जाता है जिसमें सुधार करना अत्यन्त कठिन होता है।

(iii) **वित्तीय साधनों का अभाव** – इसमें बैंकों का आकार छोटा होने से पर्याप्त वित्तीय साधनों का अभाव पाया जाता है जिससे स्थानीय आर्थिक विकास में बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

(iv) **नियंत्रण व निरीक्षण का अभाव** – इस व्यवस्था के अन्तर्गत बैंकों पर सरकारी नियंत्रण एवं निरीक्षण करना अत्यन्त कठिन होता है।

(v) **गतिशीलता का अभाव** – इस पद्धति में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है और इस कारण से नकदी के स्थानान्तरण की समस्या बनी रहती है।

(3) समूह बैंकिंग प्रणाली

इस प्रणाली में दो या दो से अधिक बैंकों का कार्य एक प्रमण्डल या ट्रस्ट में निहित हो जाता है। इस प्रणाली का विकास 1926 में अमेरिका में हुआ तथा 1929 तक इसमें काफी विकास हुआ, परन्तु 1929 की मन्दी के पश्चात इसका पतन होता गया। बाद के वर्षों में इस व्यवस्था में विशेष सुधार सम्भव न हो सका।

(4) शृंखला बैंकिंग व्यवस्था

यह व्यवस्था वर्तमान शताब्दी की घटना है तथा 1919-20 में यह प्रणाली अपनी लोकप्रियता के शिखर पर थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत दो या दो से अधिक बैंकों पर एक ही व्यक्ति का प्रभुत्व पाया जाता है, परन्तु 1929 की मन्दीकाल में अमेरिका में अनेक श्रृंखला बैंकों की असफलता के कारण इस प्रणाली के विकास को काफी ठेस पहुँची। इस प्रणाली को अमेरिका में विशेष तौर पर विकसित किया गया, जहाँ कई शहरों में इसके विशेष विकास केन्द्र पाये जाते थे। अमेरिका में सबसे बड़ी शृंखला बैंकिंग व्यवस्था विथम पद्धति (Witham System) थी जिसके सदस्य बैंकों की संख्या लगभग 180 थी।

बैंकिंग का विकास
(Development of Banking)

बैंक शब्द की उत्पत्ति जर्मनी भाषा के Banck शब्द से हुई है, जिसका आशय ढेर या समूह से है। इसी प्रकार इटली में बैंकिंग का कारोबार करने वाले व्यवसायी बैंचों पर बैठकर कार्य करने से उन्हें बैंचों कहा जाता था, जिसे बाद में बैंक के नाम से पुकारा जाने लगा। बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को प्राचीन संसार में भी देखा जा सकता है। प्राचीन रोम सभ्यता में भी बैंकिंग का पर्याप्त विकास हो चुका था। लेकिन रोम के पतन के साथ-साथ बैंकिंग का भी पतन हो गया।

12 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से बैंकिंग व्यवसाय को जन्म मिला, जिनमें निजी व्यक्तियों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उस समय यहूदी लोगों को समाज से पृथक् रखा जाता था, जो सम्पूर्ण सम्पत्ति को सुरक्षित रूप से रखते थे, जिससे उन्हें बैंकिंग व्यवसाय के अपनाने में काफी सुविधाएँ रहीं और बैंकिंग व्यवसाय में इन्होंने काफी उन्नति की। इसके बाद इटैलियनों ने इस व्यवसाय में काफी प्रगति की और अपने व्यवसाय को सम्पूर्ण यूरोप तक फैला दिया। प्राचीन इतिहास में विश्व की प्रथम सार्वजनिक बैंकिंग संस्था 1157 में बैंक ऑफ वेनिस (Bank of Venice) व बाद में 1401 में बैंक ऑफ बार्सीलोना (Bank of Barcelona) व 1407 में बैंक ऑफ जनोआ (Bank of Geneva) की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त यूरोप में व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि के साथ-साथ वहाँ निजी बैंकिंग गृहों का विकास हुआ व साथ-साथ सार्वजनिक बैंकों का भी उदय हुआ। बैंकों के विकास के कारण बैंक व्यवसाय में वृद्धि हुई, जिससे समाज को मूल्य का एक सर्वमान्य मापक प्रदान किया गया। 1694 में इंग्लैंड में बैंक ऑफ इंग्लैंड की स्थापना होने पर व्यापारिक बैंकों का पूर्ण विकास हुआ व 1833 में बैंकिंग अधिनियम की स्थापना से बैंकों का विकास हुआ। 19वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति से व्यापारिक बैंकिंग के विकास में काफी वृद्धि हुई।

बैंकिंग का महत्व (Importance of Banking)

वर्तमान समय में बैंकिंग के महत्व का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है –

(1) **उत्पादक कार्यों में विनियोग** – व्यक्तियों व संस्थाओं के पास जो छोटी-छोटी बचतें पड़ी रहती हैं वे उत्पादक या अन्य कार्यों में उपयोग नहीं हो पातीं। परन्तु बैंक उन्हें अपने जमा खाते में जमा करके व्यापार एवं उद्योग व अन्य उत्पादक कार्यों में विनियोग करता है।

(2) **गतिशीलता में सहायता** – बैंकिंग प्रणाली प्रायः उन आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित है, जिनके द्वारा वस्तुओं का उत्पादन व विपणन किया जाता है। इससे उत्पादन क्रियाओं में तीव्रता आती है तथा मूल्य व विक्रय के भुगतान के अन्तर की सीमा को कम कर दिया जाता है।

(3) **आर्थिक क्रियाओं का उचित संचालन** – प्रत्येक समाज में प्राय: सीमित कोषों की असीमित माँग बनी रहती है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि उपलब्ध कोषों को विभिन्न प्रयोगों में उचित ढंग से उपयोग किया जाये। इस कार्य को आधुनिक बैंकों द्वारा उचित ढंग से किया जाता है। इस प्रकार बैंकों द्वारा आर्थिक क्रियाओं का उचित संचालन करके सीमित साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव बनाया जा सकता है।

(4) **खाते रखने के रूप में कार्य** – बैंकों द्वारा जब धन प्राप्त किया जाता है तो उस व्यक्ति या संस्था के नाम को जमा कर देते हैं और जब यह धन उधार दिया जाता है तो धन लेने वाले व्यक्ति के खाते को नामे करके खाते रखने के रूप में कार्य किया जाता है। इस प्रकार बैंक खातों को उचित ढंग से रखकर उचित व्यवस्था करती है।

(5) **साख का उचित वितरण** – बैंक द्वारा साख का उचित ढंग से वितरण करके बैंक के हित के साथ-साथ समाज को भी अधिकतम लाभ पहुँचाया जा सकता है।

(6) **धन उत्पादन में सहायक** – व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर अधिकतम लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से उत्पादन की योजना का निर्माण करता है तथा उसके लिए पर्याप्त मात्रा में धन का विनियोग भी करता है। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वे बैंकों से भी ऋण प्राप्त करते हैं। बैंकों द्वारा ऋण देने से पूर्व उनके विनियोग योजनाओं पर विचार-विमर्श किया जाता है और इस सम्बन्ध में प्राय: उत्पादक कार्यों के लिए ही धन उधार दिया जाता है।

(7) **समन्वय स्थापित करना** – संस्थाओं की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताएँ उनके आकार एवं व्यापार की मात्रा के आधार पर घटती-बढ़ती रहती हैं। इस प्रकार बैंकों द्वारा अपने तरल साधनों एवं माँगों में समन्वय स्थापित करके साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव किया जाता है।

(8) **साख का सृजन** – बैंकों का प्रमुख कार्य साख का सृजन करना होता है। व्यापार के अनेक कार्य नकद आधार पर न होकर साख आधार पर सम्पन्न किये जाते हैं। जो व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि करके उत्पादन एवं लेनदेन व्यवहारों में वृद्धि करती है। साख सृजन द्वारा समाज को विभिन्न विनिमय माध्यम उपलब्ध किये जाते हैं तथा अनेक लेन-देन चैंकों द्वारा सरलता से निपटाये जा सकते हैं। इससे व्यापारिक क्रियायों में वृद्धि हो जाती है तथा साख का विस्तार भी सम्भव हो जाता है।

बैंक की परिभाषा

बैंक की अनेक परिभाषा समय-समय पर दी गयी हैं, जिनमें से प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) **एच. एल. हार्ट** (H.L. Hart) – "एक बैंकर वह है, जो अपने साधारण व्यवसाय के अंतर्गत धन प्राप्त करता है और जिसे वह उन व्यक्तियों के चैकों का भुगतान करके चुकाता है, जिनके खातों में वह धन जमा किया गया है।"

(2) **फिंडले शिराज** (Findley Shiras) – "एक बैंकर वह व्यक्ति, फर्म या कम्पनी है, जिसके पास एक व्यवसाय स्थान होता है, जहाँ मुद्रा या करेन्सी के जमा या संग्रह द्वारा साख का कार्य प्रारम्भ किया जाता है तथा जहाँ स्कन्ध के आधार पर मुद्रा उधार दी जाती है व बौण्ड, बिल, बुलियन तथा प्रोनोट आदि बट्टे पर भुनाये व बेचे जाते हैं।"

(3) **किनले** (Kinley) – "बैंक एक ऐसी संस्था है, जो सुरक्षा व आवश्यकता का ध्यान रखते हुए ऐसे व्यक्तियों को ऋण प्रदान करती है, जिन्हें उसकी आवश्यकता है और जिसके पास धन अनावश्यक पड़ा है, वे व्यक्ति अपने धन को जमा कर देते हैं।"

दोष – उपर्युक्त परिभाषायें दोषपूर्ण एवं अपूर्ण हैं। **हार्ट** ने अपनी परिभाषा में बैंक के समस्त कार्यों को सम्मिलित नहीं किया है। इसी प्रकार **किनले** ने अपनी परिभाषा में केवल उधार लेने के कार्यों को ही सम्मिलित किया है, जबकि इसके अतिरिक्त बैंक के और भी अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं, जिन्हें इस परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया गया है। इसके विपरीत **फिंडले शिराज** ने अपनी परिभाषा में न केवल बैंक के उधार देने के कार्य को ही सम्मिलित किया है, बल्कि साख उत्पन्न करने एवं एजेन्सी के कार्यों

को भी सम्मिलित किया गया है। इस दृष्टि से इस परिभाषा को सन्तोषप्रद कहा जा सकता है, परन्तु कुछ व्यक्तियों के अनुसार यह परिभाषा भी दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें बैंक द्वारा करेन्सी के विनिमय एवं द्रव्य द्वारा व्यापार को सहायता पहुँचाने वाले कार्यों को सम्मिलित नहीं किया गया है, इस दृष्टि से इस परिभाषा को भी अपूर्ण माना गया है।

(4) **कानूनी परिभाषा** – भारतीय बैंकिंग अधिनियम की धारा 5 स के अनुसार "बैंकिंग कम्पनी उसे कहते हैं जो कि बैंकिंग का व्यवसाय करें।"

उपर्युक्त परिभाषा – बैंक की उचित परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है –

"बैंकिंग व्यवसाय वह व्यवसाय है जो जनता को उधार देने एवं विनियोग के उद्देश्य से जनता के ही धन को जमा के रूप में स्वीकार करके, चैक या अन्य किसी प्रकार के आदेश के आधार पर माँग करने पर भुगतान किया जाता है।"

बैंकों के प्रकार (Types of Banks)

बैंक निम्न प्रकार के होते हैं :–

(1) व्यापारिक बैंक (Commercial banks) – जो बैंक सामान्य बैंकिंग का कार्य करें उसे व्यापारिक बैंक कहते हैं।

(2) औद्योगिक बैंक (Industrial banks) (3) कृषि बैंक (Agricultural banks)

(4) बचत बैंक (Savings banks) (5) केन्द्रीय बैंक (Central banks)

(6) विनिमय बैंक (Exchange banks) (7) अन्य बैंक (Other banks)

साख का निर्माण
(Creation of Credit)

बैंकों द्वारा ऋण प्रदान करते समय अपने तरल या नकद कोषों की मात्रा को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। बैंक अपने तरल साधनों के आधार पर साख देने की व्यवस्था करते हैं तथा कई गुना साख का प्रबन्ध करने में सफल हो जाते हैं। अत: यह कहा जाता है कि बैंक साख का सृजन करते हैं तथा व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि करते हैं।

ढंग – बैंकों द्वारा साख सृजन करने के विभिन्न ढंग निम्नलिखित हैं :

(1) **नकद जमा रीति** – प्रत्येक बैंक विभिन्न खातों के अन्तर्गत जनता से धनराशि प्राप्त करते हैं जिसे नकद जमा कहते हैं और जमाकर्ता इस राशि का बहुत कम भाग ही अपनी आवश्यकता पड़ने पर निकालता है तथा शेष धन बैंक में ही बेकार पड़ा रहता है। बैंक ग्राहकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपनी जमा राशि का थोड़ा-सा भाग नकद में रखकर शेष धन को ऋण के रूप में दे देता है तथा ब्याज की आय प्राप्त करता है। बैंक जो ऋण स्वीकार करता है वह प्राय: नकद में देकर ऋणी के खाते में जमा कर दिया जाता है जो आवश्यकता पड़ने पर उसे चैक लिखकर निकालता रहता है, जिसे साख जमा के नाम से जाना जाता है। साख जमा से बैंक की कुल जमा में वृद्धि हो जाती है, जिसके आधार पर बैंक अधिक मात्रा में ऋण देने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार बैंक जितना अधिक ऋण देता है इतनी ही अधिक जमा उसे प्राप्त होती है और जितनी अधिक जमायें उसे प्राप्त होती हैं, उतनी ही अधिक साख का सृजन किया जाता है। अधिक लम्बी अवधि के लिए जमा प्राप्त होने पर बैंक भी साख अधिक लम्बे समय तक दे सकते हैं।

(2) **प्रतिभूतियों का क्रय** –बैंक अपने ग्राहकों से प्रतिभूतियों को क्रय करके उनका भुगतान चैक द्वारा करते हैं तथा अपने लिए नकद राशि की आवश्यकता पड़ने पर उसे केन्द्रीय बैंक से भुना लेते हैं। इस प्रकार प्रतिभूतियों का क्रय करके बैंक बड़े पैमाने पर साख का सृजन करते हैं।

(3) **नोटों का निर्गमन** – प्राचीन समय में बैंकों को नोटों का निर्गमन करके साख का निर्माण करने के अधिकार प्राप्त थे, जिसमें बैंकों द्वारा यह प्रतिज्ञा की जाती थी कि वह उन नोटों के बदले सोना या चाँदी दे देगा। इस प्रकार जब कोई बैंक नोट जारी करता है तो उसे अपने पास कोष में सोना या चाँदी रखनी पड़ती है जिससे नोटों को कभी भी भुनाकर साख का निर्माण किया जा सके, परन्तु सभी नोटधारी

NOTES

एक साथ नोटों का भुगतान नहीं माँगते अत: बैंक केवल कुछ प्रतिशत भाग ही धातु कोष में रख लेते हैं और इस प्रकार साख के निर्माण का कार्य करते हैं।

वर्तमान समय में मुद्रा व साख की मात्रा पर नियंत्रण रखने एवं नोटों में एकरूपता लाने के उद्देश्य से नोटों के प्रकाशन का एकाधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाता है जो मूल्यवान धातु का कुछ प्रतिशत भाग ही अपने कोष में रखकर देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के आधार पर नोटों का प्रकाशन करके साख का सृजन करता है। भारत में नोटों के प्रकाशन का एकाधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंपा गया है। भारत में न्यूनतम जमा पद्धति के आधार पर नोटों का प्रकाशन किया जाता है। न्यूनतम जमा में 200 करोड़ रु. की राशि ही जमा की जाती है जिसमें से 115 करोड़ रुपये का स्वर्ण एवं शेष सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता है।

(4) **अधिविकर्ष की सुविधायें** – बैंकों द्वारा अधिविकर्ष की सुविधाएँ उन व्यापारियों को दी जाती हैं, जिनकी साख अच्छी होती है। अधिविकर्ष की सुविधा में बैंक अपने ग्राहकों को स्वीकृत राशि से उनके खातों में जमा करके आवश्यकता पड़ने पर उसे निकालने की सुविधाएँ प्रदान करती है। इस प्रकार की व्यवस्था करके बैंक साख का सृजन करने में सहायता प्रदान करती है।

साख निर्माण की शर्तें
(Conditions of Creation of Credit)

बैंकों द्वारा साख का निर्माण निम्न शर्तों पर ही सम्भव होगा :

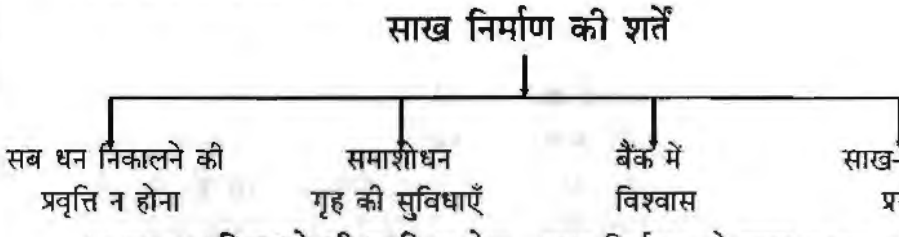

(1) **सब धन निकालने की प्रवृत्ति न होना** – साख निर्माण करते समय इस बात की कल्पना की जाती है कि समस्त जमा करने वाले एक साथ आकर अपना धन नहीं निकालेंगे क्योंकि जो व्यक्ति बैंक में धन जमा करते हैं, वह उसे एक साथ न निकालकर आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे ही निकालेंगे, जिससे बैंकों को साख निर्माण करने के अवसर प्राप्त हो जायेंगे अत: एक साथ धन न निकालने की प्रवृत्ति के आधार पर ही साख का निर्माण सरलता से किया जा सकता है।

(2) **समाशोधन ग्रह की सुविधायें** – चैक द्वारा भुगतान करने पर बैंक प्रत्येक चैक का भुगतान नकद न कर दूसरे बैंक के खाते में जमा कर लेते हैं तथा समाशोधन प्रणाली के अन्तर्गत अन्तर की राशि का हस्तांतरण कर लेते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया से वास्तविक लेनदेन की राशि की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि समाशोधन गृह की सुविधा से थोड़े से नकद कोष के आधार पर ही बैंक विशाल मात्रा में ऋण का सृजन कर लेते हैं।

(3) **बैंक में विश्वास** – जमा करने वालों को बैंक की आर्थिक दशा में विश्वास करना अत्यावश्यक है। बैंक में विश्वास होने पर ही वे अपना धन उसमें सरलता से जमा कर देते हैं, जिसके आधार पर बैंकों द्वारा साख का निर्माण किया जाता है। यदि जनता को बैंकों में विश्वास न रहे तो वह जमा राशि वापिस लेने लगेंगे, जिससे बैंक की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है तथा वह असफल हो सकती है। अत: साख सृजन के लिए जनता द्वारा बैंक में विश्वास होना आवश्यक है।

(4) **साख-पत्रों का प्रयोग** – बैंकों द्वारा व्यापारिक कार्यों में चैक, बिल, हुण्डी आदि साख-पत्रों का प्रयोग होना आवश्यक है, जिससे साख का निर्माण सरलता से किया जा सके।

साख निर्माण की सीमाएँ
(Limitations of Credit Creation)

बैंकों द्वारा साख निर्माण की एक सीमा होती है, जिससे अधिक वह साख का निर्माण नहीं कर पाते। यदि उस सीमा से अधिक साख का निर्माण किया गया तो उससे जनता का बैंकों में विश्वास

समाप्त होकर बैंक के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। अत: साख निर्माण की सीमाओं को निम्न प्रकार रखा जा सकता है –

(1) **बैंकिंग आदत** – यदि जनता में बैंकिंग आदत है तो वह थोड़े से धन को अपने पास रखकर शेष राशि को बैंक में जमा कर देंगे। बैंक में नकद राशि अधिक आने पर वह अधिक मात्रा में साख का सृजन कर सकेगा। इसके विपरीत जनता में बैंकिंग आदत का अभाव पाया जाता है तो वह नकद राशि बैंकों में जमा न करके अपने पास रखेंगे और बैंक साख का निर्माण सरलता से करने में कठिनाई का अनुभव करेंगे।

(2) **केन्द्रीय बैंक के पास रखा कोष** – प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपने दायित्वों का कुछ प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास सुरक्षित कोष में रखना पड़ता है, जिसमें दायित्वों की राशि के आधार पर कमी या वृद्धि होती रहती है। यदि यह राशि बढ़ा दी जाये तो बैंकों के साख निर्माण की शक्ति सीमित हो जाती है। इसके विपरीत यदि इसमें कमी कर दी जाये तो बैंक अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकेंगे। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक इस कोष की मात्रा में कमी या वृद्धि करके साख का निर्माण कर सकता है।

(3) **जनता का विश्वास** – यदि जनता को बैंकों में अधिक विश्वास है कि माँगने पर धन अविलम्ब वापस मिल जायेगा तो वह बैंक में अपना धन जमा कर देंगे और बैंकों के साख निर्माण की सीमा बढ़ जायेगी। इसके विपरीत यदि जनता को विश्वास नहीं है तो साख सृजन सीमा में कमी हो जायेगी।

(4) **जमानत की प्रवृत्ति** – बैंक प्राय: अच्छी व प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों पर ही ऋण देना उचित समझती है। यदि देश में अच्छी प्रतिभूतियों का प्रचलन है तो बैंकों द्वारा अधिक मात्रा में ऋण दिया जा सकेगा, अन्यथा नहीं।

(5) **केन्द्रीय बैंक का प्रतिबन्ध** – देश में आर्थिक स्थिरता लाने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक साख का नियमन व नियन्त्रण करता है, जिसमें बैंक दर नीति, खुले बाजार की क्रियाएँ, सुरक्षित कोष अनुपात में परिवर्तन आदि बातें सम्मिलित हैं। इस प्रकार देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय बैंक साख का प्रसार या संकुचन करती है।

(6) **नकद कोष** – प्रत्येक बैंक को अपने दायित्वों का कुछ निश्चित प्रतिशत भाग नकद कोष में रखना पड़ता है जो बैंक की सुरक्षा के लिए आवश्यक माना जाता है। यदि वह प्रतिशत बढ़ा दिया जाये तो बैंकों के साख का संकुचन हो जायेगा। इसके विपरीत यदि यह प्रतिशत घटा दिया जाये तो साख में वृद्धि हो जायेगी।

(7) **मुद्रा की मात्रा** – यदि देश में मुद्रा की मात्रा का प्रचलन अधिक है तो जनता द्वारा बैंकों में अधिक धन जमा किया जायेगा, जिसके आधार पर बैंक अपने साख का सृजन कर सकेंगे। इसके विपरीत मुद्रा की कम निकासी होने पर साख सृजन की मात्रा भी सीमित हो जायेगी।

भारत में बैंकिंग का विकास

(Development of Banking in India)

भारत में महाजन द्वारा लेन-देन के कार्यों को संपन्न करने को कहा जाता है कि वैदिक काल से ही भारत में बैंकिंग संबंधी कार्य संपन्न किए जाते थे। मुस्लिम युग में इनके कार्यों में अत्यन्त वृद्धि हुई जिसमें विदेशियों की मुद्रा परिवर्तन का कार्य भी सम्मिलित था, परंतु अंग्रेजों के आने के उपरांत इनका पतन प्रारंभ हो गया। बैंकिंग के विकास को निम्न भागों में रखा जा सकता है –

(1) **1806 तक का काल**

बैंकिंग विकास संबंधी इस काल की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं –

(i) **महत्व कम होना** – महाजन एवं साहूकार अंग्रेजी भाषा व विदेशी प्रणाली से परिचित न होने से व्यापार में हाथ नहीं बढ़ा सके जिससे उनका महत्व कम हो गया।

(ii) **एजेंसी-गृह की स्थापना** – बंबई एवं कलकत्ता में अनेक एजेंसी-गृहों की स्थापना हुई, जिससे व्यावहारिक कार्यों में सुविधा मिली।

NOTES

(iii) **एजेंसी-गृह के कार्य** – एजेंसी-गृह के कार्यों में वित्तीय सहायता, जमा पर रुपया प्राप्त होना, मुद्रा का निर्गमन करना आदि सम्मिलित थे।

(iv) **व्यापारिक अधिकारों का अंत** – 1813 में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक अधिकारों का अंत हो गया जिससे एजेंसी-गृह का भी शनैः-शनैः पतन हो गया।

(2) **1806 से 1860 तक का काल**

इस काल की प्रमुख विशेषताएँ निम्न थीं –

(i) **प्रेसीडेंसी बैंक की स्थापना** – इस समय में 3 प्रेसीडेंसी बैंकों की स्थापना हुई, जो कि कलकत्ता, बंबई व मद्रास में थे।

(ii) **हिस्सा पूँजी** – सरकार इन तीनों बैंकों में अपनी हिस्सा पूँजी रखती थी। तीनों ही बैंक सरकार के कार्यों को किया करते थे।

(iii) **कार्य में असफलता** – इन बैंकों के कार्यों में एकीकरण न होने से वे सफलतापूर्वक कार्य न कर सके।

(iv) **नोट निर्गमन का अधिकार** – 1862 से पूर्व इन बैंकों के नोट निर्गमन के अधिकार को सरकार ने अपने हाथों में ले लिया।

(v) **कार्यों पर प्रतिबंध** – जनता के हितार्थ इन बैंकों के कार्यों पर कुछ प्रतिबंध लगाए गये थे जैसे विदेशी बिलों में व्यापार नहीं करना आदि।

(3) **1860 से 1913 तक का काल**

इस काल की प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं –

(i) **मिश्रित पूँजी के बैंक** – 1860 में बैंकिंग अधिनियम का निर्माण हुआ, जिसके अनुसार देश में सीमित दायित्व वाले मिश्रित पूँजी के बैंकों की स्थापना हुई।

(ii) **बैंकिंग को प्रोत्साहन** – 1906 में स्वदेशी आंदोलन ने देश में बैंकिंग को प्रोत्साहित किया तथा 1906 -13 की अवधि में बैंकों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा कुछ राज्यों में बैंकों की बाढ़-सी आ गई।

(4) **1913 से 1939 तक का काल**

इस काल की बैंकिंग विकास संबंधी विशेषताएँ निम्न थीं –

(i) **मिश्रित रूप** – प्रारंभ में बैंकिंग संकट के बने रहने एवं स्फीतिक परिस्थितियों के कारण जनता पर काफी मात्रा में धन एकत्रित होने से बैंकों का मिश्रित रूप सामने आया।

(ii) **बैंकों का टूटना** – 1913-17 के बैंकिंग संकट काल में अनेक बैंक ठप्प हो गए जिसकी संख्या 1936-38 में 660 थी।

(iii) **अव्यवस्थित विकास** – इस काल में बैंकों का बहुत अव्यवस्थित ढंग से विकास हुआ जिससे कुछ राज्यों में अनेक बैंक स्थापित हुए व कुछ राज्यों में बैंक की स्थापना ही नहीं हुई।

(iv) **इम्पीरियल बैंक की स्थापना** – 1921 में मद्रास, कलकत्ता एवं बंबई की तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई।

(v) **केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति** – 1939 में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की स्थापना बैंकिंग व्यवस्था में सुधार लाने के लिए की गई।

(vi) **बैंकों पर दौड़** – सरकार द्वारा बड़ी मात्रा में धन उपयोग करने से ब्याज दर बढ़ गई, जिससे बैंकों ने अधिक ऋण दिया और बैंकों को जमाकर्त्ताओं का धन वापस करना कठिन हो गया।

बैंकों के असफल होने के कारण

1913-39 की अवधि में देश में अनेक बैंक ठप्प हो गए जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं –

(i) **बैंकिंग सिद्धान्तों का उल्लंघन** – बैंकों के पास पूँजी का अभाव था जिससे उन्होंने ऊँची ब्याज दर पर जमा स्वीकार करके बैंकिंग सिद्धांतों का उल्लंघन किया, जिससे तरलता के अभाव के कारण अनेक बैंक फेल हो गये।

(ii) **प्रबंध में असंतोषप्रद भाग** – बैंकों की प्रबंध व्यवस्था संतोषप्रद न होने के कारण बैंकों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा।

(iii) **जनता को धोखा** – अनेक बैंकों ने विज्ञापन आदि द्वारा वास्तविक स्थिति को छिपाकर जनता को धोखा देने के प्रयास किए जिससे अनेक बैंक ठप्प हो गये।

(iv) **केन्द्रीय बैंक का अभाव** – 1935 से पूर्व भारत में केंद्रीय बैंक के अभाव के कारण बैंकों के आर्थिक संकट को दूर करने का कोई उपाय नहीं था।

(v) **बैंकिंग विधान का अभाव** – 1913 का भारतीय कंपनी अधिनियम बैंकों पर नियंत्रण लगाने में असमर्थ था तथा बैंकिंग विधान के अभाव के कारण बैंक फेल हो गये।

(vi) **दोषपूर्ण प्रबंध** – नवीन बैंकों की स्थापना होने से अच्छे व व्यवहार-कुशल व्यक्ति प्राप्त न होने से प्रबंध दोषपूर्ण रहा, जिससे अनेक बैंक ठप्प हो गये।

(vii) **सट्टे व्यवसाय** – बैंकों ने अधिक लाभ अर्जित करने के लालच में अपना धन सट्टे व्यवसाय में लगाया जिससे वे शीघ्र दिवालिया हो गये।

(viii) **आपसी प्रतियोगिता** – बैंकों के अधिकाधिक व्यापार करने के उद्देश्य से नकद कोषों की मात्रा में अत्यधिक कमी हो गई तथा जनता द्वारा बैंकों पर दौड़ करने पर बैंक आर्थिक संकट में फँस गये तथा असफल हो गये।

उपर्युक्त कारणों से देश में अनेक व्यापारिक बैंक असफल हो गये तथा बैंकों की स्थिति काफी बिगड़ गई।

(5) 1939 से 1946 तक का काल

युद्धोत्तरकाल में देश में पुराने बैंकों की उन्नति हुई तथा अनेक नवीन बैंक स्थापित हो गये। बैंकिंग व्यवस्था संगठित रूप से कार्य कर रही थीं तथा बैंकों का काफी विकास हुआ। इस काल की प्रमुख विशेषताएँ निम्न थीं –

(i) **नवीन बैंकों की स्थापना** – इस काल में बैंकों का तेजी से विकास हुआ तथा बैंकों ने लाभ अर्जित किये जिससे नवीन बैंकों की स्थापना हुई।

(ii) **विनियोग नीति में परिवर्तन** – इस अवधि में बैंकों ने नकद कोष में वृद्धि करके अपनी विनियोग नीति में परिवर्तन किये।

(iii) **जमा राशि में वृद्धि** – जनता का विश्वास शनैः-शनैः बैंकों में बढ़ने से जमा राशि में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो गई।

(iv) **असंतुलित प्रसार** – बैंकिंग सुविधाओं में अत्यधिक वृद्धि होने से नवीन शाखाएँ शहरी क्षेत्रों में स्थापित की गईं तथा ग्रामीण क्षेत्रों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, फलस्वरूप देश में बैंकों का असंतुलित ढंग से प्रसार हुआ।

दोष – इस काल में बैंकिंग विकास के प्रमुख दोष निम्नलिखित थे –

(i) **लाभांश वितरण** – बैंकों ने अपने बढ़े हुए लाभों को सुरक्षित कोष में रखने के स्थान पर लाभांश के रूप में वितरित कर दिया गया, जिससे लाभों का उचित उपयोग संभव न हो सका।

(ii) **दोषपूर्ण प्रबंध** – बैंकों की शाखाओं में तीव्रता से वृद्धि होने के कारण प्रबंध में अनेक दोष उत्पन्न हो गये जिससे बैंकों के ठप्प होने का क्रम बराबर बना रहा।

NOTES

(iii) **बैंकिंग सेवाओं का असमान वितरण** – बैंकों की शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित न होने से बैंकों का असमान विकास हुआ।

(iv) **व्यवसाय का परिवर्तन** – बैंकों के व्यवसाय का नियंत्रण ऐसे व्यक्तियों को हस्तांतरित हो गया जो अपने व्यवसाय में अधिक दिलचस्पी रखते थे।

(6) 1947 से बाद का काल

इस काल की प्रमुख **विशेषताएँ** निम्न थीं –

(i) **विभाजन के प्रभाव** – 1947 में भारत के विभाजन के साथ-साथ साम्प्रदायिक झगड़े बढ़े जिससे बैंकिंग व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। इससे कुछ बैंक असफल हो गये व अन्य आर्थिक संकट में फँस गये। कुछ बैंकों के प्रधान कार्यालय जो पाकिस्तान में थे, उन्हें वहां से हटाकर भारत में स्थापित करना पड़ा।

(ii) **उद्योग व व्यापार का विकास** – देश में उद्योग एवं व्यापार का तीव्र गति से विकास होने से व्यापारियों ने अपनी बचत के उपयोग के साथ-साथ बैंकों से अग्रिम राशि ऋण के रूप में प्राप्त की।

(iii) **वित्तीय स्थिति में सुधार** – इस काल में बैंकों की वित्तीय स्थिति में काफी सुधार हुआ।

(iv) **छोटे-छोटे बैंकों का एकीकरण** – देश में अनेक छोटे-छोटे बैंकों में एकीकरण की प्रवृत्ति पाई गई जिससे बैंकों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो गई।

(v) **बैंकिंग कंपनी अधिनियम 1949** - 1949 में बैंकिंग कंपनी अधिनियम पारित किया गया, जिससे बैंकिंग क्षमता में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई।

(vi) **इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण** – 1955 में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया जिसका नाम स्टेट बैंक ऑफ इंडिया रखा गया।

(vii) **ऋण लेने की सुविधा** – विभाजन के दुष्परिणामों से बचने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने ऋण लेने की सुविधाओं में वृद्धि की जिससे अनेक बैंक असफल होने से बचे तथा बैंकों ने अपनी आर्थिक स्थिति को संभाल कर प्रगति करने के सफल प्रयास किये।

(7) वर्तमान स्थिति (Present Position)

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में बैंकों ने तीव्र प्रगति की तथा अनेक शहरी एवं नागरिक क्षेत्रों में बैंकों की शाखाएँ खोली गई। इस समय तक अनेक छोटे-छोटे बैंकों को मिलकर बड़े बैंक में परिवर्तित कर दिया गया तथा बैंकिंग व्यवस्था काफी सुदृढ़ हो गई।

बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Banking)

भारत में बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के संबंध में वाद-विवाद रहा है। किन्तु, वर्ष 1969 में 14 एवं 1980 में 4 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके इस विवाद को विराम दिया गया। पुनः 1991 की नवीन आर्थिक नीति के अपनाने के बाद पिछले कुछ वर्षों में निजी क्षेत्र में व्यापारिक बैंकों को खोलने की अनुमति दी गई। फिर भी राष्ट्रीयकरण के पक्ष एवं विपक्ष में निम्न तर्क रखे जा सकते हैं –

पक्ष में तर्क – राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क रखे जा सकते हैं –

(i) **मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में समायोजन** – बैंकों के राष्ट्रीयकरण द्वारा व्यापार चक्रों को समाप्त करके मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में समायोजन स्थापित किया जा सकता है।

(ii) **जन कल्याण** – जनता के विश्वास के आधार पर बैंक कार्य करते हैं, अतः इनके लाभ का उपयोग जन कल्याण में ही किया जाना चाहिए जो राष्ट्रीयकरण द्वारा ही संभव हो सकता है।

(iii) **अन्य बैंकों की स्थापना व विकास** – बैंकों के राष्ट्रीयकरण से व्यापारिक बैंकों के विकास के साथ साथ अन्य कृषि, औद्योगिक एवं विदेशी विनिमय बैंकों की स्थापना एवं विकास संभव हो सकेगा।

(iv) **साख निर्माण** – बैंकों के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही बैंकों की साख-निर्माण शक्ति का राष्ट्र हित में उपयोग किया जा सकेगा।

(v) **सुविधाओं का विकास** – राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग सुविधाओं का विकास होगा तथा निम्न लाभ प्राप्त हो सकेंगे –

(a) **कुशलता एवं मितव्ययता** – सरकारी प्रबंध वाले अधिक कुशलता एवं मितव्ययता से कार्य करके जनता का अधिकतम विश्वास प्राप्त कर सकेंगे।

(b) **बचत को प्रोत्साहन** – देश में बचत को प्रोत्साहित करने एवं उसे बैंकों में जमा करने की आदत का विकास करना होगा जो कि राष्ट्रीयकरण द्वारा ही संभव हो सकता है।

(c) **सुदृढ़ स्थिति** – राष्ट्रीयकरण से आपसी प्रतियोगिता समाप्त होकर बैंकों की स्थिति सुदृढ़ हो सकेगी।

विपक्ष में तर्क – राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में निम्न तर्क दिए जा सकते हैं –

(i) **योग्य प्रबंधकों का अभाव**– भारत में योग्य प्रबंधकों के अभाव के कारण यह उचित नहीं होगा कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये जो कि देश हित में नहीं होगा।

(ii) **कुशलता में कमी** – सरकारी संस्थाओं में लोच, मितव्ययता एवं कुशलता का अभाव पाये जाने से कार्य संचालन में बाधाएँ उपस्थित होंगी जो आर्थिक विकास के लिए हानिप्रद होगा।

(iii) **औद्योगिक विकास में बाधा** – औद्योगिक विकास में अनेक बाधाएँ उपस्थित होना उद्योगों में गोपनीयता की समाप्ति के कारण है जो राष्ट्रीयकरण करने से संभव होगा।

भारत में व्यापारिक बैंक
(Commercial Banking in India)

भारत में व्यापारिक बैंकों का इतिहास अति प्राचीन नहीं है। 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही इनका इतिहास प्रारंभ होता है। प्रारंभ में अंग्रेजों द्वारा स्थापित एजेंसी गृह असफल हो गए थे जिससे अधिकोषण व्यवसाय करने वाली संस्थाओं की स्थापना की गयी और देश में व्यापारिक बैंकों की स्थापना प्रारंभ हो गयी। 20 वीं शताब्दी से देश में वाणिज्यिक अधिकोषों के विकास को गति मिली और वे प्रगति के पथ पर अग्रसर होते गए। जिन बैंकों की स्थापना भारतीय कंपनी अधिनियम के अंतर्गत हो, उन बैंकों को व्यापारिक बैंक या मिश्रित पूँजी वाले बैंक कहते हैं। इन बैंकों में पूँजी एक से अधिक व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती है। इसमें रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक एवं विनिमय बैंकों को सम्मिलित नहीं किया जाता।

वर्गीकरण
(Classification)

व्यापारिक बैंकों को दो आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है जो कि निम्न है –

व्यापारिक बैंक का वर्गीकरण

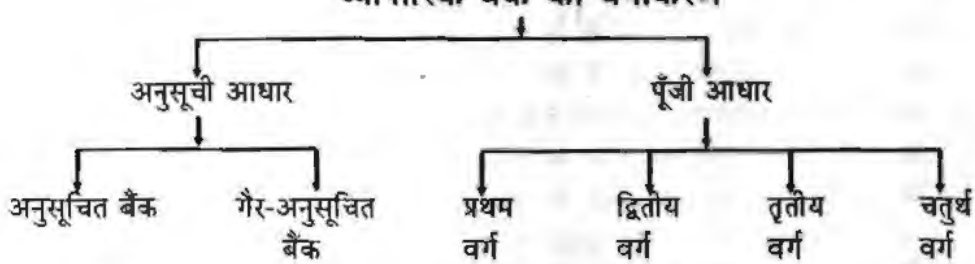

(A) अनुसूची के आधार पर –

अनुसूची के आधार पर व्यापारिक बैंकों को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है –

(1) **अनुसूचित बैंक** (Sebeduled Bank) – जिन बैंकों को रिजर्व बैंक ने अपनी सारिणी नं. 2 सम्मिलित कर लिया है उन्हें अनुसूचित बैंक कहते हैं। इस श्रेणी में वे बैंक सम्मिलित किए जाते हैं, जिनके संबंध में यह पूर्ण विश्वास हो कि समस्त कार्य जमाकर्त्ताओं के हित में किया जाएगा।

विशेषताएँ

अनुसूचित बैंकों की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं –

(i) **मांग एवं काल दायित्व** – इन बैंकों को अपने माँग एवं काल दायित्व का 3% भाग रिजर्व बैंक के पास नकद जमा करना होता है। रिजर्व बैंक इस प्रतिशत को 3 से 15% मध्य रख सकता है तथा बैंकों को अतिरिक्त राशि जमा करने के आदेश भी दे सकता है।

(ii) **विशेष सुविधाएँ** – रिजर्व बैंक इन बैंकों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करता है तथा प्रतिभूतियों की आड़ पर आवश्यक ऋण प्रदान करता है तथा रुपये भेजने की सुविधाएँ भी प्रदान करता है।

(iii) **पूँजी व कोष** – इन बैंकों की चुकता पूँजी एवं कोष मिलाकर कम से कम 5 लाख रुपये होना चाहिए।

(iv) **रिपोर्ट** – इन बैंकों को अपनी प्रगति की रिपोर्ट प्रति सप्ताह रिजर्व बैंक को भेजनी पड़ती है तथा रिपोर्ट न भेजने पर जुर्माना भी किया जा सकता है।

(2) **गैर-अनुसूचित बैंक** (Non-Scheduled Bank) – जिन बैंकों को रिजर्व बैंक ने अपनी सारणी नं. 2 में सम्मिलित नहीं किया है उन्हें गैर-अनुसूचित बैंक कहते हैं। इन बैंकों पर रिजर्व बैंक का नियंत्रण कम होता है।

(B) पूँजी के आधार पर वर्गीकरण –

पूँजी के आधार पर बैंकों को निम्न भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है –

(i) **प्रथम वर्ग** – इस वर्ग में उन बैंकों को सम्मिलित किया जाता है जिनकी चुकता पूंजी एवं सुरक्षित कोष दोनों को मिलाकर राशि 5 लाख रुपये से अधिक हो।

(ii) **द्वितीय वर्ग** – इस वर्ग में उन बैंकों को रखा जाता है जिनकी दत्त पूँजी एवं कोष 1 लाख व 5 लाख रुपये के अंतर्गत हो।

(iii) **तृतीय वर्ग** – इस वर्ग में उन बैंकों को सम्मिलित किया जाता है जिनकी पूँजी व कोष की राशि 50 हजार व 1 लाख रुपये के मध्य हो।

(iv) **चतुर्थ वर्ग** – इस वर्ग में उन बैंकों को रखा जाता है जिनकी पूँजी व कोष 50 हजार रुपये से कम हो।

व्यापारिक बैंकों के कार्य

(Functions of Commercial Bank)

व्यापारिक बैंकों के कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है –

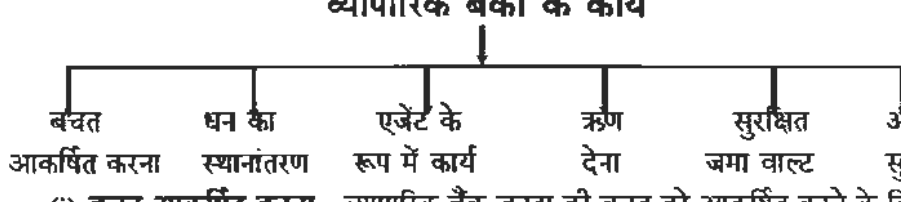

(i) **बचत आकर्षित करना** – व्यापारिक बैंक जनता की बचत को आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार के खातों को खोलकर सुविधाएँ प्रदान करते हैं जैसे चालू खाता, सेविंग खाता, स्थिर जमा खाता, सावधिक जमा खाता (Recurring Deposit Account) आदि।

(ii) **धन का स्थानांतरण** – ये बैंक ग्राहकों की सुविधा के लिए सस्ती दर पर एक स्थान से दूसरे स्थान को धन के हस्तांतरण की सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

(iii) **एजेंट के रूप में कार्य** – ये बैंक ग्राहकों की ओर से एजेंट का कार्य करते हैं तथा उनकी ओर से धन प्राप्त करते व भुगतान करते हैं तथा प्रतिभूतियों आदि का क्रय एवं विक्रय करते हैं।

(iv) **ऋण देना** – बैंक व्यापारियों एवं उत्पादकों को प्रतिभूतियों की धरोहर पर अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं तथा बिलों की कटौती करते हैं। व्यापारिक बैंक अपना अधिकांश धन व्यापारियों को अल्पकालीन ऋणो के रूप में देते हैं, क्योंकि इनमें एक ओर तरलता रहती है तथा दूसरी ओर ऐसे ऋणों पर अपेक्षाकृत ऊँची ब्याज दर प्राप्त होती है। कृषि कार्यों के लिए यह बैंक प्राय: ऋण नहीं देते हैं क्योंकि,

(a) कृषकों से संबंध स्थापित करने में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

(b) कृषि कार्य सदैव प्रकृति की अनुकंपा पर निर्भर करता है।

(c) किसानों के पास पर्याप्त मात्रा में तरल संपत्ति का अभाव पाया जाता है।

(v) **सुरक्षित जमा वाल्ट** – (Safe Deposit Vault) – व्यापारिक बैंक ग्राहकों को अपनी बहुमूल्य वस्तुएँ रखने के लिए लॉकर की सुविधाएँ प्रदान करता है तथा वस्तुओं को सुरक्षित रखता है।

(vi) **अन्य सुविधाएँ** – व्यापारिक बैंक ग्राहकों को अन्य आवश्यक व्यापारिक सूचनाएँ भी देते हैं। यात्रियों को यात्री चैक जारी किए जाते हैं तथा समय-समय पर उन्हें आर्थिक सलाह व परामर्श भी दिया जाता है। बैंक ग्राहक की ओर से किराए वसूल करना, प्रतिभूतियों पर ब्याज प्राप्त करना आदि अनेक कार्यों संबंधी सेवाएँ प्रदान करते हैं।

व्यापारिक बैंकों की वर्तमान स्थिति

भारत में व्यापारिक बैंकों ने अपार प्रगति की है। रिजर्व बैंक का प्रमुख उद्देश्य देश में बैंकिंग प्रणाली का विकास करना है जिससे बढ़ती हुई माँग एवं आवश्यकता की पूर्ति की जा सके। वर्तमान समय में ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के प्रसार पर बल दिया जा रहा है। बैंकों को यह सुझाव दिया जाता है कि तुलनात्मक दृष्टि से उन राज्यों एवं क्षेत्रों में बैंकों का विस्तार किया जाना चाहिए कि जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ अविकसित अवस्था में हैं या जहाँ बैंकिंग सुविधाओं का पूर्णतया अभाव है।

भारत में व्यापारिक बैंकों के विकास में राष्ट्रीयकरण का विशेष महत्व है। जुलाई 1969 में 14 बड़े बैंकों जिनकी जमा 50 करोड़ रु. से अधिक थी का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। इसके बाद अप्रैल, 1980 में 6 अन्य व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके सरकार ने वित्तीय क्षेत्र में लगभग एकाधिकार कर लिया। वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीयकरण के बाद ही व्यापारिक बैंकों का चहुंमुखी विकास हुआ, जो कि निम्नानुसार हैं :-

1. **शाखा विस्तार** (Branch Expansion) – राष्ट्रीयकरण के बाद ग्रामीण क्षेत्रों पर विशेष ध्यान दिया गया। शाखा विस्तार के क्षेत्र में हुई प्रगति को निम्न तालिका एक में दर्शाया गया है।

तालिका-एक
बैंकों की शाखाओं में विस्तार

बैंक समूह	30 जून की स्थिति के अनुसार कार्यालयों की संख्या			
	1969	1997	2001	2005
I भारतीय स्टेट बैंक और उसकी सहायक बैंक	2462	13012	13427	13684
II राष्ट्रीयकृत बैंक	4553	31440	32574	33865
III क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	–	14405	14467	14496
कुल सरकारी क्षेत्र की बैंक	**7015**	**58857**	**60468**	**62045**
IV अन्य भारतीय अनुसूचित व्यापारिक बैंक	900	4420	5,208	6181
V विदेशी बैंक	130	189	235	251
कुल अनुसूचित बैंक	**8045**	**63466**	**65911**	**68477**
VI गैर-अनुसूचित बैंक	217	7	11	23
सभी व्यापारिक बैंक	8,262	63,473	65,922	68500

स्रोत :- आर्थिक समीक्षा, भारत सरकार, 2005-06 पृष्ठ S-56

तालिका-1 से स्पष्ट है कि 1969 से 2005 की अवधि में व्यापारिक बैंकों की शाखाओं में लगभग 8 गुनी वृद्धि हुई। सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि यह रही है कि व्यापारिक बैंकों की कुल शाखाओं का लगभग 50 प्रतिशत शाखाऐं ग्रामीण क्षेत्रों में है। सन् 1969 में प्रति शाखा लगभग 64,000 जनसंख्या थी जो घटकर सन् 2005 में केवल 15,000 जनसंख्या हो गई है।

2. **विकास प्रेरित बैंकिंग व्यवस्था** (Development Oriented Banking) – राष्ट्रीयकरण से पूर्व तक व्यापारिक बैंकों का सम्बन्ध अल्पकालीन वाणिज्यिक क्षेत्रों को उधार देना रहा है। किन्तु, हाल ही के वर्षों में बैंकिंग व्यवस्था का चहुंमुखी विकास हुआ है और अब यह व्यवस्था विकास प्रेरित हो गई है। अब व्यापारिक बैंक औद्योगिक एवं कृषि क्षेत्र में भी बड़ी मात्रा में ऋण दे रही है। संक्षेप में, अल्पकालीन वित्त प्रबन्ध की अपेक्षा अब बैंक, विकास और विस्तार की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए मध्यम और दीर्घकालीन उधार की ओर अपनी क्रियाओं को बड़ा रही है।

3. **बैंक जमा और उधार का विस्तार** – पिछले कुछ वर्षों में बैंक जमा एवं उधार देने की व्यवस्था में तेजी से विस्तार हुआ है। जन-साधारण में बैंकिंग आदत में भी तेजी से वृद्धि हुई है जिसके कारण भी बैंकों की क्रियाओं में विस्तार हुआ है। तालिका-2 में अनुसूचित बैंकों की जमा एवं उधार की वृद्धि का तुलनात्मक विवरण दर्शाया गया है।

तालिका- 2

सभी अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की जमा एवं उधार

वर्ष	बैंकों की संख्या	बैंक जमा (करोड़ रु.)	बैंक उधार (करोड़ रु.)
1950-51	430	820	580
1970-71	87	5,910	4,690
1990-91	271	1,92,540	1,16,300
2000-01	297	9,62,620	5,11,430
2001-02	294	11,00,450	5,85,830
2002-03	291	12,80,580	7,25,370

तालिका- 2 के विवरण से स्पष्ट है कि पिछले 50 वर्षों में व्यापारिक बैंकों ने बचतों के संकलन एवं उधार देने के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। वर्ष 1950-51 और 2002-03 के मध्य बैंक जमा राशि 820 करोड़ रु. से बढ़कर 12,80,580 करोड़ रु. हो गयी अथवा 1562 गुनी वृद्धि हुई है। अब ग्रामीण क्षेत्रों की बचतें भी बैंकों को प्राप्त होने लगी हैं। वर्ष 1950-51 में सभी अनुसूचित व्यापारिक बैंकों द्वारा कुल 580 करोड़ रु. के ऋण दिये गये थे जो बढ़कर वर्ष 1990-91 में 1,16,300 करोड़ रु. एवं वर्ष 2002-03 में 7,25,370 करोड़ रु. हो गये अर्थात् 1250 गुना बढ़ गए। किन्तु अभी भी अनेक ग्रामीण क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ बैंकिंग सुविधाओं का विकास नहीं हुआ है। अनुमान है कि देश में अभी भी 5 लाख गाँवों में बैंकिंग सेवा नहीं है।

4. **प्राथमिकता क्षेत्र को उधार** (Lending to Priority Sector) – राष्ट्रीयकरण के पूर्व व्यापारिक बैंकों के विरुद्ध प्राय: यह आलोचना की जाती थी कि उन्होंने कृषकों, छोटे उद्योगों, कारीगरों, निर्यातको आदि को वित्त उपलब्ध कराने में उपेक्षा की है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों ने इन प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को उधार उपलब्ध कराने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वर्तमान में प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को ऋण देने के लिये व्यापारिक बैंकों ने कम ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराने की विशेष योजनाऐं चालू की हैं। तालिका-3 में सरकारी बैंकों द्वारा प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को दिये गए ऋणों का तुलनात्मक विवरण दर्शाया गया है।

तालिका-3
सरकारी बैंकों द्वारा प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को दिया गया ऋण

प्राथमिकता वाले क्षेत्र	1969		2004	
	ऋण राशि (करोड़ रु.)	कुल ऋणों का प्रतिशत	ऋण राशि (करोड़ रु.)	कुल ऋणों का प्रतिशत
1. कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्र	142	5.5	84,435	15.1
2. लघु उद्योग	251	8.5	58,311	10.4
3.अन्य प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र	48	0.9	1,01,710	18.1
कुल प्राथमिकता वाले क्षेत्र	440	14.9	2,44,456	43.6
4.बैंकों द्वारा दिए गए कुल ऋण	3,017	100.0	5,60,819	100.0

तालिका-3 से स्पष्ट है कि सन् 1969 में व्यापारिक बैंकों द्वारा कुल दिए गए ऋणों का केवल 14.9 प्रतिशत भाग प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्राप्त हुआ था जो बढ़कर 2004 में 43.6 प्रतिशत हो गया। कृषि क्षेत्र को सन् 1969 में कुल ऋणों का केवल 5.5 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था, जो बढ़कर 2004 में 15.1 प्रतिशत हो गया। किन्तु, भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व को देखते हुए यह राशि पर्याप्त नहीं है। लघु उद्योगों को प्राप्त ऋणों का प्रतिशत सन् 1969 में केवल 8.5 था, जो बढ़कर 2004 में 10.4 हो गया है। प्राथमिकता वाले अन्य क्षेत्र जिनमें सड़क परिवहन के चालक, फुटकर व्यापारी, स्वरोजगार-व्यक्ति आदि शामिल है, को दिए गए ऋणों की मात्रा जो 1969 में केवल 0.9 प्रतिशत थी, बढ़कर 2004 में 18.1 प्रतिशत हो गई। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्राप्त ऋणों में राष्ट्रीयकरण के बाद वृद्धि हुई है, किन्तु यह वृद्धि पर्याप्त नहीं है। इस दिशा में और अधिक विस्तार अत्यावश्यक है।

5. **बैंकों की लाभदायकता** (Profitability of Banks) – भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की लाभदायकता बहुत कम है। कुछ बैंक तो अभी भी घाटे में चल रहे हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अपने प्रतिवेदन "भारत में बैंकिंग की प्रवृत्ति एवं प्रगति" में अनुसूचित बैंकों की लाभदायकता के परिणामों को तालिका क्रमांक-4 में दर्शाया गया है।

तालिका-4
अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की लाभदायकता

(करोड़ रु. में)

बैंक समूह	1981	1992	1994	2002
1. स्टेट बैंक समूह	16	244	356	3,450
2. राष्ट्रीयकृत बैंक (19)	30	559	(–) 4780	4,851
3. निजी क्षेत्र के बैंक (34)	3	77	149	1,779
4. विदेशी बैंक (42)	14	320	573	1,492

तालिका-4 से स्पष्ट है कि जहाँ तक स्टेट बैंक समूह का संबंध है, इन बैंकों के लाभ में लगातार वृद्धि हुई है और यह 1981 में 16 करोड़ रु. से बढ़कर 2001-02 में 3,450 करोड़ रु. हो गया। किन्तु, कुल कार्यकारी पूँजी के अनुपात के रूप में यह महत्वहीन ही है, अर्थात् वर्ष 2000-01 में यह लगभग 0.8 प्रतिशत ही रहा। राष्ट्रीयकृत व्यापारिक बैंकों में तो लाभदायकता बहुत कम रही है। वर्ष 1993-94 में इन बैंकों को प्रतिभूति घोटाले में फँस जाने के कारण भारी हानि उठाना पड़ी है और यह हानि 4,780 करोड़ रु. की रही। किन्तु, इसके बाद के वर्षों में इन बैंकों ने लाभदायकता बढ़ाने में क़ाफी सफलता प्राप्त की

NOTES

है। वर्ष 2001-02 में राष्ट्रीयकृत व्यापारिक बैंकों को कुल 4,851 करोड़ रु. का लाभ प्राप्त हुआ है। निजी क्षेत्र के बैंक, जिनकी संख्या 34 है और विदेशी बैंकों की स्थिति हमेशा ही अच्छी रही है और इन बैंकों को पिछले वर्षों में अच्छा लाभ प्राप्त हुआ है।

प्राय: सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की कम लाभदायकता की व्याख्या उनके सामाजिक दायित्वों (Social Obligations) के रूप में की जाती है, यथा – (i) ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ खोलना, जो कि लाभदायक नहीं रहती, (ii) समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के लिए वित्त जुटाना, (iii) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के लिए रियायती ब्याज दर पर ऋण देना, (iv) कुल उधार के 40 प्रतिशत तक प्राथमिकता क्षेत्र के लिए उधार देना आदि।

बैंकिंग प्रणाली पर नरसिम्हम समिति (1991) की सिफारिशें

(Recommendations of the Narasimham Committee on the Banking System)

नरसिम्हम समिति की सिफारिशों का आधार यह मूल धारणा है कि बैंक जनता से प्राप्त संसाधनों के ट्रस्टी हैं और इनका प्रयोग ऐसे ढंग से किया जाना चाहिए कि इनके स्वामियों अर्थात् जमाकर्ताओं को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। इस समिति ने बैंकों की वित्तीय शक्ति और लाभदायकता को उन्नत करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए हैं –

(i) बैंकों के लाभदायक प्रयोगों के लिए अधिक धन राशि उपलब्ध कराने के लिए कानूनी तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio) को घटा कर 25 प्रतिशत और नकद आरक्षण अनुपात (Cash Reserve Ratio) को कम करके कुल जमा के 5 प्रतिशत तक लाना चाहिए।

(ii) कानूनी तरलता अनुपात के अधीन जो सरकारी और अर्ध-सरकारी प्रतिभूतियाँ सरकार द्वारा बैंकों को प्रस्तुत की जाती हैं, उन पर ऊंची ब्याज दर देनी चाहिए।

(iii) बैंकों को उधार की न्यूनतम ब्याज दर निश्चित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(iv) प्राथमिकता क्षेत्र के लिए उधार की मात्रा कुल उधार के वर्तमान 40 प्रतिशत से कम करके 10 प्रतिशत कर देनी चाहिए।

(v) सभी रियायती ब्याज दरें समाप्त कर देनी चाहिए।

(vi) सभी संदिग्ध ऋणों की देखभाल के लिए परिसम्पत्ति पुनर्निर्माण निधि (Assets Reconstruction Fund) कायम करना चाहिए।

(vii) अतिरिक्त आय प्राप्त करने के लिए बैंकों को नई योजनाऐं चालू करनी चाहिए, जैसे – व्यापारिक बैंकिंग अनुषंगियाँ (Merchant Banking Subsidiaries), पारस्परिक निधियाँ (Mutual Funds), जोखिम पूँजी कम्पनियाँ (Venture Capital Companies), आढ़त सेवाऐं (Factoring Services) और क्रेडिट कार्ड आदि।

(viii) शाखा विस्तार को कड़े रूप में वाणिज्यिक आधार पर ही बढ़ावा देना चाहिए और बैंकों को आपस में शाखाओं की अदला-बदली की इजाजत होनी चाहिए।

(ix) बैंक को राशियाँ प्राप्त करने के नए स्रोत ढूँढने चाहिए। उदाहरणार्थ - जमा-प्रमाण पत्रों (Certificates of Deposits) द्वारा बैंक को काफी जमा-राशि प्राप्त हो सकती है जिसे बाद में निगम क्षेत्र को अधिक लाभदायक ब्याज दर पर उधार दिया जा सकता है।

(x) बैंक 365 दिन के ऐसे ट्रेजरी बिल जारी कर सकती है जिन पर अधिक ब्याज दर प्राप्त हो।

महत्वपूर्ण प्रश्न

(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. बैंक केवल मुद्रा-व्यापारी ही नहीं, बल्कि एक महत्वपूर्ण अर्थ में मुद्रा निर्माता भी है। इस कथन के आधार पर आधुनिक बैंक के प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिए।

Banks are not merely traders in money, but in an important sense manufacturers of money. In the light of this statement, explain the main functions of a modern bank.

[संकेत - बैंक के कार्य दीजिए।]

NOTES

2. तरलता तथा ब्याज अर्जित करने की इच्छा जैसे दो प्रतिस्पर्धी उद्देश्यों के मध्य निरन्तर खींचतान एक आधुनिक बैंक के कार्यों कर संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करती है। व्याख्या कीजिए।
A constant tug of war between the competing aims of liquidity and profitability summarises the functions of a modern bank. Discuss.

[संकेत- बैंकों के कार्यों का वर्णन कीजिए।]

3. बैंक जमाओं के बहुगुणंक विस्तार की प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए। इस प्रकार की जमाओं का निर्माण करने में बैंकिंग प्रणाली की सीमाएँ क्या हैं?
Discuss the mechamism of multiple expansion of bank deposits that are the limitation on the banking system as a whole in regard to the creation of such deposits.

[संकेत- बैंकिंग साख प्रणाली की सीमाएँ दीजिए।]

4. बैंकिंग प्रणाली द्वारा साख-मुद्रा का निर्माण किस प्रकार होता है? क्या एक व्यक्तिगत बैंक भी स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए साख-मुद्रा का निर्माण कर सकता है?
How does the banking system create credit money? Can such money be created by an individual bank acting independently?
[संकेत- साख निर्माण के ढंग देकर साख मुद्रा का महत्व दें।]

5. ऋण से जमा का सृजन होता है और जमा से ऋण का स्पष्ट कीजिए।
Loans creates deposit and deposits create loans. Explain.

[संकेत- बैंकों का कार्य दीजिए।]

6. इकाई व शाखा बैंकिंग के गुण -दोषों का विवेचन कीजिए और एक श्रेष्ठ बैंकिंग प्रणाली की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
Describe the relative merits and demerits of unit and Branch Banking systems. Explain the main characteristics of a sound banking system.

[संकेत- इकाई व शाखा बैंकिंग का अर्थ व बैंकिंग प्रणाली की विशेषताएँ दें।]

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. वाणिज्यिक बैंक क्या है?
What is Commericial Bank?

2. इकाई बैंकिंग प्रणाली को समझाइये।
Explain the unit banking system.

3. साख निर्माण क्या है?
What is creation of Credit?

4. बैंकिंग के विकास की विवेचना कीजिये।
Discuss the development of Banking.

NOTES

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. निम्न में से कौन-सा कार्य वाणिज्यिक बैंकों का नहीं है-

(अ) नोट निगर्मन (ब) ऋण देना (स) जमाएँ स्वीकारना (द) उपरोक्त सभी

Which of the following functions is not done by commercial banks:

(a) To issue note (b) To give loans

(c) To accept deposits (d) All of above

2. कौन-सा बैंक, बैंक दर एवं खुले व्यापार की क्रियायें संचालित करता है-

(अ) सहकारी बैंक (ब) सेन्ट्रल बैंक (स) रिजर्व बैंक (द) कोई नहीं

Which bank operates Bank rate and open market operations:

(a) Co-operative Bank (b) Central Bank

(c) Reserve Bank (d) None of these

उत्तर-1. (अ), 2. (स) ।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

11

साख नियंत्रण

(CREDIT CONTROL)

प्रारम्भिक - सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य की सीमित आवश्यकतायें होने पर वह अपने ही साधनों से अपनी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण कर लिया करता था, परन्तु आवश्यकताओं के बढ़ जाने पर उन्हें अपने ही साधनों से पूर्ण करना कठिन हो गया तथा इसके हल के लिए विनिमय एवं श्रम-विभाजन की रीतियों को अपनाया गया। प्रारम्भ में वस्तु-विनिमय ढंग को अपनाया गया। इसमें अनेक प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित होने पर द्रव्य का आविष्कार किया गया तथा वस्तुओं के क्रय-विक्रय में उसका उपयोग किया जाने लगा। वर्तमान समय में आवश्यकताओं में अपार वृद्धि होने एवं सूक्ष्म श्रम-विभाजन होने के कारण विनिमय के बिना आवश्यकताओं की पूर्ति करना सम्भव नहीं हो पाता। द्रव्य के अभाव में आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना सम्भव नहीं हो पाता। व्यवहारों की संख्या बढ़ने के कारण समस्त लेनदेन नकद रूप में न होकर उधार या साख के रूप में किये जाते हैं। वर्तमान समय में साख का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि वर्तमान अर्थव्यवस्था को साख मुद्रा अर्थव्यवस्था के नाम से जाना जाने लगा है। अत: **भविष्य में भुगतान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर वर्तमान में मुद्रा, वस्तुएँ एवं सेवाएँ प्राप्त करना ही साख कहलाता है।** केवल व्यापारिक लेनदेन, बैंकों अथवा अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेने की क्रियाओं की गणना ही साख के अन्तर्गत आती है। मुद्रा साख का आधार होने पर भी अधिकांश आर्थिक क्रियाएँ साख द्रव्य के आधार पर ही पूर्ण की जाती हैं। साख मुद्रा एक ऐसी आधारशिला है जिस पर सभी प्रकार की आर्थिक क्रियायें आधारित रहती हैं। विकसित एवं अविकसित राष्ट्रों में साख-मुद्रा की सहायता से ही समस्त कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

साख का अर्थ

साख शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी शब्द Credit से ही हुई है, जिसका अर्थ है 'I believe' अर्थात् मैं विश्वास करता हूँ। अत: अंग्रेजी के Credit शब्द का अर्थ विश्वास से लिया जाता है। लेटिन भाषा का Credo शब्द स्वयं संस्कृत भाषा के Cred से बना है। साख का अभिप्राय केवल विश्वास से लिया जाता है। आर्थिक दृष्टि से साख का अर्थ भविष्य में भुगतान करने के आश्वासन पर वस्तुएँ प्राप्त करना है। इस प्रकार उधार लेना-देना ही साख कहलाता है। व्यापारिक दृष्टि से साख का अर्थ किसी व्यक्ति की बाजार में प्रतिष्ठा से लगाया जाता है। बही खाते की दृष्टि से साख से आशय खाते के जमा पक्ष से लिया जाता है।

साख की परिभाषाएँ

विभिन्न विद्वानों ने साख शब्द को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है -

(1) **प्रो. केन्ट के अनुसार** - "साख तुरन्त हस्तांतरित वस्तु के बदले भविष्य में या मांग पर भुगतान प्राप्त करने का अधिकार है।"

(2) **प्रो. चीड़ के अनुसार** - "साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात भुगतान करने पर पूरा हो जाता है।"

(3) **प्रो. विंगफील्ड स्ट्राट फोर्ड के अनुसार** - साख का अभिप्राय केवल विश्वास से ही होता है।

(4) **प्रो. वालरस के अनुसार** - "साख का अर्थ पूंजी उधार देना है।"

(5) **प्रो. जेक्स के अनुसार** - "साख शब्द का अर्थ भुगतान को स्थागित करना है।"

NOTES

इस प्रकार साख एक प्रकार का विनिमय कार्य है जिसमें कोई ऋणदाता किसी ऋणी को वर्तमान समय में कुछ वस्तुएँ या मुद्रा इस विश्वास पर प्रदान करता है कि कुछ समय बाद वह उसे वापस कर देगा।बैंक जिस मुद्रा का निर्माण करती है, उसे बैंक मुद्रा या साख मुद्रा कहा जाता है और इस मुद्रा का संचालन बैंकों द्वारा ही किया जाता है। सामान्यत: साख मुद्रा का मुख्य आधार जन-साधारण की वह **'जमा'** होती है जिसके आधार पर लिखे गए चैकों का प्रयोग मुद्रा के रूप में होता है। व्यापारिक लेन-देन में जिन चैकों का प्रयोग होता है, वे बैंको में जमा मुद्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिए बैंक मुद्रा या साख मुद्रा को **"जमा मुद्रा"** (Deposit Money) भी कहा जाता है।

प्रो. न्यूलन ने साख निर्माण को परिभाषित करते हुए लिखा है, "साख निर्माण से अभिप्राय व्यापारिक बैंकों की उस शक्ति से है जिसके द्वारा वे ऋण देकर या प्रतिभूतियों में विनियोग कर के गौण जमा का विस्तार करते हैं।" इसी प्रकार प्रो. हाम (Halm) के अनुसार, "गौण जमा का निर्माण ही साख निर्माण कहलाता है।"

साख निर्माण की रीतियाँ
(Methods of Credit Creation)

सामान्यत: एक साधारण व्यक्ति को यह जानकार आश्चर्य होता है कि यदि एक बैंक के पास एक हजार रुपया जमा हो तो वह बैंक पांच हजार तक साख का निर्माण कैसे कर सकती है। अन्य शब्दों में बैंक में जितनी पूंजी जमा होती है उससे कई गुना अधिक साख का निर्माण वह कर देती है। साख का निर्माण की मुख्य तीन रीतियां हैं, यथा- (1) कागजी मुद्रा के निर्गमन द्वारा साख निर्माण (2)जमा राशियों से साख निर्माण तथा (3) अन्य रीतियों से साख का निर्माण।

(1) **कागजी मुद्रा का निर्गमन** (Issue of Paper Currency)-19वीं शताब्दी में प्राय: सभी बैंकों को पत्र मुद्रा निर्गमन का अधिकार था। ये पत्र मुद्रायें ही साख मुद्रा के रूप में प्रचलित थी। वर्तमान समय में मुद्रा निर्गमन का एकाधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को है। केन्द्रीय बैंक भी मुद्रा के निर्गमन से ही साख का निर्माण करती है, क्योंकि आजकल वह पत्र मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत धातुकोष नहीं रखता। सम्पूर्ण पत्र मुद्रा के बदले में "निश्चित धातु आड़" या "आनुपातिक धातु आड़" रखी जाती है, तथा शेष पत्र मुद्राओं के लिये केवल प्रतिभूतियों की आड़ ही रखी जाती है। अत: कागजी मुद्रा का वह भाग जिसके पीछे धात्विक आड़ नहीं होती केन्द्रीय बेंक की साख पर ही बाजार में प्रचलित रहती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित नोट एक प्रकार के साख पत्र ही होते हैं। किन्तु ये सभी मुद्रायें विधिग्राह्य होती हैं।अत: इन्हें पूर्णत: बैक साख नहीं माना जा सकता है।

(2) **जमा राशियों से साख का निर्माण** (Credit Creation Through Deposits) - आधुनिक समय में बैंक अपने पास दो प्रकार की राशियां जमा के रूप में रखता है , यथा (i) प्राथमिक जमा राशियां और (ii) व्युत्पन्न जमा राशियां।

(i) **प्राथमिक जमा राशियां** (Primary Deposits) - जब कोई ग्राहक बैंक में जमा खाता खोलकर नगद या चैक जमा कराता है तो उसे प्राथमिक या निष्क्रिय जमा राशि कहते हैं। बैंक अपने अनुभव से यह जानता है कि जमाकर्ता एक समय में अधिक से अधिक कितनी राशि को निकालते हैं, वह उतनी ही राशि को अपने पास रखकर शेष राशि ग्राहकों को ऋणों या पेशगियों के रूप में उधार देता है।

(ii) **व्युत्पन्न अथवा सक्रिय जमा राशियां** (Derived Deposits)- जब **कोई ग्राहक बैंक से ऋण लेता है तब बैंक उसे नगद राशि न देकर उसके नाम का एक खाता खोलकर ऋण राशि उसमें जमा कर देता हैं।** ऋणी सम्पूर्ण राशि अथवा छोटी-छोटी राशियों के रूप में बैंक से ऋण ली गई राशि निकाल सकता है। **बैंक जैसे ही ग्राहक के ऋण का खाता खोलकर ऋण राशि उसमें जमा करता है। वैसे ही जमा राशि के बराबर साख का सृजन हो जाता है।** यह जमा राशि सक्रिय जमा राशि कहलाती है। चूँकि ऋण द्वारा जमा राशि से साख का निर्माण होता है, इसलिऐ इसे **व्युत्पन्न जमा राशि भी कहते हैं।** कारण यह है कि इसमें ऋण ली गई राशि सक्रिय मुद्रा की तरह से बैंक से निकाली जा सकती है। ये सक्रिय जमा राशियां अर्थव्यवस्था की कुल मुद्रा पूर्ति में विशुद्ध वृद्धि करती हैं। ऋणी जैसे ही ऋण

राशि लौटाता है बैंक के द्वारा व्युत्पन्न जमा राशि स्वत: समाप्त हो जाती है और मुद्रा की कुलपूर्ति में विशुद्ध राशि के बराबर कमी हो जाती है। संक्षेप में **बैंक द्वारा ग्राहक को ऋण देने से साख मुद्रा का निर्माण होता है**। लेकिन ग्राहक द्वारा बैंक को मुद्रा लौटा देने से साख मुद्रा में कमी हो जाती है। जमा राशि से साख निर्माण की प्रक्रिया को दो प्रकार से समझा जा सकता है, यथा - (a) **एक ही बैंक के द्वारा साख का निर्माण** और (b) **विभिन्न बैंकों के द्वारा साख का निर्माण** । इनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार से है:-

(A) एक ही बैंक द्वारा साख का निर्माण (Credit Creation by Single Bank)

माना कि किसी स्थान पर केवल एक ही बैंक है जिसमें लोग अपनी नगद राशियां जमा करते हैं। ऐसी दशा में A व्यक्ति ने अपने खाते मे 100 रुपये की राशि जमा की है। यद्यपि वह अपने खाते से यह राशि कभी भी निकाल सकता है, तथापि बैंक अपने अनुभव से यह जानता है कि जमाकर्ता यह समूची राशि एकही समय में वापिस नहीं मांगेगा वरन् वह सम्पूर्ण जमाराशि का थोड़ा भाग ही वापिस लेगा। अत: बैंक इस जमा राशि का निश्चित प्रतिशत नगद रूप में रखकर शेष रकम जरुरत मंद व्यक्ति को ऋण के रूप में दे देता है।मान लीजिए कि बैंक ने A व्यक्ति की जमा राशि का 20 प्रतिशत भाग या 20 रुपये नगद रख लिये तथा शेष 80 रुपये B व्यक्ति को ऋण के स्वरुप में दे दिये। इस प्रकार बैक में जमा धन में 80 रुपये की वृद्धि हो गई। कारण यह है B व्यक्ति प्राप्त ऋण की राशि नगद नहीं लेता। बैंक उस व्यक्ति का खाता खोलकर ऋण की राशि उस व्यक्ति के खाते में जमा कर देता है। यह जमा व्युत्पन्न जमा कहलाती है। पुन: बैंक यह समझकर कि 80 रुपये का जो ऋण B व्यक्ति को दिया गया है। वह एक साथ न निकालकर समय-समय पर अपनी आवश्यकतानुसार ऋण निकालेगा। अत: उसके 80 रुपये का 20 प्रतिशत या 16 रुपये नगद रखकर 64 रुपये C व्यक्ति को ऋण स्वरूप दे देगा। इस प्रकार बैंक का यह क्रम चलता ही जायेगा। और बैंक 100 रुपये के प्रारम्भिक जमा के आधार पर 400 रुपये का ऋण प्रदान करने मे समर्थ हो जायेगा साख निर्माण की इस प्रक्रिया को निम्न तालिका के द्वारा भी समझा जा सकता है।

बैंक की साख निर्माण की प्रक्रिया

व्यक्ति का नाम	जमा(रुपये)	नकद कोष (20 प्रतिशत)	ऋण-व्युत्पन्न (जमाराशि)
A	100.00 प्रारंभिक	20.00	80.00
B	80.00 व्युत्पन्न	16.00	64.00
C	64.00 व्युत्पन्न	12.80	51.20
D	51.20 व्युत्पन्न	10.24	40.96
E	40.96 व्युत्पन्न	9.19	32.77
F	यह क्रम चलता रहेगा जब तक कि व्युत्पन्न जमा शून्य न हो जावे।		
योग	500=00	100=00	400=00

उपर्युक्त तालिका के अनुसार एक ही बैंक में विभिन्न व्यक्ति ऋण लेते समय नया खाता खोलकर बैंक ऋण की राशि को बैंक में जमा कर देते हैं। ऐसी दशा में एक ही बैंक की साख निर्माण क्षमता में वृद्धि होती रहती है।

(B) विभिन्न बैंकों के द्वारा साख का निर्माण

(Credit Creation by the Different Banks)-

यदि उक्त उदाहरण में विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न बैंक मानकर देखा जाये तो उक्त उदाहरण का विश्लेषण इस प्रकार होगा- माना कि A बैंक में 100 रुपये की राशि जमा की है। यद्यपि वह अपने खाते से यह राशि कभी भी निकाल सकता है, तथापि बैंक अपने अनुभव से यह जानता है कि जमा कर्ता यह

समूची राशि एक ही समय में वापिस नहीं मांगेगा वरन वह सम्पूर्ण जमा राशि का थोड़ा भाग ही वापिस लेगा। अत: बैंक इस जमा राशि का एक निश्चित प्रतिशत नगद रूप में रखकर शेष रकम जरूरत मंद व्यक्तियों को ऋण के रूप में दे देगा। मान लीजिए कि बैंक ने व्यक्ति की 100 रु. की जमा राशि में से 20 रुपये नकद रखकर 80 रुपये का ऋण दूसरे व्यक्ति को देता है। दूसरा व्यक्ति इस राशि को B बैंक में जमा रखता है। B बैंक 16 रुपये रखकर 64 रुपये तीसरे व्यक्ति को उधार दे देता है। तीसरे व्यक्ति ने 64 रुपये C बैंक में जमा कर दिये। C बैंक ने भी 20 प्रतिशत राशि को रखकर शेष राशि चौथे व्यक्ति को उधार दे देता है। **इस प्रकार बैंकिंग प्रणाली के द्वारा कुल 400 रुपये के ऋण दिये जायेंगे और 500 रुपये के कुल जमा (सभी बैंकों को मिलाकर) प्राप्त होंगे।** स्मरण रहे कि यह प्रक्रिया गुणक आकार में बढ़ती है और तब तक इसकी पुनरावृत्ति होती रहती है जब तक सभी बैंकों के द्वारा निर्मित व्युत्पन्न जमाराशियों की कुल मात्रा प्रथम बैंक द्वारा निर्मित प्रारंभिक जमा मात्रा का गुणक नहीं हो जाती। **व्युत्पन् जमा राशियों को कुल मात्रा से विभाजित करके साख गुणक** ज्ञात किया जा सकता है।

$$\text{साख गुणक} = \frac{\text{व्युत्पन्न जमा राशियों की कुल मात्रा}}{\text{प्रारंभिक अतिरिक्त रक्षित राशि}}$$

उपरोक्त उदाहरण में साख गुणक $= \frac{400}{80} = 5$ हैं।

साख निर्माण के सन्दर्भ में यह विशेष उल्लेखनीय है कि जिस देश के जितने लोग बैंक में खाते रखने और बैंक के माध्यम से भुगतान करने के अभ्यस्त होंगे वहां उतना ही अधिक साख का निर्माण होगा।

(3) **अन्य रीतियों से साख निर्माण** (Other Methods of Credit Creation) –

(i) **नगद कोष के प्रतिशत में कमी** (Reducing Cash Reserve Ratio) - यदि बैंक अपने नगद कोष के प्रतिशत में कमी कर दे तो बैंक की साख निर्माण क्षमता बढ़ जाती है, जैसे उक्त उदाहरण में 20 प्रतिशत के स्थान पर केवल 10 प्रतिशत नगद राशि रखने लगे तो बैंक की साख निर्माण क्षमता और भी अधिक बढ़ जायेगी।

(ii) **अधिविकर्ष द्वारा साख का निर्माण** (Credit Creation Through Over Draft) -इस रीति में अपने ग्राहक के द्वारा जितनी राशि जमा की गई उससे अधिक राशि निकालने की अनुमति दे देती है जिसके परिणामस्वरूप जितनी राशि अधिविकर्ष के रूप में चलन में आती हैं उतनी ही मात्रा में साख का निर्माण होता है। अधिविकर्ष की सुविधाएँ प्रतिष्ठित ग्राहकों को ही दी जाती हैं। अत: इसका प्रयोग सीमित होता है।

(iii) **चैक द्वारा भुगतान** (Payments Through cheques) **से साख का निर्माण** - जब बैंक खरीदी गई प्रतिभूतियों का भुगतान चैक से करते हैं तब प्रतिभूति बेचने वाला व्यक्ति चैक को तुरन्त न भुनाकर आवश्यकता पड़ने पर ही उसे भुनाता है। ऐसी दशा में जितने समय तक चैक नहीं भुनाया जाता है, वह साख का काम करता है।

क्या बैंक वास्तव में साख का निर्माण करते हैं ? (Do Banks Really Create Credit) - बैंक साख मुद्रा का निर्माण करते हैं या नहीं इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। **प्रो. हार्टले विदर्स, प्रो. क्राउथर और प्रो. सेयर्स** का मत है कि बैंक साख मुद्रा का निर्माण करते हैं। जबकि **प्रो. केलन** और **प्रो. वाल्टरलिफ** यह मानते हैं कि बैंक साख का निर्माण नहीं करते हैं।इनके विचार का विस्तृत अध्ययन निम्न प्रकार है -

बैंक क्या साख का निर्माण वास्तव में करते है ? (Do Banks really create credit)-**प्रो. हार्टले विदर्स, प्रो. क्राउथर** और **प्रो.सेयर्स** आदि का मत है कि **साख मुद्रा का निर्माण अपने आप नहीं होता बल्कि बैंक की जमायें साख के निर्माण में योगदान देती हैं।** बैंक की जमायें साख निर्माण में निम्न प्रकार से सहायक होती हैं -

(अ) जमाकर्ता बैंक पर विश्वास करते हैं।

(ब) जमाकर्ता अपनी रकम बैंक में जमा कराते हैं और उसके प्रयोग के लिए चैक का उपयोग करते हैं।

(स) जनता अथवा जमाकर्ता विनियोग के लिए ऋण लेते हैं।

इस प्रकार बैंक जमायें साख का निर्माण करती हैं।

प्रो. हर्टले विदर्स के अनुसार - "ऋण जमा को जन्म देते हैं और उनकी उत्पत्ति का श्रेय बैंक को ही है।" **प्रो. क्राउथर** के अनुसार - "बैंक साख का निर्माण करते हैं।" **प्रो. क्राउथर** के विचारों का समर्थन करते हुए **प्रो. सेलिगमन** का कथन है कि "पहले बैंक नगद जमाओं का व्यवसाय करते थे।वर्तमान समय में बैंक मुख्य रूप से साख जमाओं का व्यवसाय करतें हैं।" **प्रो. सेयर्स** का मत है कि "बैंक केवल मुद्रा जुटाने वाली संस्था ही नहीं वरन् एक महत्वपूर्ण मुद्रा का निर्माता भी है।"

बैंक साख मुद्रा का निर्माण नहीं करते हैं (Bank do not really create credit)

- **डा. वाल्टरलिफ** एवं प्रो. **केनन** आदि अर्थशास्त्रियों का कहना है कि " बैंक साख मुद्रा का निर्माण नहीं करते हैं। **डॉ. वाल्टरलिफ** के शब्दों में - "यह कहना गलत है कि बैंक जमा राशियों को जन्म देते हैं।" **डॉ. लिफ** ने अपने मत के समर्थन में इंग्लैण्ड के 5 बड़े बैंकों का उदाहरण देते हुये बताया कि 1926 के स्थिति विवरणों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन बैंकों के ऋणों में वृद्धि तो हुई परन्तु जमा राशियां कम हो गयी।

प्रो. केनन ने बैंकिंग प्रणाली की तुलना एक अमानती समान ग्राहक से की है।वे उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यदि किसी रात्रि क्लब के 100 सदस्य अपना-अपना छाता अमानत ग्रह में जमा करा देते हैं। उसका प्रबन्धक यह जानता है कि एक घन्टे में 10 से ज्यादा छाता जमा कर्ताओं के द्वारा नहीं मांगे जायेंगे। ऐसी दशा में यदि वह 10 छाते एक रात्रि के लिए किराये पर देता है और कुछ कमा लेता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रबन्धक ने 10 छातों का निर्माण किया है। यही स्थिति बैंक की होती है। बैंक जमाकर्ताओं के द्वारा जमा किये गये धन को ही ऋण के रूप में ऋणी को देते हैं। **इससे वे किसी भी प्रकार की मुद्रा का निर्माण नहीं करते।**

यद्यपि सैद्धांतिक दृष्टि से **प्रो. लीफ** और **प्रो. केनन** के विचार सही हैं कि बैंक साख का निर्माण नहीं करते। फिर भी जमाकर्ता यह मानते हैं कि वे जब चाहेंगे तब बैंक से सम्पूर्ण या आंशिक मात्रा में रुपया निकाल सकते हैं इसीलिये लोग बैंक में अपनी मुद्रा जमा करते हैं और इस दृष्टिकोण से वास्तव में बैंक साख मुद्रा का निर्माण करते हैं।

साख निर्माण की सीमायें (Limitations of Credit Creation)-

यद्यपि बैंक गुणक रीति से साख का निर्माण करते हैं, अर्थात बैंक के पास जितनी जमायें होती हैं उसकी तुलना में कई गुना अधिक साख का निर्माण करते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि बैंक असीमित मात्रा में साख का निर्माण कर सकते हैं। वास्तव में बैंक एक सीमा तक साख का निर्माण कर सकते हैं, उससे अधिक नहीं। **प्रो. बेनहम** ने साख निर्माण की तीन सीमायें बताई हैं, यथा (i)**विधिग्राहा मुद्रा की मात्रा**, (ii)**मुद्रा की तरलता** तथा (iii) **मुद्रा दायित्वों का नगद कोष से अनुपात।**

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार किसी भी **बैंक द्वारा साख निर्माण की सीमा** अथवा **साख निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्व** निम्नलिखित हैं -

(1) **मुद्रा की मात्रा** (Volume of Currency in Circulation)-बैंकों की साख निर्माण शक्ति को विधिग्राह्य मुद्रा की कुल मात्रा प्रभावित करती है। **जिस देश में जितना अधिक विधि ग्राह्य मुद्राओं का निर्गमन और प्रचलन होता है वहां बैंकों की साख निर्माण की शक्ति उतनी अधिक होती है।** इसके विपरित विधिग्राह्य मुद्रा की मात्रा कम होने पर साख का निर्माण भी कम होता है।

(2) **मुद्रा स्फीति एवं संकुचन** (Inflation & Deflation)-मुद्रा स्फीति की दशा में विधिग्राहा मुद्रा बैंकों के पास अधिक जमा होती है **जिससे बैंकों की साख निर्माण क्षमता भी अधिक हो जाती है।**

NOTES

इसके विपरीत, मुद्रा संकुचन की दशा में नगद कोष कम हो जाते हैं जिससे बैंकों की साख निर्माण क्षमता कम हो जाती है।

(3) **मुद्रा को नकद रखने की प्रवृत्ति** (Habit to keep Money in Cash)-जिस देश में जनता की नकद धन रखने की प्रवृत्ति कम से कम होती है ,उस देश में बैंक की नगद जमाएँ अधिक हो जाती हैं।जिससे बैंक की साख निर्माण की शक्ति अधिक हो जाती है। इसके विपरीत जिन देशों में जनता अपने पास अधिक से अधिक मुद्रा रखती है वहां बैक जमाएँ कम हो जाती हैं जिससे बैंक की साख निर्माण क्षमता कम हो जाती है।

(4) नगद **कोष अनुपात** (Cash Reserve Ratio)-बैंकों को अपने पास कुल जमा का एक निश्चित भाग नगद कोष के रूप में रखना पड़ता हैं ताकि वे अपने जमा कर्ताओं की नगद मुद्रा की मांग को पूरा कर सके। यदि बैंक अपने पास कम नगद कोष रखती है तो साख निर्माण की क्षमता अधिक हो जाती है।इसके विपरीत यदि बैंक को अपने पास अधिक नगद मुद्रा रखनी पड़ती है तो उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि बैंक अपने पास 5 प्रतिशत नगद कोष रखती है तो वह 95 प्रतिशत धन साख के रूप में दे सकता है।ऐसी दशा में उसकी साख निर्माण क्षमता बहुत अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि बैंक 20 प्रतिशत नगद धन रखता है तो साख निर्माण क्षमता घटकर 80 रह जाती है।

(5) **साख नीति** (Credit Policy)-देश का केन्द्रीय बैंक साख मुद्रा का नियंत्रण एवं नियमन करता है।जब केंन्द्रीय बैंक या सरकार द्वारा सस्ती मुद्रा नीति अपनायी जाती है तो साख निर्माण अधिक होता है। इसके विपरीत स्थिति में केन्द्रीय बैंक महँगी मुद्रा नीति को अपनाकर साख को नियंत्रित करता है। मंहगी मुद्रा नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक, बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाओं, न्यूनतम बैंक आरक्षित अनुपात आदि के द्वारा साख का संकुचन करता है। अत: बैंकों की साख निर्माण शक्ति,केन्द्रीय बैंक की साख नियंत्रण नीति से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित होती है।

(6) **जमानतों की उपलब्धता** (Availability of Securities)- प्रत्येक बैंक जमानत के आधार पर ही ऋण देता है। जिस बैंक को जमानत जितनी अधिक श्रेष्ठ प्राप्त होगी उतनी ही अधिक साख का निर्माण वह बैंक करेगा। **प्रो. क्राउथर** के अनुसार "वस्तुत: बैंक उसी समय ऋण देता है जबकि उसे अच्छी प्रतिभूतियां या सम्पत्तियां जमानत के रूप में मिलती हैं। **प्रो. सेयर्स** के अनुसार - **बैंक अपनी मुद्रायें तत्काल किसी को भी नहीं देते हैं बल्कि केवल उन्हीं को देते हैं जो बैंक को इस प्रकार की सम्पत्तियां प्रस्तुत करते हैं जिन्हें बैंक आकर्षक समझता है।**"इसके विपरीत उचित जमानत न होने पर बैंक कम साख का निर्माण करता है।

(7) **व्यापार एवं उद्योग की प्रगति** (Progress of Trade & Industry) - जिस देश में व्यापार उद्योग का जितना अधिक विकास होता है वहां के **उद्योगपति, व्यापारी और अन्य लोग उतनी ही अधिक साख की माँग करते हैं।अत: वहां बैंकों की साख निर्माण क्षमता अधिक होती है।** इसके विपरीत उद्योग और व्यापार की कम प्रगति होने पर साख की मांग कम रहती है जिससे साख का निर्माण कम होता है।

(8) **केन्द्रीय बैंक के पास बैंकों के सुरक्षित कोष** (Cash Reserves of Banks with Central Bank) - प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंकों की मांग जमा एंव समय जमा तथाचालू और निश्चितकालीन जमाओं का एक भाग सुरक्षित कोष के रूप में अपने पास रखता है। **केन्द्रीय बैंक द्वारा यदि अधिक मात्रा में सुरक्षित कोष अपने पास रखा जाता है तो व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण क्षमता कम होती है।** कारण यह है कि अधिक मात्रा में सुरक्षित कोष रखने से बैंकों की तरलता में कमी हो जाती है।

(9) **प्राथमिक जमाओं की मात्रा** (Volume of Primary Deposits) - **प्रो. कीन्स** का मत है कि बैंक साख निर्माण शक्ति उनकी प्रारम्भिक जमाओं की मात्रा पर निर्भर करती है। यदि प्रारंभिक जमायें

अधिक हैं तो बैंकों की साख निर्माण शक्ति अधिक होती है। इसके विपरीत प्रारम्भिक जमायें कम होने पर बैंकों की साख निर्माण की शक्ति कम हो जाती है।

(10) **अन्य बैंको की साख निर्माण की नीति** (Credit Policy of Other Banks)- देश में काम करने वाला प्रत्येक बैंक अपनी साख निर्माण नीति का निर्धारण अन्य बैंकों की साख निर्माण नीतियों के आधार पर करता है।यदि कोई बैंक अन्य बैंकों की नीति का अनुसरण नहीं करता है तो वह असफल हो जाता है।

(11) **आर्थिक विकास का स्तर** (Level of Economic Growth)- आर्थिक दृष्टि से जो देश व्यापार, उद्योग, कृषि,खनिज,आदि की दृष्टि से **जितना अधिक उन्नत होता है, वहां साख निर्माण की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक होती है।**यदि कोई देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है तो वह साख की कम आवश्कता होती है। अत: वहां साख निर्माण भी कम होता है। यही कारण है कि विकसित देशों व्यापारिक बैंकें अधिक मात्रा में साख निर्माण करने में सफल रहती हैं।

(12) **राजनैतिक दशाएँ** (Political Conditions)- यदि देश में राजनैतिक अस्थिरता है और दंगे–फसाद होते हैं तो इस अशांति के कारण बैंकों की साख निर्माण की क्षमता कम हो जाती है। इसके विपरीत राजनैतिक शांति, सुरक्षा और आर्थिक स्थिरता है तो साख निर्माण की प्रवृत्ति अधिक होती है।

(13) **सट्टे की प्रवृत्ति** (Speculative Tendency) - यदि देश में सट्टे की प्रवृत्ति अधिक है तो अधिक साख की मांग होती है। जिससे बैंक अधिक से अधिक साख का निर्माण करते हैं। इसके विपरीत सट्टे की प्रवृत्ति कम या सीमित होने पर साख माँग कम होती है।जिससे साख का निर्माण भी कम होता है।

(14) **लोगों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां** (Psychological Tendency of People)- लोगों की मनोवैज्ञानिक दशा भी साख निर्माण को प्रभावित करती है। यदि लोग **आशावादी दृष्टिकोण रखकर उज्जवल भविष्य की कामना से कार्य करते हैं तो भी साख का निर्माण अधिक होता है।** यदि लोग निराशावादी हैं और भविष्य अंधकारपूर्ण मानते हैं तो साख निर्माण कम होता है।

(15) **अंतर्राष्ट्रीय ऋण** (International Debts)- जब कोई देश विदेशों से ऋण लेकर उसका उपयोग उद्योग, कृषि व्यापार आदि के विकास के लिए करता है तो साख की मात्रा में वृद्धि होती है। इसके विपरीत दशा में साख का निर्माण कम होता है।

साख निर्माण के लाभ एवं दोष
(Merits & Demerits of Credit Creation)

साख के लाभ अथवा गुण (Merits) - साख निर्माण के लाभ और गुण निम्न प्रकार से हैं।

(i) साख विनियम के लिए मुद्रा के पूरक के रूप में काम करती है।

(ii) इससे पूंजी निर्माण तथा विनियोग का प्रोत्साहन मिलता है।

(iii) देशवासियों के उपभोग में वृद्धि होती है।

(iv) आंतरिक भुगतान में सरलता आती है।

(v) अंतर्राष्ट्रीय भुगतान सरल होता है।

(vi) मूल्यों में स्थिरता आती है।

(vii) आर्थिक साधनों का अधिकतम उपयोग होता है।

(viii) आर्थिक संकटों के समय यह अधिक उपयोगी होती हैं।

(ix) साख से पूंजी अधिक गतिशील हो जाती है।

(x) साख से रोजगार की मात्रा बढ़ती है।

(xi) साख आर्थिक विकास में सहयोग देती है।

NOTES

साख के दोष (Demerits)-

साख निर्माण की मात्रा यदि आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो उसका सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ने लगता है। संक्षेप में साख निर्माण के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :-

(i) साख से मुद्रा प्रसार को प्रोत्साहन मिलता है।

(ii) आर्थिक साधनों पर एकाधिकार को प्रोत्साहन मिलता है।

(iii) धन एवं आय का असमान वितरण होता है।

(iv) अकुशल व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है।

(v) व्यापार चक्रों की जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं।

(vi) सट्टे की प्रवृत्ति बढ़ती है।

(vii) लोगों में अपव्यय की मात्रा बढ़ती है।

(viii) अति उत्पादन का भय बना रहता है।

साख-पत्र

(Credit Instruments)

जब कोई ऋण लिया जाता है तो इसके प्रमाण के लिए किसी न किसी प्रकार का लिखित ठहराव किया जाता है तो उसे साख-पत्र मुद्रा की ही भाँति कार्य करते हैं।

प्रकार

साख-पत्र विभिन्न प्रकार के होते हैं जो कि निम्न हैं:

(1) **चैक** (Cheque) – चैक एक शर्तरहित आज्ञा-पत्र है जो किसी बैंक पर लिखा जाता है, जिस पर लेखक के हस्ताक्षर होते हैं तथा जिसमें यह आदेश होता है कि माँग करने पर एक निश्चित धनराशि निश्चित व्यक्ति को या वाहक को दी जाये।

चैक में लेखक, लेखपत्र एवं प्राप्तकर्ता तीन पक्षकार होते हैं। चैक वाहक या आदेशानुसार हो सकता है। बैंक को अधिक सुरक्षित बनाने के लिए उसका रेखांकन कर दिया जाता है। चैक के प्रयोग से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जैसे शीघ्र भुगतान प्राप्त होना, भुगतान का साक्ष्य होना, स्थानीय भुगतान में सुविधा, न्यूनतम व्यय पर धन का हस्तांतरण सम्भव, मुद्रा के प्रयोग की बचत एवं भुगतान की सुरक्षा बने रहना।

(2) **हुण्डी** (Hundi) – हुण्डी भारतीय बिल ऑफ एक्सचेंज कहलाते हैं, जिसका प्रयोग प्राय: व्यापारी एवं महाजन आदि करते हैं। हुण्डी कई प्रकार की होती है जैसे– देखनहार हुण्डी, नामजोग हुण्डी, शाहजोग हुण्डी एवं फरमानजोग हुण्डी। हुण्डी को जोखिमी एवं जिकरी चिट्ठी के रूप में विभाजित किया जा सकता है। इसका प्रयोग भारत में बहुतायत से किया जाता है तथा इसका प्रचलन अधिक लोकप्रिय है।

(3) **ऋण स्वीकृति** (I.O.U) – यह ऋण प्राप्त करने की एक लिखित स्वीकृति है, जिसमें लेखक इस बात को स्वीकार करता है कि उसने पत्र में लिखी राशि को ऋण के रूप में प्राप्त किया है। इसमें देनदार का नाम धनराशि व तिथि के साथ हस्ताक्षर करना आवश्यक है इसमें भुगतान की तिथि नहीं दी जाती है।

(4) **बैंक ड्राफ्ट** (Bank Draft) – यह एक प्रकार का चैक होता है जो एक बैंक अपनी अन्य किसी स्थान पर स्थित शाखा के नाम लिखता है जिसमें यह आदेश होता है कि ड्राफ्ट में लिखे व्यक्ति या उसके आदेशानुसार व्यक्ति या धारक को लिखित राशि का भुगतान कर दिया जाये। एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने के लिए प्राय: ड्राफ्ट का ही उपयोग किया जाता है। वर्तमान समय में ऋणों के भुगतान में ड्राफ्ट का उपयोग ही बहुतायत से किया जाता है।

(5) **प्रण-पत्र** (Promissory Note) – यह एक शर्तरहित लिखित पत्र होता है, जिसमें लेखक किसी अन्य व्यक्ति को या उसके वाहक को माँग पर एक निश्चित धनराशि चुकाने का वचन देता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा चालू किये गये नोट इसी श्रेणी में रखे जाते हैं। इसमें लेखक व प्राप्तकर्ता केवल दो ही पक्ष होते हैं। यह प्रण-पत्र अकेले या संयुक्त रूप में हो सकते हैं।

(6) **विनिमय बिल** (Bill of Exchange) – विनिमय बिल शर्तरहित एक लिखित आज्ञापत्र होता है, जिसमें लिखने वाला व्यक्ति किसी व्यक्ति विशेष को यह आज्ञा देता है कि एक निश्चित धनराशि स्वयं को या उसकी आज्ञानुसार किसी अन्य व्यक्ति को या पत्र के वाहक को माँगने पर एक निश्चित अवधि के पश्चात् चुका दी जाये।

इसमें लेखक, लेखपात्र तथा प्राप्तकर्ता तीन पक्षकार होते हैं। बिल अनेक प्रकार के होते हैं जैसे वाहक या आदेशानुसार बिल, देशी या विदेशी बिल, मियादी या दर्शनी बिल, व्यापारिक या अनुग्रह बिल आदि। बिलों के अनेक लाभ होते हैं– (i) विदेशों से भुगतान भेजने का एक सरल व सस्ता साधन है, (ii) यह ऋणी की एक लिखित स्वीकृति होती है, (iii) इससे व्यापार के विकास को काफी प्रोत्साहन प्राप्त होता है, (iv) ऋणी को भुगतान की तिथि का स्पष्ट ज्ञान बना रहता है, (v) परिपक्वता से पूर्व भुगतान पाने पर उसे किसी बैंक या व्यापारी से छूट पर भुनाया जा सकता है, (vi) ऋण का भुगतान एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सरलता से हस्तांतरित किया जा सकता है।

(7) **दीर्घकालीन साख-पत्र** (Long-Term Credit Instruments) – दीर्घकालीन साख-पत्रों में बाँण्ड या ऋणपत्र, सरकारी प्रतिभूतियों एवं कम्पनियों के अंशों को सम्मिलित किया जा सकता है।

(8) **विनिमयसाध्य साख-पत्र** (Negotiable Credit Instruments) – ऐसे साख-पत्र जिनका स्वामित्व एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को केवल सुपुर्दगी देने या बेचान करने से हस्तांतरित हो जाये तो उसे विनिमयसाध्य साखपत्र कहेंगे। इसकी 4 विशेषतायें होती हैं जैसी– (i) यथाविधिधारी को दोषरहित अधिकार प्राप्त होना, (ii) धारी को अपने नाम से मुकदमा चलाने का अधिकार, (iii) केवल हस्तांतरण या बेचान द्वारा हस्तांतरण का अधिकार होना, (iv) प्रतिफल देने का अनुमान लगाना आदि। यदि दो वर्गों में रखे जाते हैं जैसे **प्रचलित चलन के साख-पत्र** एवं **कानूनी साख-पत्र**।

साख-पत्रों के विभिन्न रूपों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है:

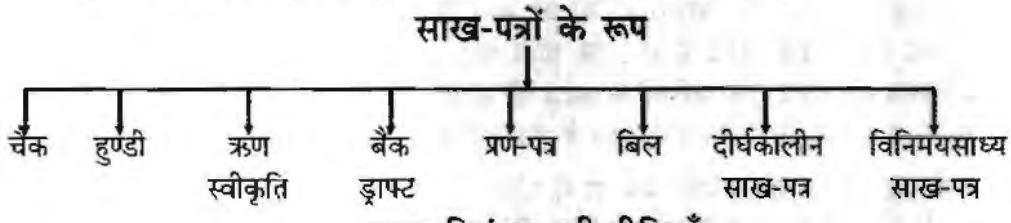

साख नियंत्रण की रीतियाँ
(Instruments of Credit Control)

बैंकों की साख निर्माण शक्ति का उचित नियमन के लिए यह आवश्यक है कि उनके नकद कोषों का उचित नियमन किया जाए। साख नियंत्रण को दो भागों में रखा जा सकता है–

(A) परिमाणात्मक नियंत्रण (Quantitative Controls) :

इसमें निम्न रीतियों को सम्मिलित करते हैं–

(1) बैंक दर (Bank Rate)

(2) न्यूनतम कोष दर (Minimum Reserve Ratio)

(3) तरलता अनुपात (Liquidity Ratio)

(4) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)

(B) गुणात्मक नियंत्रण (Qualitative Controls) :

इसमें निम्न रीतियों को सम्मिलित करते हैं–

NOTES

(1) चुना साख नियंत्रण (Selective Credit Controls)

(2) प्रचार व्यवस्था (Publicity Arrangement)

(3) साख नियंत्रण (Credit Rationing)

(4) नैतिक प्रभाव (Moral Persuation)

(5) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)

साख नियंत्रण की रीतियों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है:-

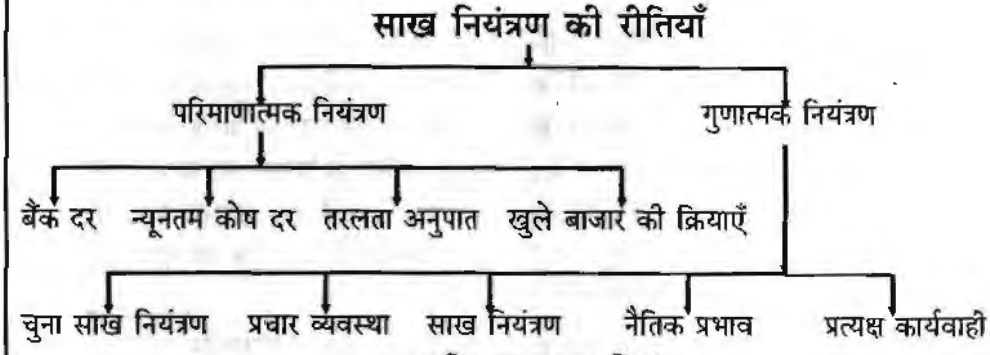

(A) परिमाणात्मक नियंत्रण
(Quantitative Control)

(1) बैंक दर

जिस दर पर केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंक को प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों की पुनर्कटौती करें या उन्हें ऋण प्रदान करें तो उसे बैंक-दर कहते हैं। इसे कटौती दर (Discount Rate) भी कहते हैं।

बैंक दर एवं ब्याज दर में सम्बन्ध – बैंक दर एवं ब्याज दर में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। बाजार दर से आशय वह दर है जिस पर व्यापारिक बैंक प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण प्रदान करते हैं। बैंक दर बढ़ाने पर बाजार दर बढ़ जाती है तथा घटाने पर गिर जाती है। प्राय: बैंक दर ब्याज दर से अधिक रहती है। जब व्यापारिक बैंकों को अन्य किसी साधन से ऋण प्राप्त नहीं हो पाता, तो वे केन्द्रीय बैंक से सहायता माँगते हैं और इस समय माँग बढ़ने से ऊँची ब्याज दर वसूल की जाती है, परिणामस्वरूप यह संस्थाएँ भी ऋणियों से ब्याज की ऊँची दर माँगने लगती हैं, जिससे ब्याज दर बढ़कर बैंक दर के बराबर हो जाती हैं। दीर्घ काल में बैंक दरों में बराबर होने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

बैंक दर का प्रभाव – प्राय: बैंक दर में परिवर्तन करने से मुद्रा बाजार की अन्य समस्त दरों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। यदि देश में स्फीतिक परिस्थितियाँ हैं तो उन्हें रोकने के लिए बैंक दर में वृद्धि कर दी जाती है, परिणामस्वरूप अन्य संस्थाएँ भी अपनी-अपनी ब्याज दरें बढ़ा देती हैं व उत्पादकों व व्यापारियों को ऋण लेना महँगा हो जाता है जिससे कम धन लिया जाता है। इस प्रकार एक ओर मुद्रा की माँग कम हो जाएगी व साख का संकुचन होगा तथा दूसरी ओर व्यापरिक एवं औद्योगिक क्रियाएँ शिथिल हो जाएँगी, मजदूरी घटेगी, बेरोजगारी में वृद्धि होगी व मूल्य स्तर भी गिरेंगे। देश में ब्याज दर के बढ़ने से अल्पकालीन कार्यों के लिए विदेशों से पूँजी का आयात करना पड़ता है व देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। इसके विपरीत यदि देश में विस्फीतिक परिस्थितियाँ हों तथा देश में साख की मात्रा में वृद्धि करनी हो, तो बैंक दर में कमी कर दी जाती है तथा केन्द्रीय बैंक सस्ते ब्याज दर पर बिलों की पुनर्कटौती एवं ऋण प्रदान करता है, परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंक भी अपने ऋण की दरों में कमी कर देते हैं, फलस्वरूप व्यापारी एवं उद्योगपति बैंकों से अधिक मात्रा में ऋण लेने लगते हैं, जिससे देश में साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार बैंक दर की घट-बढ़ का देश की अर्थव्यवस्था, उद्योग, रोजगार, व्यापार, पूँजी, भुगतान संतुलन आदि पर प्रभाव पड़ता है।

विदेशी पूँजी पर प्रभाव – बैंक दर विदेशी पूँजी के आवागमन को भी प्रभावित करती है। बैंक दर में वृद्धि करने पर ब्याज दर भी बढ़ जाएगी व विदेशी बैंकों से पूँजी आयात होने लगती है तथा

घरेलू पूँजी का निर्यात नहीं हो पाता। इसके विपरीत यदि बैंक दर में कमी कर दी जाए तो पूँजी का विदेशी बैंकों में निर्यात प्रारम्भ हो जाता है तथा विदेशी पूँजी का आयात रुक जाता है।

सफलता के तत्व – बैंक दर की सफलता की मुख्य बातें निम्न हैं–

(i) **निर्भरता** – बैंक दर उसी समय सफल हो सकती है, जबकि मुद्रा की पूर्ति के लिए केन्द्रीय बैंक पर ही निर्भर रहा जाए। मंदी काल में जनता द्वारा ऋण नहीं लिए जाते तथा व्यापारिक बैंकों के चाहने पर भी साख में वृद्धि करना संभव नहीं हो पाता। इसके विपरीत स्फीतिक काल में अधिक लाभ होने से नवीन क्षेत्रों में विनियोजन की माँग बढ़ जाती है व साख की निरन्तर माँग बढ़ने से व्यापारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक पर ही निर्भर रहना पड़ता है, परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंक कटौती दर में वृद्धि करके साख नियंत्रण करने में सफल हो जाता है।

(ii) **प्रभाव न पड़ना** – केन्द्रीय बैंक की बैंक दर परिवर्तन का व्यापारिक बैंकों की दरों पर प्रभाव न पड़ने पर उसे साख नियंत्रण के अन्य ढंगों का पालन करना होता है।

(iii) **वित्तीय संस्थाएँ** – ऋण प्रदान करने वाली वित्तीय संस्थाओं की स्थापना होने से बैंकों से पूँजी की माँग में वृद्धि नहीं हो पाती परन्तु अविकसित राष्ट्रों में जहाँ पूँजी बाजार में कोई समन्वय नहीं है, वहाँ दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन ब्याज दरों का एक-दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः वित्तीय संस्थाओं के अभाव से बैंक दर में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

(iv) **बिलों का प्रचार** – बैंक दर से प्रभाव के लिए देश में बिलों का प्रचार होना आवश्यक है, परन्तु वर्तमान समय में व्यापारिक बिलों का प्रचार कम होने से बैंक दर का प्रभाव भी कम हो जाता है।

(v) **उपलब्धता** – बैंक दर ऋणों की उपलब्धता में भी कमी या वृद्धि करती है, परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंक विशेष गुणों वाले बिलों की ही कटौती करता है।

बैंक दर वृद्धि की परिस्थितियाँ – बैंक दर में वृद्धि निम्न परिस्थितियों में की जा सकती हैं –

(i) **अन्य देशों में वृद्धि होने पर** – देश की पूँजी का अन्य राष्ट्रों को निर्यात होने पर तथा अन्य राष्ट्रों में बैंक दर में वृद्धि होने पर अपने देश में भी बैंक दर बढ़ा दी जाती है।

(ii) **स्वर्ण निधि की सुरक्षा** – जब स्वर्ण बाहर जाने लगे तो उसकी सुरक्षा के लिए बैंक दर में वृद्धि कर दी जाती है।

(iii) **विनिमय दर में सुधार** – भुगतान संतुलन विषम में होने पर विनिमय दर में सुधार करना आवश्यक होता है, जिसके लिए बैंक दर में वृद्धि कर दी जाती है।

(iv) **सट्टे को रोकना** – सट्टे में वृद्धि होने की संभावना पर भी बैंक दर में वृद्धि कर देते हैं, जिससे उस पर प्रतिबंध लग सके।

बैंक दर में कमी की परिस्थितियाँ – निम्न परिस्थितियों में बैंक दर में कमी कर दी जाती है–

(i) **विदेशी पूँजी के आयात पर रोक** – विदेशी पूँजी के आयात को रोकने के लिए कमी कर दी जाती है–

(ii) **रुपए का अभाव** – यदि देश में मुद्रा का अभाव हो, परन्तु केन्द्रीय बैंक के पास पर्याप्त मात्रा में राशि उपलब्ध हो, तो बैंक दर में कमी कर दी जाती है।

(iii) **मुद्रा एकत्रित होने पर** – बैंकिंग संस्थाओं के पास पर्याप्त मात्रा में धन एकत्रित हो गया हो तो बैंक दर में कमी करके रुपए की माँग का निर्माण संभव बनाया जाता है।

सीमायें – बैंक दर की प्रमुख सीमाएँ निम्न हैं–

(i) **व्यापारिक बैंकों की प्रतिक्रिया** – यदि व्यापारिक बैंक अपनी प्रतिभूतियों को पुनर्कटौती हेतु केन्द्रीय बैंक पर नहीं जाते तो यह नीति सफल नहीं हो पाती।

NOTES

(ii) **व्यापारियों की माँग** - वृद्धि काल में साख की मांग बढ़ जाने पर बैंक दर में वृद्धि करके भी साख मुद्रा की माँग को कम नहीं किया जा सकता।

(iii) **मन्दी काल** – मन्दी काल में बैंक दर सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाती तथा बैंक दर घटाने पर भी व्यापारी नवीन कारखानों में धन का विनियोजन करना उचित नहीं समझता।

बैंक दर महत्व में कमी – वर्तमान समय में बैंक दर नीति का महत्व कम हो गया है जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं–

(i) **निर्भरता में कमी** – वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक पर अन्य बैंकों की निर्भरता कम हो गई है जिससे बैंक दर में परिवर्तन का बैंकों की क्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(ii) **सस्ती मुद्रा नीति** – प्राय: अधिकांश राष्ट्रों ने आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए सस्ती मुद्रा नीति एवं नीची बैंक दर नीति का पालन किया है।

(iii) **तरलता में वृद्धि** – व्यापारिक बैंकों की तरलता स्थिति में स्वयं सुधार हो जाने से उन्हें अब केन्द्रीय बैंक पर अधिक निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहती है।

(iv) **अधिक ब्याज नीति** – बैंक जमा पर अधिक ब्याज देकर बैंक दर वृद्धि के प्रभाव को दूर कर सकते हैं क्योंकि ब्याज दर बढ़ने पर अधिक जमा प्राप्त होने से केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(v) **अल्पकाल में प्रभाव का अभाव** – बैंक दर में परिवर्तन करने से अल्पकाल में मुद्रा बाजार पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ने से इसका महत्व कम हो गया है।

(vi) **अन्य प्रभावशाली उपाय** – बैंक दर के अतिरिक्त अन्य प्रभावशाली उपायों के प्रचलन के कारण बैंक दर नीति का प्रभाव कम हो गया है।

(vii) **नकद साख का महत्व** – आंतरिक व्यापार के अर्थ-प्रबंधन में नकद साख का महत्व बढ़ने से बैंक दर नीति का प्रभाव कम हो गया है क्योंकि बिलों की पुनर्कटौती की आवश्यकता कम हो गई है।

(viii) **लोच का अभाव** – राष्ट्रों की आर्थिक अर्थव्यवस्था में लोच के अभाव के कारण बैंक दर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहती है।

यह सत्य है कि परिस्थितियों के अनुसार बैंक दर का प्रयोग अनेक स्वरूपों में किया जाता है, परन्तु इसका मौलिक महत्व किसी भी प्रकार से कम नहीं हो पाया है।

(2) **न्यूनतम कोष दर** –

केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों को बिलों की कटौती आदि की सुविधायें प्रदान करते हैं और उसके बदले में चालू एवं स्थायी निक्षेपों का कुछ प्रतिशत भाग नकद कोष में केन्द्रीय बैंक के पास जमा कर देते हैं, जिसमें कमी या वृद्धि करने का अधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त होता है। देश में साख में कमी करने के लिए इस कोष के प्रतिशत में वृद्धि कर दी जाती है जिससे बैंकों को अधिक धन केन्द्रीय बैंक के पास जमा करना होता है, फलस्वरूप उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत साख में वृद्धि करने के लिए कोषों के प्रतिशत में कमी कर दी जाती है जिससे बैंकों को साख निर्माण के लिए अधिक धन प्राप्त हो जाता है।

लाभ

इस पद्धति के प्रमुख लाभ निम्न हैं–

(i) **साख नियंत्रण में सहयोग** – यह व्यवस्था समस्त कोषों पर प्रभाव डालकर समस्त देश में समान रूप से साख नियंत्रण में सहयोग प्रदान करती है।

(ii) **विदेशी पूँजी से अप्रभावित** – इस व्यवस्था को विदेशी पूँजी की व्यवस्था से प्रभावित नहीं किया जा सकता।

(iii) **सरल व सुविधाजनक** – साख नियंत्रण की यह व्यवस्था सरल एवं सुविधाजनक है जो नकद कोषों में केन्द्रीय बैंक के आदेश के आधार पर तत्काल परिवर्तन ला देती है।

(iv) **प्रतिभूतियों को प्रभावित** – यह व्यवस्था प्रतिभूतियों के मूल्य को प्रभावित करने में सफल रहती है।

सीमाएँ

इस व्यवस्था की प्रमुख सीमाएँ निम्न हैं–

(i) **प्रभावहीन** – विभिन्न प्रकार की जमाओं के लिए विभिन्न अनुपात के कोष रखे जाते हैं तथा रक्षित कोष का अनुपात बदलने से कोष की राशि को एक खाते से दूसरे खाते में हस्तांतरित कर दिया जाता है जिससे रक्षित कोष में परिवर्तन का प्रभाव कभी-कभी प्रभावहीन हो जाता है।

(ii) **कठिनाई** – अनेक परिस्थितियों में रक्षित कोष के अनुपात में परिवर्तन करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(iii) **कठोर नीति** – सभी बैंकों पर एक साथ प्रभाव पड़ने के कारण यह एक कठोर नीति मानी जाती है।

(iv) **कम महत्व** – रक्षित कोष के परिवर्तन पर बैंक कम ध्यान देते हैं क्योंकि तेजी काल में कम नकद कोष होने पर भी बैंक अपना कार्य सुविधापूर्वक चला लेते हैं।

(3) **तरलता अनुपात** –

द्वितीय युद्ध काल में साख नियंत्रण की इस नवीन पद्धति का आविष्कार हुआ। इस पद्धति के अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों को अपनी सम्पत्ति का एक निश्चित भाग तरल रूप में रखना आवश्यक होता है। इसका प्रभाव यह होता है कि व्यापारिक बैंक एक निश्चित राशि नकद में रखते हैं और उस सीमा तक उनकी साख निर्माण की शक्ति कम हो जाती है। बैंकों के अपने साधनों का एक भाग अनिवार्य रूप से सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित करने से खुले बाजार की क्रियाओं में सुविधा हो जाती है।

(4) **खुले बाजार की क्रियाएँ** –

केन्द्रीय बैंक के साख नियंत्रण कार्यों में खुले बाजार की क्रियाएँ एक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली शस्त्र मानी जाती हैं। इससे आशय केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों को खरीदने एवं बेचने से है। मुद्रा बाजार में मुद्रा की अधिकता होने पर उसमें कमी लाने के लिए केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियाँ बेचना प्रारंभ कर देता है जिससे जनता बैंकों में जमा अपना धन निकाल कर प्रतिभूतियों के क्रय पर व्यय कर देती है, जिससे मुद्रा की मात्रा कम होकर बैंकों के पास कोष में कमी हो जाती है व साख का सृजन भी घट जाता है व व्यापारियों को कम ऋण प्राप्त हो पाता है, फलस्वरूप व्यापार व उद्योग में भी विनियोग घट जाते हैं, मजदूरियाँ कम होकर रोजगार एवं माँग में कमी होकर मूल्य स्तर गिर जाता है, परिणामस्वरूप साख संकुचन प्रारंभ हो जाता है।

इसके विपरीत साख की मात्रा में वृद्धि करने के लिए यदि मुद्रा बाजार में धन की कमी है तो केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियों को खरीदना प्रारंभ कर देता है, जिससे जनता पर अधिक मुद्रा आ जाती है। जो वह बैंकों में जमा कर देते हैं, परिणामस्वरूप बैंकों के जमा बढ़ने पर साख सृजन में वृद्धि हो जाती है जो व्यापार व उद्योग में विनियोग को प्रोत्साहित करती व उत्पादन, मजदूरी, माँग व रोजगार में वृद्धि कर देती है जिससे मूल्य स्तर में भी वृद्धि हो जाती है व देश में साख का प्रचार हो जाता है। इस प्रकार देश में एक सुदृढ़ आर्थिक ढाँचे की रचना की जाती है।

कार्यान्वयन की दशाएँ

खुले बाजार की क्रियाएँ निम्न दशाओं में ही कार्यान्वित हो सकती हैं–

(i) **स्वर्ण आयात-निर्यात को विफल बनाना** – यदि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात-निर्यात को विफल बनाना हो जो मूल्य-स्तर पर अवांछनीय प्रभाव डाले तो खुले बाजार की नीति का पालन किया जाता है।

(ii) **विश्वास उत्पन्न करना** – बैंकों में प्रतिस्पर्धा होने पर जनता का विश्वास कम हो जाने पर खुले बाजार द्वारा उन्हें आर्थिक सहायता देकर विश्वास उत्पन्न किया जाता है।

NOTES

(iii) **बैंक दर को प्रभावशाली बनाना** – देश में बैंक दर को प्रभावशाली बनाने के लिए खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

(iv) **पूँजी निर्यात को रोकना** – देश से विदेशों की पूँजी के निर्यात को रोकने के लिए भी खुले बाजार की नीति का पालन किया जाता है।

(v) **मुद्रा की कमी को दूर करना** – देश में मुद्रा बाजार में मुद्रा की कमी को दूर करने के उद्देश्य से भी खुले बाजार की नीति को अपनाया जाता है।

उद्देश्य

खुले बाजार की क्रिया के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :-

(i) **बैंक दर नीति की सफलता** – खुले बाजार की नीति के प्रयोग करने का उद्देश्य बैंक दर नीति को सफल बनाना है। यदि बैंक दर में वृद्धि होने पर व्यापारिक बैंक अपनी ब्याज दरों में वृद्धि न करें तो प्रतिभूतियों को बेचकर बैंकों के नकद कोषों की मात्रा में कमी की जानी चाहिए, जिससे बैंकों की साख सृजन शक्ति कम हो जाए और माँग को पूर्ण करने के लिए उन्हें केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना पड़े। यह ऋण महँगी दर पर मिलने के कारण उन्हें अपनी ब्याज दरों में वृद्धि करनी होगी। इसी प्रकार यदि बैंक दर कम होने पर बैंक ब्याज दर में कमी न करें तो प्रतिभूतियों को खरीदकर बैंकों के कोषों में वृद्धि कर दी जानी चाहिए तथा इन कोषों को ऋण में परिवर्तित करने के लिए ब्याज दर को घटाना आवश्यक होगा।

(ii) **साख लागत व उपलब्धि को प्रभावित करना** – साख की लागत एवं उपलब्धि की मात्रा को प्रभावित करने हेतु केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों में परिवर्तन कर दिया जाता है।

(iii) **मूल्यों में स्थिरता** – सरकारी प्रतिभूतियों के मूल्यों में स्थिरता लाने के उद्देश्य से भी खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग किया जाता है। यदि मूल्य में कमी आने लगती है तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां खरीदना प्रारम्भ कर देता है। इसके विपरीत यदि मूल्य में वृद्धि हो तो प्रतिभूतियों को बेचना प्रारम्भ कर दिया जाता है।

सीमाएँ

खुले बाजार की क्रियाएँ निम्न सीमाओं के अंतर्गत ही सफल सिद्ध हो सकती हैं :-

(i) **व्यापारिक बैंकों की अनुकूल प्रतिक्रिया** – प्राय: देश के व्यापारिक बैंक अपनी ऋण सम्बन्धी नीति का निर्धारण नकद कोष के आधार पर न करके आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर करते हैं। उदाहरणार्थ साख प्रसार के उद्देश्य से जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदकर अधिक नकद कोष देना चाहता हो, परन्तु हो सकता है कि व्यापारिक बैंक घबराहट या अन्य किसी कारण से इस बढ़ी हुई नकदी के आधार पर साख का निर्माण करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की नीति की अनुकूल प्रतिक्रिया होना आवश्यक नहीं है। यह प्रतिक्रिया सदैव परिस्थितियों पर निर्भर करेगी।

(ii) **केन्द्रीय बैंक की क्षमता** – खुले बाजार की क्रिया इस बात पर भी निर्भर करती है कि प्रतिभूतियों को चालू मात्रा व ऊँचे मूल्यों पर खरीदने एवं कम मूल्यों पर बेचने की केन्द्रीय बैंक की कितनी क्षमता व तत्परता है। यदि केन्द्रीय बैंक हानि उठाने को भी तत्पर हो जाए तो भी हो सकता है कि प्रतिभूतियों की पूर्ति अपर्याप्त हो।

(iii) **बैंकों के नकद कोष प्रभावित होना** – यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां बेचता है तो बैंकों के नकद कोष कम हो जाने चाहिए, परन्तु यदि जनता अतिरिक्त धन को बैंक में जमा कर दे या भुगतान संतुलन अनुकूल होने से विदेशों से धन आ रहा हो तो बैंकों के नकद कोष कम नहीं होंगे और केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की नीति सफल नहीं हो पाएगी। इस प्रकार यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीदने लगे तो बैंकों के नकद कोष में वृद्धि होनी चाहिए, परंतु हो सकता है कि जनता में संग्रह प्रवृत्ति बढ़ने या विदेशों की पूँजी के निर्यात होने से ऐसा संभव न हो सके।'अत: खुले बाजार की क्रियाएँ उसी समय सफल हो सकती हैं, जबकि उनके साथ बैंकों के नकद कोष भी प्रभावित हों।

(iv) **व्यापारियों की अनुकूल प्रतिक्रियाएँ** – खुले बाजार की क्रिया की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि व्यापारियों एवं उद्योगपतियों में ऋण नीति में अनुकूल प्रतिक्रियाएँ होनी चाहिए। यदि

यह संभव न हो तो यह नीति सफल नहीं हो सकेगी उदाहरणार्थ यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीदकर, साख प्रसार के उद्देश्य से बैंकों के नकद कोष में वृद्धि कर दे, परंतु व्यापारियों को मूल्य कम होने की आशंका हो और वह कम ब्याज पर भी ऋण लेना व विनियोग करना स्वीकार न करें, तो बैंकों के पास अतिरिक्त धन बेकार पड़ा रहेगा तथा साख प्रसार का उद्देश्य सफल नहीं हो सकेगा। स्फीतिक काल में साख संकुचन की नीति की सहायता से केन्द्रीय बैंक मूल्यों में कमी करने में सफल हो जाता है, परन्तु मंदी काल में साख का निर्माण करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाओं में अन्तर

बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाओं में प्रमुख अन्तर निम्न हैं–

(i) **आवृत्ति का अंतर** – खुले बाजार की क्रियाओं को वर्ष में कितनी ही बार प्रयोग किया जा सकता है परन्तु बैंक दर में बार-बार परिवर्तन न तो संभव है और न ही उचित, क्योंकि इससे विदेशी बैंकों के कोष प्रभावित होते हैं।

(ii) **परिणाम** – बैंक दर में परिवर्तन करने से व्यापारिक बैंकों के कोषों के परिवर्तनों का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता, जिससे खुले बाजार की क्रियाओं के परिणाम अधिक प्रभावशील होते हैं, बैंक दर के नहीं।

(iii) **समय का अन्तर** – बैंक दर प्राय: अल्पकालीन दरों को प्रभावित करती है, क्योंकि बैंकों द्वारा अल्पकालीन ऋण ही दिए जाते हैं। इसके विपरीत खुले बाजार की क्रियाओं के अंतर्गत दीर्घकालीन प्रतिभूतियाँ बेची जाती हैं, जो ब्याज की दरों को प्रभावित करती हैं।

(iv) **प्रभाव का अन्तर** – बैंक दर द्वारा बैंकों के नकद कोषों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, जबकि खुले बाजार की क्रियाओं का बिल्कुल प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार खुले बाजार की क्रियाएँ बैंक दर की तुलना में अधिक प्रभावशाली हैं।

(v) **दबाव का अंतर** – खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों पर कोई दबाव डालने में असमर्थ रहता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों की ब्याज दर में कमी या वृद्धि ही कर सकता है, परन्तु प्रतिभूतियों को खरीदने को मजबूर नहीं कर सकता। प्राय: बैंक अतिरिक्त लाभ के लालच में ही आकर इन प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय में रुचि रखते हैं। इसके विपरीत बैंक दर प्रत्येक ऋण लेने वाले बैंक को अपनी ब्याज दर बढ़ाने को मजबूर कर सकता है।

(B) गुणात्मक नियंत्रण

(1) चुना साख-नियंत्रण (Selective Credit Control) –

युद्धकाल में साख नियंत्रण की अनेक पद्धतियों का प्रचलन हुआ, जिनमें से कुछ तो समूचे अर्थ-तंत्र पर सामान्य प्रभाव डालती हैं और कुछ रीतियाँ इस प्रकार की हैं कि जो केवल विशेष क्षेत्रों की आर्थिक या वित्तीय क्रियाओं को ही प्रभावित करती हैं। संकट काल के समय केन्द्रीय बैंक देश की समस्त वित्तीय संस्थाओं को अन्तिम सहारे के रूप में सहायता करता है। ऐसी परिस्थितियों में केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की माँग को अस्वीकार या प्रतिबंधों के साथ स्वीकार कर सकता है, परिणामस्वरूप पर्याप्त मात्रा में साख का निर्माण संभव न हो सकेगा। इस नीति को साख नियंत्रण की नीति के नाम से जानते हैं।

स्वरूप – साख नियंत्रण के विभिन्न स्वरूप निम्नलिखित हैं–

(i) **रिजर्व कोषों का सीमित उपयोग** – व्यापारिक बैंकों द्वारा अपने दायित्वों का कुछ निश्चित प्रतिशत भाग जो केन्द्रीय बैंक में जमा किया जाता है इसमें भिन्नता अपनाई जा सकती है तथा कुछ विशेष क्षेत्रों में विनियोजन करने वाले बैंकों को विशेष प्रकार की छूट देकर साख का सृजन किया जा सकता है तथा उस क्षेत्र का विकास किया जा सकता है।

(ii) **पूर्व अनुमति** – विशेष क्षेत्रों में ऋणों को प्रोत्साहित करने एवं अन्य क्षेत्रों में उसे निरुत्साहित करने के उद्देश्य से एक निश्चित राशि से अधिक मात्रा में ऋण देने पर केन्द्रीय बैंक से अनुमति लेना अनिवार्य किया जा सकता है, जिससे नवीन औद्योगिक संस्थाओं के लिए जनता से पूँजी प्राप्त की जा सके। इस प्रकार पूर्व अनुमति का प्रतिबन्ध लगाने से साख का उचित नियंत्रण लगाया जा सकता है।

NOTES

(iii) **अंतर निर्धारण में हस्तक्षेप** – बैंकों द्वारा जमानत पर जो ऋण दिए जाते हैं उनमें मूल्य व ऋण की राशि में कुछ अंतर रखा जाता है, जिसमें केन्द्रीय बैंक द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। इससे साख सृजन मात्रा में कमी हो जाएगी।

(iv) **उपभोक्ता किस्त साख का नियमन** – पश्चिमी राष्ट्रों में विलासिता व टिकाऊ वस्तुएँ किस्तों पर उपलब्ध हो जाती हैं, जिसमें साख विस्तार होने का भय बना रहता है। द्वितीय युद्धकाल में यूरोपीय राष्ट्रों में साख पर कड़े नियंत्रण लगा दिए जाते थे। इस व्यवस्था में भुगतान अवधि एवं किस्त की न्यूनतम राशि भी निश्चित कर दी जाती है। इसका प्रमुख उद्देश्य माल खरीदने पर प्रतिबंध लगाना है, जिससे वस्तुओं के भाव नहीं बढ़ पाते।

(v) **आयात हेतु जमा राशि** – प्राय: विदेशों से माल आयात करते समय आयात राशि का एक भाग केन्द्रीय बैंक में अनिवार्य रूप से जमा करना होता है जिस पर आयातक को ब्याज की हानि होती है। इस नीति का प्रयोग विदेशों से आयात निरुत्साहित करने हेतु किया जाता है।

(vi) **कटौती दरों में भिन्नता** – केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के विनिमय पत्रों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कटौती दरों को निर्धारित कर सकता है, जिससे कुछ क्षेत्रों को ऋण व साख की सुविधाएँ दी जा सकती हैं व दूसरी ओर अन्य क्षेत्रों में उस पर कड़े नियंत्रण भी लगाए जा सकते हैं। अविकसित परन्तु कृषि प्रधान राष्ट्रों में प्राय: कृषि औजारों के आयात पर इस प्रकार की विशेष छूट देकर साख का सृजन किया जा सकता है तथा अन्य क्षेत्रों में साख सृजन पर प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं।

यह व्यवस्था वांछित क्षेत्र के मूल्यों व साख को ही प्रभावित करती है, जिसमें सतर्कता से कार्य लेना पड़ता है।

(2) **प्रचार व्यवस्था** –

केन्द्रीय बैंक द्वारा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से देश की आर्थिक स्थिति को जनता के सम्मुख रखकर भविष्य की नीति के सम्बन्ध में विचार रखे जाते हैं, जिनके आधार पर बैंक अपनी साख नीति की व्यवस्था करने का प्रयास करते हैं। केन्द्रीय बैंक के अधिकारी, सभाओं, सम्मेलनों आदि में अपनी नीति पर प्रकाश डालकर बैंकों की साख नीति पर उचित परिवर्तन ला देते हैं।

(3) **साख नियंत्रण** –

प्रथम युद्धोत्तर काल में जर्मनी के केन्द्रीय बैंक ने साख-विस्तार को रोकने के लिए साख का राशनिंग कर दिया। इसमें प्रत्येक व्यापारिक बैंक के लिए यह निश्चित कर दिया गया था कि उसे एक निश्चित राशि से अधिक राशि नहीं मिलेगी। वर्तमान समय में भी साख विस्तार को रोकने के लिए साख राशनिंग पद्धति को अपनाया जाता है, जिसमें प्रत्येक व्यापारिक बैंक की साख की सीमा को निश्चित कर दिया जाता है। संकटकालीन परिस्थितियों में केन्द्रीय बैंक द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि व्यापारिक बैंकों को अधिकतम प्राप्त होने वाली साख की मात्रा क्या होगी। इस प्रकार के प्रतिबंधों से साख सृजन में प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं।

(4) **नैतिक प्रभाव** –

केन्द्रीय बैंक का देश की व्यापारिक बैंकों पर काफी प्रभाव होने से उनके समस्त कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण बना रहता है और वह अनेक रीतियों द्वारा बैंकों की ऋण नीतियों को प्रभावित कर सकता है। परंतु कठिनाइयाँ उपस्थित होने पर वह नियमन व नियंत्रण की विधि को भी प्रयोग करता है। बैंकों द्वारा साख विस्तार की नीति अपनाने पर बैंकों को यह सलाह दी जा सकती है कि वह साख की कुल मात्रा एक निश्चित सीमा तक सीमित रखें। सलाह का प्रभाव न पड़ने पर बैंकों को उचित चेतावनी भी दी जाती है व उसकी उपेक्षा करने पर उचित कार्यवाही की जा सकती है, परंतु इस नीति की सफलता आपसी संबंधों, वैधानिक शक्तियों, बैंक व्यवस्था की परंपराओं पर निर्भर होती है। विकसित राष्ट्रों में यह नीति अधिक सफल हो जाती है।

(5) **प्रत्यक्ष कार्यवाही** –

व्यापारिक बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक के आदेशों का पालन न करने पर प्रत्यक्ष कार्यवाही की नीति को अपनाया जाता है, जिसमें वह किसी भी बैंक को ऋण देने से इंकार कर सकता है, बिलों की पुनर्कटौती

को रोक सकता है तथा साख सृजन पर प्रतिबंध लगा सकता है। परन्तु यह कदम उसी समय उठाए जाते हैं जबकि केन्द्रीय बैंक के अन्य उपाय असफल सिद्ध हो गए हों।

केन्द्रीय बैंक किसी बैंक को कोई कार्य करने अथवा न करने का प्रत्यक्ष आदेश देने से पूर्व उसे ऋण देना बंद कर सकता है या उससे सामान्य से अधिक ब्याज माँग सकता है। यह उस समय किया जाता है जबकि कोई बैंक साख की मात्रा उचित राशि तक सीमित करने की दिशा में बार-बार चेतावनी देने पर भी सक्रिय कदम नहीं उठाता। इन कार्यों का बैंक पर इतना गंभीर प्रभाव पड़ता है कि वह केन्द्रीय बैंक की इच्छा का पालन करने के लिए बाध्य हो जाता है।

साख नियमन की कठिनाइयाँ

(Difficulties in Credit Control)

साख नियमन में केन्द्रीय बैंक को निम्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है–

(i) **परंपराओं का अभाव** – ब्रिटिश बैंकों की भाँति, अन्य राष्ट्रों में परंपराओं का अभाव पाया जाता है। ब्रिटेन में परंपराएँ इतनी परिपक्व हैं कि साख नीति के संकेत मात्र से ही व्यापारिक बैंक उनका तत्काल अनुसरण करते हैं, अत: अन्य राष्ट्रों में साख नियंत्रण एक समस्या बनी हुई है।

(ii) **क्षेत्र का अंतर** – बड़े राष्ट्रों में कुछ क्षेत्र उद्योग-प्रधान व कुछ कृषि-प्रधान होते हैं, जिनकी समस्याएँ सर्वथा भिन्न होती हैं और उनके लिए पृथक् साख नियंत्रण नीतियों को अपनाने में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

(iii) **दुर्बल एवं असंगठित बैंक व्यवस्था** – अधिकांश राष्ट्रों में बैंक व्यवस्था दुर्बल एवं असंगठित है जिससे केन्द्रीय बैंक एवं उनमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध एवं समन्वय का अभाव पाए जाने से साख नीतियाँ सफल नहीं हो पाती हैं।

(iv) **वित्तीय संस्थाएँ** – कुछ राष्ट्रों में वित्तीय संस्थाएँ पाई जाती हैं, जो ऋण के लेन-देन का कार्य करती हैं, फलस्वरूप साख नीतियों का नियंत्रण करना प्राय: संभव नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक का इन संस्थाओं पर कोई वैधानिक प्रतिबंध नहीं रहता।

(v) **प्रभावहीन मुद्रा बाजार** – कुछ राष्ट्रों में मुद्रा बाजार पर केन्द्रीय बैंक की नीतियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिससे बैंक दर का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, इससे साख नियंत्रण में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. "एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय बैंक आन्तरिक कीमत स्तर को नियंत्रित करता है, विनिमय दर में स्थिरता लाता है तथा वित्तीय और औद्योगिक संकट होने से रोकता है।" केन्द्रीय बैंक यह किस प्रकार करता है?

   "A well organised central bank control the internal price level stabilises the exchange rate and prevents the accurence of financial and industrial crises." How does a central Bank do this?

2. बैंक दर के प्रभाव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? साख नियंत्रण के एक अस्त्र के रूप में इसकी क्या सीमाएँ हैं?

   Discuss the modus operation of the Bank rate. What are its limitations as an instrument of credit control?

3. बैंक दर परिवर्तनों के प्रभाव से सम्बन्धित **केन्स** तथा **हाट्रे** के विचारों की तुलना कीजिए। इस सम्बन्ध में रेडक्लिफ स्फीति के क्या विचार हैं?

   Compare the views of Keynes and Hawtrey regarding the economic consequence of variation in Bank rate. What views have been held by Radecliffe committee in this regard?

NOTES

4. चुना साख नियंत्रण नीति के गुण व दोषों का विवेचन कीजिए। आर्थिक दृष्टि से अर्द्धविकसित देशों के लिए इस नीति का क्या महत्व है?

Discuss critically the merits and demerits of a policy of selection credit control. How far has such a policy special significance for economically under-developed countries?

5. केन्द्रीय बैंक की मात्रा सम्बन्धी तथा गुण सम्बन्धी साख-नियंत्रण करने की विधियों में अन्तर समझाइए। उक्त दोनों विधियों में कौन अधिक उपयोगी है और क्यों?

Distinguish between the methods of quantitative and qualititative credit control used by a Central Bank. Which of these two is more useful and why?

6. बैंक दर के प्रोत्साहन प्रभाव तथा सामान्य तरलता प्रभाव की व्याख्या कीजिए। इनमें से कौन अधिक महत्वपूर्ण हैं?

Dicuss the incentive effect and general liquidity effect of Bank rate which of these two is more important?

7. "साख नियंत्रण के दृष्टकोण से खुले बाजार की क्रियाएँ बैंक-दर नीति के पूरक हैं।" व्याख्या कीजिए।

From the stand point of credit control open market operation are complementary to Bank rate policy." Discuss.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. साख नियंत्रण क्या है?

What is Credit Control?

2. साख निर्माण की रीतियाँ बतलाइये।

Describe the methods of Credit Creation.

3. साख पत्र से आप क्या समझते हैं?

What do you mean by Credit Instruments.

4. साख नियंत्रण की कठिनाईयाँ समझाइये।

Explain the difficulties of credit control.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. "बैंक साख मुद्रा का निर्माण नहीं करते हैं।" यह कथन है-

(अ) प्रो. केनन (ब) मार्शल (स) पीगू (द) कोई नहीं

"Banks do not really create credit." This statement is:

(a) Canon (b) Marshall (c) Pigoue (d) None of these

2. साख नियंत्रण की रीतियाँ हैं-

(अ) बैंक दर (ब) तरलता अनुपात (स) न्यूनतम कोष दर (द) उपरोक्त सभी

Instruments of Credit Control is:

(a) Bank Rate (b) Liquidity Ratio

(c) Minimum Reserve Ratio (d) All of above

3. साख पत्र होते हैं-

(अ) चैक (ब) हुण्डी (स) बैंक ड्राफ्ट (द) उपरोक्त सभी

Credit Instruments are:

(a) Cheque (b) Hundi (c) Bank Draft (d) All of above

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

12

केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली
(CENTRAL BANKING SYSTEM)

प्रारंभिक – विश्व के सभी महत्वपूर्ण राष्ट्रों में मौद्रिक एवं वित्तीय प्रणाली को उचित ढंग से चलाने में केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण स्थान है। केन्द्रीय बैंक की सहायता से सरकार की प्रशुल्क नीति के सफल संचालन करने एवं अर्थ-तंत्र को सुचारु रूप से चलाने में केन्द्रीय बैंक का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। केन्द्रीय बैंक की क्रियाओं में व्यापक परिवर्तन हो गये हैं जिससे देश के आर्थिक विकास में इनका योगदान बढ़ता ही जा रहा है। वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक को देश में आर्थिक प्रगति का मुख्य आधार माना गया है।

विश्व का सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंक 1656 में **स्वीडन** में निजी पूँजी की सहायता से **रिक्स बैंक** के नाम से स्थापित किया गया था। इस बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार होने पर भी 1830 के बाद राष्ट्र की प्रमुख व्यापारिक बैंकों ने नोट निर्गमन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अत: 1897 में रीक्स बैंक को ही विधान पारित करके नोट निर्गमन का एकाधिकार सौंप दिया गया। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन में 1694 में **बैंक ऑफ इंग्लैण्ड** के नाम से केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई। यह बैंक प्रारम्भ से ही संसदीय विधान द्वारा स्थापित किया गया था जिसे नोट निर्गमन के भी अधिकार सौंपे गये। इसके उपरान्त विश्व के अन्य राष्ट्रों में भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई जैसे 1800 में **बैंक ऑफ फ्रांस**, 1814 में **नितरलैण्ड बैंक**, 1816 में **बैंक ऑफ नार्वे**, 1860 में **बैंक ऑफ रूस** तथा 1875 में **रीश बैंक ऑफ जर्मनी** की स्थापना हुई। वास्तव में केन्द्रीय बैंक व्यवस्था का सूत्रपात 20वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ जबकि विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना 1900 के पश्चात् ही हुई। जैसे **अमेरिका में फ्रेडरल रिजर्व सिस्टम** (Federal Reserve System) की स्थापना 1913 **व कनाडा बैंक** 1934 में स्थापित किया गया।

स्थापना के कारण

केन्द्रीय बैंक की स्थापना के कारण

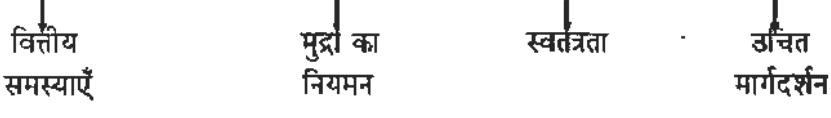

विश्व में 1940 के पश्चात् अधिकांश राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई, जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं:

(i) **वित्तीय समस्याएँ** – युद्धोत्तरकाल में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय समस्याएँ इतनी जटिल हो गई थीं कि आपसी वित्तीय सम्बन्ध बनाये रखने के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लेनदेन करने के लिए केन्द्रीय बैंक का निर्माण करना आवश्यक समझा गया।

(ii) **मुद्रा का नियमन** – विश्व में स्वर्णमान की समाप्ति से मुद्रा में स्वयं संचालकता का गुण समाप्त हो गया था, अत: ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक समझा गया जो मुद्रा का उचित ढंग से नियमन व नियंत्रण कर सके।

(iii) **स्वतंत्रता** – 1940 के पश्चात् एशिया एवं अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों को राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई, जिन्होंने अपनी मुद्रा एवं बैंक व्यवस्था के उचित संचालन के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना आवश्यक समझी।

NOTES

(iv) **उचित मार्गदर्शन** – गत वर्षों में प्राय: सभी राष्ट्रों में बैंकों का अत्यधिक विकास हुआ तथा बैंकिंग कार्यवाहियों में अधिक जटिलता उत्पन्न हो गई। अत: बैंकों के कार्यों के उचित मार्गदर्शन एवं पूर्ण नियमन व नियंत्रण के लिए उन राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना अनिवार्य एवं आवश्यक समझा गया तथा विभिन्न राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंक की स्थापना हुई।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (Need for a Central Bank)

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् राष्ट्रीयता की भावना एवं राजकीय नियंत्रण उत्पन्न होने से केन्द्रीय बैंकिंग के विकास को अधिक महत्व दिया गया। 1920 में ब्रूसेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन हुआ, जिसमें विभिन्न राष्ट्रों में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव रखा गया, जो विभिन्न बैंकों के पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सकें। सम्मेलन में प्रस्ताव पारित होने के 30 वर्षों की अल्पावधि में विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंक का तीव्र गति से विकास हुआ। 1920 से 1937 तक लगभग प्रति वर्ष विश्व के किसी न किसी राष्ट्र में केन्द्रीय बैंक की स्थापना होती रही। प्रत्येक राष्ट्र में केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना निम्न कारणों से आवश्यक समझा गया।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता के कारण

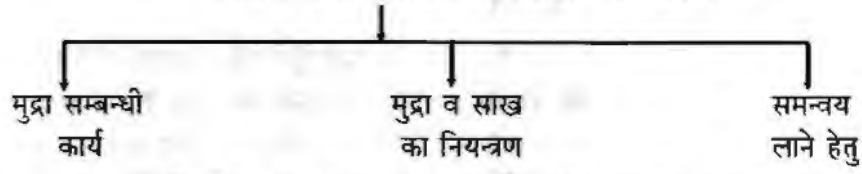

(i) **मुद्रा सम्बन्धी कार्य** – देश में पत्र मुद्रा का निर्गमन विभिन्न बैंकों द्वारा किया जाता था, जिसमें विभिन्न प्रकार के नोट निर्गमित किये जाते थे तथा उनकी नीतियों में एकरूपता का अभाव पाया जाता था। नोट निर्गमन में असमानता उत्पन्न होकर आवश्यकता का ध्यान नहीं रखा जाता था। अत: यह आवश्यक समझा गया कि मुद्रा सम्बन्धी समस्त कार्य किसी एक बैंक द्वारा किया जाना चाहिए, जो देश की आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य का संचालन करके नोट निर्गमन की उचित व्यवस्था कर सके।

(ii) **मुद्रा व साख का नियंत्रण** – मुद्रा व साख की मात्रा का प्रभाव राष्ट्र के विभिन्न उद्योगों व व्यापार पर पड़ता है। अत: व्यापार व उद्योग पर नियंत्रण लगाने के लिए मुद्रा व साख पर नियंत्रण लगाना होगा, जो कि केन्द्रीय बैंक द्वारा सम्भव हो सकता है।

(iii) **समन्वय लाने हेतु** – देश में विभिन्न प्रकार के बैंक व्यापार एवं उद्योगों का अर्थ-प्रबन्धन करते हैं, जिनमें किसी प्रकार का समन्वय न होने के कारण वह देश की आर्थिक व्यवस्था को खतरे में डाल देते हैं। अत: समस्त बैंकों में आपसी समन्वय स्थापित करने के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना आवश्यक समझा गया।

परिभाषा

केन्द्रीय बैंक की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं:

(1) **बैंक ऑफ इंटरनेशनल सैटिलमैन्ट्स** – "किसी भी राष्ट्र में केन्द्रीय बैंक वह बैंक है, जिसे देश में मुद्रा एवं साख की मात्रा को नियमन करने का दायित्व सौंप दिया गया हो।"

(2) **प्रो. केन्ट** – "यह एक ऐसी संस्था के रूप में परिभाषित की जा सकती है, जिसे सामान्य जनकल्याण के हित में मुद्रा की मात्रा में विस्तार एवं संकुचन को प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व होता है।"

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक साख एवं मुद्रा का देश हित में नियमन करता है, मुद्रा में बाह्य मूल्य का नियंत्रण व संरक्षण करता तथा उत्पादन, व्यापार मूल्य एवं रोजगार के उच्चावचनों को रोकता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था होती है जो देश की मौद्रिक, साख एवं बैंकिंग व्यवस्था का निर्देशन एवं नियमन करती है तथा देश की आर्थिक प्रगति में योग देती है। केन्द्रीय बैंक द्वारा पर्याप्त मात्रा में मुद्रा चलन में डाली जाती है, साख की मात्रा का नियमन किया जाता है तथा बैंकिंग व विदेशी विनिमय व्यवस्था पर नियंत्रण रखा जाता है।

उचित परिभाषा – केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है जो देश की मौद्रिक, बैंकिंग एवं साख-व्यवस्था का नियमन एवं निर्देशन इस ढंग से करती है कि उससे देश की आर्थिक प्रगति उचित ढंग से सम्भव हो सकें।

केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंक में अन्तर

यह अन्तर निम्न प्रकार है:

(i) **नीति का अन्तर** – राष्ट्र की मौद्रिक नीति प्रतिकूल होने पर केन्द्रीय बैंक एक उचित नीति अपनाकर उसे सुधारने की चेष्टा करता है, जबकि व्यापारिक बैंक ऐसी नीति नहीं अपना सकता।

(ii) **राजनैतिक प्रभाव** – केन्द्रीय बैंक निष्पक्ष रूप से बिना किसी राजनीतिक प्रभाव के कार्य करता है, जबकि व्यापारिक बैंकों के कार्यों पर राजनीतिक दलों का प्रभाव पड़ता है।

(iii) **उद्देश्य का अन्तर** – केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित करना होता है तथा लाभ कमाना उसका मुख्य उद्देश्य नहीं होता। इसके विपरीत बैंकों का मुख्य उद्देश्य लाभ अर्जित करना है तथा आर्थिक स्थिरता की स्थापना से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(iv) **अन्तिम ऋणदाता** – आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है।

(v) **मुद्राचलन अधिकार** – मुद्रा चलन पर केन्द्रीय बैंक का एकाधिकार होता है, जबकि व्यापारिक बैंकों को ऐसे अधिकार प्राप्त नहीं हो पाते।

केन्द्रीय बैंक के कार्य

(Functions of Central Bank)

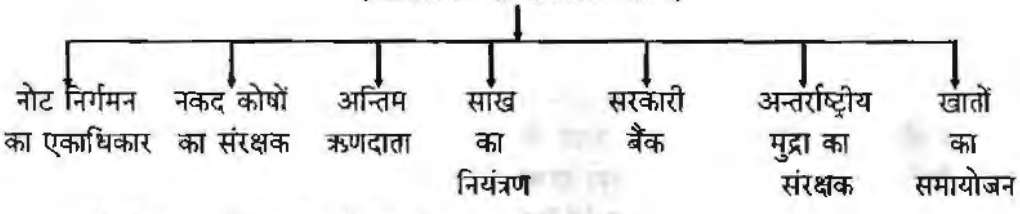

डॉ. डी. काक ने केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्य बताये हैं:

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of Note Issue)

(2) अनुसूचित बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक (Custodian of Cash Reserves of Scheduled Banks)

(3)अन्तिम ऋणदाता (Lender of Last Resort)

(4)साख का नियंत्रण (Control of Credit)

(5) सरकारी बैंकर, एजेण्ट एवं सलाहकार (Government Banker, Agent and Advisor)

(6)अन्तर्राष्ट्रीय करेन्सी का संरक्षक (Custodian of International Currency)

(7)खातों का समाशोधन व स्थानान्तरण (Bank of Clearance and Transfer)

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार

प्रत्येक राष्ट्र में नोटों के निर्गमन का एकमात्र अधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त होता है तथा किसी अन्य बैंक को नोट निर्गमन करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। विश्व के कुछ राष्ट्रों में तो केन्द्रीय बैंक की स्थापना ही नोट निर्गमन के लिए की गई। अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में नोट निर्गमन का महत्व बढ़ जाने से बैंक-व्यवस्था का विशेष विकास हुआ है विकसित राष्ट्रों में बैंक निक्षेप का महत्व बढ़ता जा रहा है।

नोट निर्गमन एकाधिकार के गुण – केन्द्रीय बैंक को ही नोटों के निर्गमन का कार्य सौंपने से निम्न लाभ प्राप्त होते हैं–

NOTES

(i) **जनता का विश्वास** – केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार देने से जनता के विश्वास में वृद्धि सम्भव हो जाती है।

(ii) **व्यापारिक आवश्यकतायें** – देश की व्यापारिक आवश्यकताओं से निकट का सम्पर्क रहने के कारण केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक आवश्यकताओं का ध्यान रखा जा सकता है।

(iii) **निर्गमन में एकरूपता** – नोट निर्गमन का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को देने से निर्गमन में एकरूपता व समानता आ जाती है।

(iv) **त्रुटियों पर नियंत्रण** – इससे सरकार को नोट निर्गमन के सम्बन्ध में त्रुटियों पर नियंत्रण रखने में सरलता हो जाती है।

(v) **लाभ में सुविधा** – केन्द्रीय बैंक को लाभों पर कर लगाकर नोट निर्गमन के लाभों को प्राप्त करने में सुविधा रहती है।

(vi) **स्थिरता** – केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की आन्तरिक एवं बाह्य कीमत में स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

(vii) **नियंत्रण समस्या का समाधान** – केन्द्रीय बैंक को एकाधिकार देने से नियंत्रण की समस्या सुलझ जाती है तथा साख मुद्रा के विस्तार को सीमित कर दिया जाता है।

(viii) **नियमन व नियंत्रण** – मुद्रा स्फीति के भय से बचने के लिए निर्गमित राशि का एक निश्चित प्रतिशत भाग स्वर्ण कोष में रख दिया जाता है जिससे नोट निर्गमन की मात्रा का उचित ढंग से नियमन व नियंत्रण किया जा सके।

(2) अनुसूचित बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक

इंग्लैण्ड के केन्द्रीय बैंक की प्रारम्भिक काल से ही व्यापारिक एवं बैंकिंग क्षेत्र में बहुत ऊँची साख थी। इसी कारण इंग्लैण्ड के अधिकांश बैंकों ने अपने खाते बैंक ऑफ इंग्लैण्ड में खोले तथा आपत्ति के समय बैंक ऑफ इंग्लैण्ड से उपयुक्त राशि उधार ले लेते थे। अत: व्यापारिक बैंक स्वेच्छा से केन्द्रीय बैंक में राशि जमा कर देते थे और इस स्वस्थ परम्परा को अमेरिका में 1913 में वैधानिक रूप दे दिया गया। इसे अन्य देशों ने भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया। केन्द्रीय बैंक का देश की अन्य बैंकों से लगभग उसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है जैसा कि एक साधारण बैंक का अपने ग्राहकों से होता है। इस कारण इसे बैंकों का बैंक कहा जाता है तथा इसके पास सदस्य बैंकों के नकद कोषों का एक भाग जमा के रूप में रहता है, जिससे इसे सुरक्षित कोषों का रक्षक कहा जाता है और जो देश की बैंकिंग एवं साख प्रणाली को सुदृढ़ बनाती है।

लाभ – इस प्रकार की व्यवस्था के प्रमुख लाभ निम्न हैं:

(i) **साख नीति का नियंत्रण** – केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों के साख निर्माण नीति को नियंत्रित करने के अवसर प्राप्त होते हैं।

(ii) **नकद कोष में मितव्ययिता** – बैंकों का आपसी लेन-देन केन्द्रीय बैंकों के द्वारा होने से मुद्रा का प्रयोग न्यूनतम मात्रा में किया जाता है, जिससे नकद कोषों के उपयोग में मितव्ययिता लाई जा सकती है।

(iii) **कोष का सदुपयोग** – व्यापारिक बैंकों के पास बड़ी मात्रा में कोष बँधा नहीं रहता जिससे संकट के समय उसका सदुपयोग सरलता से किया जा सकता है।

(iv) **व्यावसायिक परामर्श** – केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के मित्र एवं मार्गदर्शक का कार्य करके, उन्हें समय-समय पर व्यावसायिक परामर्श भी प्रदान करता है।

(v) **समाशोधन का कार्य** – प्राय: सभी बैंकों के खाते केन्द्रीय बैंक में होने के कारण उन बैंकों के समस्त लेनदेन का समाशोधन भी सरलता से किया जा सकता है।

दोष – इस व्यवस्था के प्रमुख दोष निम्न हैं:

(i) **तरल कोषों में कमी** – इस व्यवस्था से बैंकों के तरल कोषों में कमी आ जाती है तथा यह मृत सम्पत्ति के समान पड़ी रहती है जिसको बैंक अन्य कार्यों में उपयोग नहीं कर पाते।

(ii) **ब्याज की हानि** – इन कोषों पर व्यापारिक बैंकों को ब्याज का भुगतान करना होता है, जिससे उसे ब्याज की हानि सहन करनी पड़ती है।

(3) अंतिम ऋणदाता

व्यापारिक बैंकों के ग्राहकों द्वारा अधिक मात्रा में उधार माँगने पर केन्द्रीय बैंक से सहायता प्राप्त की जाती हैं और इस प्रकार वह अंतिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है। यह सहायता दो ढंगों से की जा सकती है जो निम्न हैं–

(i) **प्रतिभूति पर ऋण** – केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को धरोहर के रूप में रखकर एक वर्ष की अवधि के लिए ऋण की व्यवस्था की जाती है, जिसमें किसी प्रकार की कोई जोखिम भी नहीं रहती है। इन सरकारी प्रतिभूतियों को किसी भी समय बाजार में बेचा जा सकता है।

(ii) **पुनर्कटौती सुविधा** – व्यापारी द्वारा उधार माल खरीदने पर वह विक्रेता को प्राय: 91 दिन का बिल स्वीकार करके दे देता है। विक्रेता इस बिल को तत्काल अपने बैंक से भुना लेता है। व्यापारिक बैंक उस बिल को आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक से पुनर्कटौती करके धन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक द्वारा पूँजी की कमी को दूर किया जाता है व साख को प्रोत्साहन मिलता है व व्यवसाय में वृद्धि होती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक अंतिम ऋणदाता के रूप में सुविधायें देकर व्यापारिक बैंकों को सहायता प्रदान करते हैं।

(4) साख का नियंत्रण

साख नियमन व नियंत्रण को ही केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य माना जाता है। साख नियंत्रण का उपयोग विनिमय दरों में स्थायित्व लाने एवं आंतरिक मूल्य स्थायित्व के लिए उपयोग किया जाता है। मूल्यों का प्रभाव देश की आंतरिक व्यवस्था के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी पड़ता है। इस कार्य को केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। भारत में रिजर्व बैंक अधिनिमय के आधार पर यह कहा जाता है कि "बैंक का प्रमुख कार्य बैंक नोटों के निर्गमन को नियंत्रित करना है तथा देशहित के लिए मुद्रा एवं साख पद्धति को संचालित करने तथा भारत में मौद्रिक स्थिरता लाने के उद्देश्य से साधनों को रखा जाता है।"

सफलता के मूल तत्व – साख नियंत्रण की सफलता के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है–

(i) **केन्द्रीय बैंक का प्रभाव** – देश की व्यापारिक बैंकों पर केन्द्रीय बैंक का यथेष्ट प्रभाव होना चाहिए जिससे उनकी क्रियाओं पर उचित नियंत्रण लगाया जा सके।

(ii) **व्यापक अधिकार** – केन्द्रीय बैंक के पास साख नियमन के व्यापक अधिकार होने चाहिए, जिससे आवश्यकता पड़ने पर साख का विस्तार या संकुचन किया जा सके।

साख नियमन के उद्देश्य – साख नियमन के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :–

(i) **आन्तरिक मूल्य स्थायित्व व विनिमय दर में स्थायित्व** – साख नियमन का उद्देश्य देश में आंतरिक मूल्यों में स्थायित्व लाने का होना चाहिए तथा इसके लिए उचित सामंजस्य स्थापित करने के लिए समन्वयात्मक नीति अपनानी चाहिए।

(ii) **रोजगार की उचित व्यवस्था** – साख नियमन का उद्देश्य देश में रोजगार की उचित व्यवस्था करना होना चाहिए जिससे रोजगार समस्या को हल किया जा सके।

(iii) **आर्थिक विकास** – साख नियमन का उद्देश्य देश का अधिकाधिक आर्थिक विकास करना चाहिए, क्योंकि विनिमय स्थिरता, मूल्य-स्तर, संपूर्ण रोजगार आदि में अत्यंत घनिष्ठ एवं गहरे सम्बन्ध बने रहते हैं तथा एक-दूसरे में समन्वय स्थापित करके ही उचित ढंग से विकास लाया जा सकता है।

NOTES

इस सम्बन्ध में मौद्रिक नीति के साथ-साथ प्रशुल्क नीति का भी समुचित सहयोग प्राप्त होना आवश्यक होगा।

(5) सरकारी बैंकर, एजेंट एवं सलाहकार

व्यक्तियों एवं अन्य व्यापारिक संस्थाओं की भाँति सरकार को भी बैंक की सेवाओं की आवश्यकता होती है। सरकार प्रति वर्ष जनता से कर व अन्य आय के रूप में धन प्राप्त करके उसे प्रशासन व जनकल्याण पर व्यय करती है और इसका हिसाब-किताब रखना एक जटिल समस्या माना जाता है। इसके विपरीत विदेशों से भी अनेक प्रकार के लेनदेन चलते रहते हैं। अत: इन समस्त कार्यों को करने के लिए एक ऐसी बैंक की सेवाओं की आवश्यकता होती है जिसकी शाखाएँ देश व विदेश में फैली हों। इन समस्त सेवाओं को केन्द्रीय बैंक द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है जो सरकार के लिए समस्त प्रकार की वित्तीय सेवाएँ भी प्रदान करता है।

सलाहकार के रूप में कार्य – केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक, एजेंट एवं सलाहकार के रूप में निम्न ढंग से कार्य करता है:–

(i) **ऋण व्यवस्था** – आवश्यकता पड़ने पर सरकार को केन्द्रीय बैंक द्वारा अल्पकालीन ऋण दिए जाते हैं।

(ii) **सरकारी हिसाब** – यह बैंक विभिन्न विभागों से सरकारी हिसाबों को तथा उनके खातों को उचित ढंग से रखता है।

(iii) **धन जमा करना** – यह बैंक सरकार के हिसाब में धन जमा करता है।

(iv) **मुद्रा का हस्तांतरण** – यह बैंक सरकार की ओर से धन का हस्तांतरण सुविधापूर्ण बना देता है।

(v) **मुद्रा सौदे** – इस बैंक द्वारा देश- विदेश में सरकार की ओर से मौद्रिक सौदे किए जाते हैं।

(vi) **वित्तीय परामर्श** – इस बैंक द्वारा समय-समय पर वित्तीय मामलों पर उचित परामर्श ली जाती है जो बैंकिंग एवं मौद्रिक नीति को सफल बनाने में सहायता प्रदान करता है।

(vii) **ऋण की व्यवस्था** – सरकार द्वारा जारी किए गए समस्त ऋणों की उचित व्यवस्था करके हिसाब-किताब आदि को उचित ढंग से रखा जाता है।

(viii) **ऋण का भुगतान** – सरकार की ओर से जारी किए गए ऋणों व उस पर ब्याज के भुगतान की व्यवस्था इसी बैंक द्वारा की जाती है।

(ix) **सरकारी माल का क्रय-विक्रय** – यह बैंक सरकारी माल एवं विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करती है।

(x) **संकट काल** – यह बैंक संकट काल में असाधारण ऋण की व्यवस्था करके सहायता प्रदान करती है।

(xi) **सरकारी हिसाब रखना** – बैंक सरकार की समस्त आय को प्राप्त करके उसके व्ययों को भी चुकाती है।

अत: यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक सरकार की अर्थनीति के निर्धारण तथा संचालन में बुद्धि, श्रम तथा धन में सहायक सिद्ध होती है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय करेंसी का संरक्षक

1929 की विश्वमंदी के पश्चात् विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने के उद्देश्य से विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Account) की स्थापना की गई, जिनके संचालम का भार केन्द्रीय सरकार को सौंपा गया। अर्जित की जाने वाली समस्त विदेशी मुद्रा को इन कोषों में जमा कर दिया जाता है तथा उसका आवश्यकता होने पर उचित प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक

देश के विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक के रूप में कार्य करता है। विदेशों में दूतावासों के व्यय के लिए भी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है व अन्य शासकीय एवं व्यावसायिक कार्यों के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ती है, जिसकी व्यवस्था केन्द्रीय बैंक द्वारा ही की जाती है। देश की मुद्रा की दर को स्थिर रखने के उद्देश्य से भी विदेशी विनिमय कोषों को सुरक्षित रखा जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक को यह भी अधिकार होता है कि वह देश की विदेशी विनिमय की समस्त आय को अपने ही नियंत्रण में रखे, जिससे उसे सुविधापूर्वक कार्य में लगाया जा सके। विदेशी विनिमय कोष पर्याप्त मात्रा में होने से विदेशों में उचित साख बनी रहता है।

(7) खातों का समाशोधन व स्थानांतरण

देश में प्रत्येक बैंक द्वारा केन्द्रीय बैंक में कुछ धन जमा किया जाता है। अत: इन बैंकों के पारस्परिक लेन-देन को नकद में भुगतान न करके केन्द्रीय बैंक की सहायता से समाशोधन की सहायता से पूर्ण कर लेते हैं अर्थात् ऋणी बैंक अपने लेनदार बैंक को एक चैक केन्द्रीय बैंक के नाम से दे देता है, जो केन्द्रीय बैंक खाते में जमा व ऋणी के खाते में नामे लिखकर समायोजित व्यवहार कर दिया जाता है। प्रत्येक बैंक के पास दूसरे बैंकों पर लिखे चैक जमा आदि के लिए आते रहते हैं। अत: केन्द्रीय बैंक ऐसी व्यवस्था करता है कि एक स्थान के समस्त बैंक के प्रतिनिधि क्लर्क एक स्थान पर एकत्रित होकर प्रत्येक बैंक की लेनदारी एवं देनदारी का एक सामूहिक विवरण-पत्र तैयार कर लेता है, जिस पर प्रतिनिधियों की स्वीकृति प्राप्त करके उस विवरण को केन्द्रीय बैंक को भेज दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक इस विवरण के आधार पर विभिन्न बैंकों के खातों को नामे व जमा कर दिया जाता है। इस प्रकार बिना नकद भुगतान किए समाशोधन गृह की सहायता से लाखों के लेन-देन का निपटारा सरलता से हो जाता है।

लाभ – समाशोधन व्यवस्था के प्रमुख लाभ निम्न हैं :–

(i) **कम मुद्रा की आवश्यकता** – इस व्यवस्था में समस्त बैंकों के लेन-देन के लिए कम मुद्रा की आवश्यकता होती है तथा उसका अन्य कार्यों में प्रयोग किया जा सकेगा।

(ii) **श्रम की बचत** – बैंकों के समस्त लेन-देन एवं व्यवहारों में बहुत-सा श्रम बच जाता है जिसे बैंक स्वयं अन्य कार्यों में उपयोग कर सकता है।

(iii) **घनिष्ठ सम्बन्ध** – समाशोधन के लिए एकत्रित होने पर बैंक कर्मचारियों के माध्यम से बैंकों में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे समान प्रकार की नीतियों के निर्माण में सहायता प्राप्त होती है।

(iv) **धनराशि का हस्तांतरण** – केन्द्रीय बैंक अपने समस्त सदस्य बैंकों को धन के हस्तांतरण की सुविधाएँ प्रदान करता है तथा ये सेवाएँ नि:शुल्क दी जाती हैं। इससे धन का सुविधापूर्वक व शीघ्रता से हस्तांतरण संभव हो जाता है।

केन्द्रीय बैंक पर प्रतिबंध – केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्यों पर प्रतिबंध लगाए गए हैं :–

बैंकिंग कार्यों पर प्रतिबंध – केन्द्रीय बैंक देश में साधारण व्यापारिक बैंकिंग के कार्य नहीं कर सकता है तथा वह (अ) अचल सम्पत्ति पर ऋण नहीं दे सकता, (ब) मियादी बिल नहीं लिख सकता है और न स्वीकार कर सकता है, (स) किसी को आरक्षित ऋण प्रदान नहीं कर सकता, (द) जमाओं पर ब्याज नहीं दे सकता, (इ) किसी भी कम्पनी के अंश नहीं खरीद सकता, एवं (फ) व्यापार व वाणिज्य में भाग नहीं ले सकता।

साख नियंत्रण के उद्देश्य
(Objects of Credit Control)

मुद्रा पर नियंत्रण प्रत्यक्ष माना जाता है जिसे केन्द्रीय बैंक जनता को नोटों का निर्गमन करके स्वयं नियंत्रित करता है तथा आवश्यकतानुसार इसकी मात्रा में कमी या वृद्धि कर देता है, परन्तु आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में मुद्रा के अतिरिक्त अन्य अनेक कार्य साख मुद्रा द्वारा किए जाते हैं, जिन पर नियंत्रण रखना आवश्यक होता है। वर्तमान समय में साख मुद्रा का नियमन व नियंत्रण बैंक का मुख्य कार्य माना

NOTES

जाता है। इस प्रकार प्रचलित मुद्रा की मात्रा पर नियंत्रण रखने के लिए आवश्यक माना जाता है कि बैंक जमा का उचित नियमन किया जाए। साख नियंत्रण की विभिन्न रीतियों की विस्तार से व्याख्या पिछले अध्याय में की जा चुकी है।

उद्देश्य

देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुरूप साख की पूर्ति का समायोजन करना ही साख नियंत्रण कहलाता है। साख नियंत्रण के विभिन्न उद्देश्यों को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है–

साख नियंत्रण के उद्देश्य

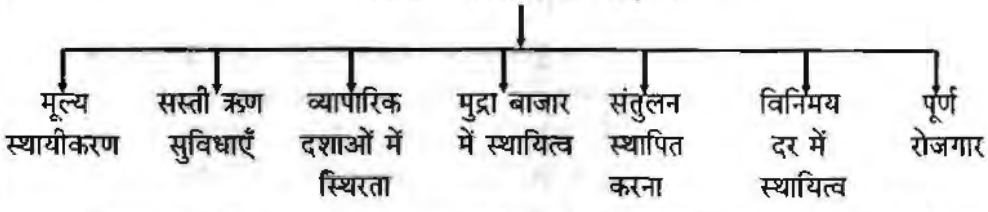

(i) **मूल्य स्थायीकरण** – देश में वस्तुओं के मूल्यों को नियंत्रित करने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक साख नियंत्रण नीति द्वारा मूल्यों में स्थायित्व लाता है।

(ii) **सस्ती ऋण सुविधाएँ** – केन्द्रीय बैंक की साख नीति द्वारा सरकार को विभिन्न विकास योजनाओं के लिए सस्ते दर पर ऋण की व्यवस्था करनी होती है।

(iii) **व्यापारिक दशाओं में स्थिरता** – साख नीति का उद्देश्य देश में व्यापार व वाणिज्य को बढ़ाकर व्यापारिक दशाओं में सुधार करके स्थिरता लाना है।

(iv) **मुद्रा बाजार में स्थायित्व** – साख नीति का उद्देश्य मुद्रा बाजार में स्थायित्व लाना है जिसके लिए आवश्यकतानुसार साख का प्रसार व संकुचन किया जाता है।

(v) **संतुलन स्थापित करना** – देश में साख नीति की सहायता से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों एवं देश-विदेश की दशाओं के मध्य उचित संतुलन स्थापित करना चाहिए।

(vi) **विनिमय दर में स्थायित्व** – प्रारंभ में केन्द्रीय बैंक की साख मुद्रा का उद्देश्य विनिमय दर में स्थायित्व लाना था व साथ ही साथ आन्तरिक मूल्य स्तर में स्थिरता लाना आवश्यक समझा गया।

(vii) **पूर्ण रोजगार** – द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् साख नीति का उद्देश्य बेरोजगारी को समाप्त करके देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना था जिससे देश का शीघ्रता से आर्थिक विकास संभव किया जा सके।

आवश्यकता

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों का आर्थिक विकास साख मुद्रा के आधार पर ही संभव हो पाया है, परन्तु साथ ही साथ अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त भी हो गई है और इसी कारण 1920-21 में आर्थिक संकट एवं 1929 में विश्व को महान् मन्दी का सामना करना पड़ा। इस प्रकार साख मुद्रा पर नियंत्रण न रखने से विश्व की आर्थिक अर्थव्यवस्था को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार "मुद्रा मानव जाति के लिए अनेक सुखों का साधन है, नियंत्रण के अभाव में अभिशाप एवं मुसीबतों का कारण भी बन जाती है।" उसी प्रकार यदि साख मुद्रा पर नियंत्रण न लगाया गया तो उससे देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। देश में साख मुद्रा की मात्रा अधिक हो जाने पर देश में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है, फलस्वरूप देश के आर्थिक विकास में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। इसी प्रकार व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग के विकास में साख मुद्रा अनेक प्रकार की आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न कर देती है। साख मुद्रा ने समाज को धनी एवं गरीब दो वर्गों में विभाजित कर दिया है जिसने वर्ग संघर्ष को जन्म दिया है। इस प्रकार देश की अर्थव्यवस्था को विकसित करने एवं देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक माना गया है कि साख मुद्रा पर उचित नियंत्रण लगाया जाए तथा उसका उचित ढंग से नियमन करना भी आवश्यक है।

केन्द्रीय बैंक की विशेषताएँ

(i) **सरकारी स्वामित्व** – केन्द्रीय बैंक पर सरकारी स्वामित्व रहा है क्योंकि विदेशी व्यापार की समस्याओं व लाभ होने से सरकारी स्वामित्व आवश्यक है।

(ii) **व्यापारिक बैंकों से व्यवहार** – केन्द्रीय बैंक सदैव व्यापारिक बैंकों से ही व्यवहार करते हैं, जनता से नहीं क्योंकि केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य बैंक व्यवस्था एवं मौद्रिक व्यवस्था को उचित स्तर पर बनाए रखना है। व्यापारिक बैंकों की भाँति केन्द्रीय बैंक साधारण व्यापारिक कार्य नहीं कर सकता। केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंक से प्रतिस्पर्धा करने पर साख व ऋण का नियंत्रण न हो सकेगा।

(iii) **लाभ भावना का अभाव** – केन्द्रीय बैंक का प्रमुख उद्देश्य लाभ अर्जित करना नहीं है। केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों को साख की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसके लिए व्यापारिक बैंकों को बिलों की कटौती आदि की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, जिसका उद्देश्य बैंकों को आर्थिक सहायता देकर साख का सृजन करना है। लाभ प्रवृत्ति होने से देश के व्यापार एवं उद्योगों को हानि होगी, देश में स्फीतिक स्थिति उत्पन्न होने पर मूल्य वृद्धि का भय बना रहेगा।

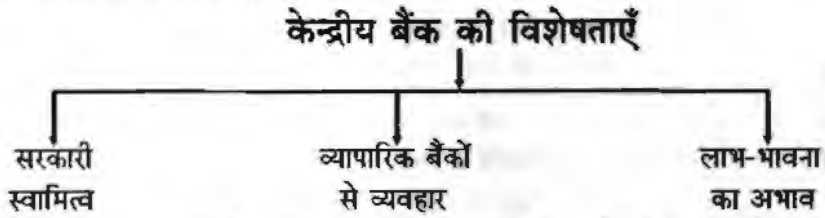

अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था एवं केन्द्रीय बैंक

(Underdevelopment Economy and Central Banking)

अर्द्धविकसित राष्ट्रों में बैंक एवं वित्तीय संस्थाओं का अभाव पाया जाता है तथा मुद्रा बाजार अविकसित अवस्था में पाया जाता है। इन राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंक का कार्य बैंकिंग प्रणाली के संतुलित विकास के साथ-साथ देश की अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास को विकसित करना है। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न करती है। संगठित मुद्रा बाजार देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक माना जाता है, जो कि औद्योगिक प्रगति का आधार माना जाता है तथा व्यापार व उद्योगों को सभी प्रकार की वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। अत: केन्द्रीय बैंक द्वारा बाजार एवं कृषि वित्त की समस्या को हल करने के प्रयास किए जाने चाहिए। देश में सरकारी एवं भूमिबंधक बैंकों के विकास की ओर भी समुचित ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का कार्य अर्थव्यवस्था का नियमन एवं नियंत्रण करके देश का आर्थिक विकास करना है। भारत में देश के आर्थिक विकास के लिए रिजर्व बैंक कार्य करता है, जो मुद्रा बाजार को विकसित करके वित्तीय सहायता प्रदान करने के प्रयास करता है।

अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक के कार्य

अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्य निम्न हैं :–

(1) **अर्थव्यवस्था का नियमन एवं नियंत्रण** – इसमें केन्द्रीय बैंक के उन समस्त कार्यों को सम्मिलित करते हैं जो वे विकसित देशों में करते हैं जैसे कि नोट निर्गमन, साख नियंत्रण, सरकारी सलाहकार आदि।

(2) **आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्य** – इनमें निम्न दो कार्यों को सम्मिलित करते हैं–

(a) **आर्थिक विकास हैड कार्य** – इसमें केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्यों को सम्मिलित करते हैं–

(i) **लोक उपक्रमों का विकास** – उद्योगों की स्थापना एवं विकास में सरकार को पूँजी लगानी होती हैं, जिसके लिए केन्द्रीय बैंक ऋण की भी व्यवस्था करता है।

(ii) **औद्योगिक वित्त प्रबंधन** – अर्द्धविकसित देशों में औद्योगिक वित्त की अपर्याप्त सुविधाएँ होने से केन्द्रीय बैंक वहाँ पर पर्याप्त औद्योगिक वित्त का प्रबंध करता है।

(iii) **विनियोग को प्रोत्साहन** – सरकार बड़े स्तर पर नवीन विनियोग के लिए आवश्यक प्रोत्साहन देती है। इसके लिए सस्ती मुद्रा नीति लाभकारी होती है। मौद्रिक नीति के द्वारा ब्याज में कमी करके भी विनियोग को प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

(iv) **पर्याप्त मुद्रा** – आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है मुद्रा की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में हो। इसमें चल मुद्रा का अधिकाधिक प्रचलन होना चाहिए तथा साख मुद्रा का भी विस्तार जाना चाहिए।

(v) **बैंकिंग प्रणाली का विस्तार** – केन्द्रीय बैंक को समस्त बैंकिंग एवं वित्तीय व्यवस्था के विकास में सहायता करनी चाहिए तथा वित्तीय संस्थाओं की रचना को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(vi) **कुशल भुगतान यंत्र** – आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक एक कुशल भुगतान यंत्र की व्यवस्था करे।

(vii) **कृषि वित्त की व्यवस्था** – अर्द्धविकसित देशों में केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यापारिक बैंकों के कार्यों का ग्रामीण क्षेत्रों तक विस्तार करे तथा कृषकों की अल्पकालीन, मध्यकालीन व दीर्घकालीन साख की व्यवस्था करे।

(viii) **विनिमय स्थिरता** – केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य विनिमय दर में स्थिरता बनाए रखना है जिससे व्यापार व उद्योगों के विकास का क्रम निरंतर बना रहे।

(b) **आर्थिक स्थिरता का प्रवर्तन** – आर्थिक विकास हेतु केन्द्रीय बैंक का दूसरा कार्य मूल्यों में स्थिरता बनाए रखना है। बढ़ते मूल्य को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक को साख नियंत्रण के प्रसाधनों का प्रयोग करना होता है। बढ़ते मूल्य को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक को साख नियंत्रण के प्रसाधनों को प्रयोग करना होता है।

एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक के कार्यों को निम्न चार्ट द्वारा दिखाया जा सकता है:–

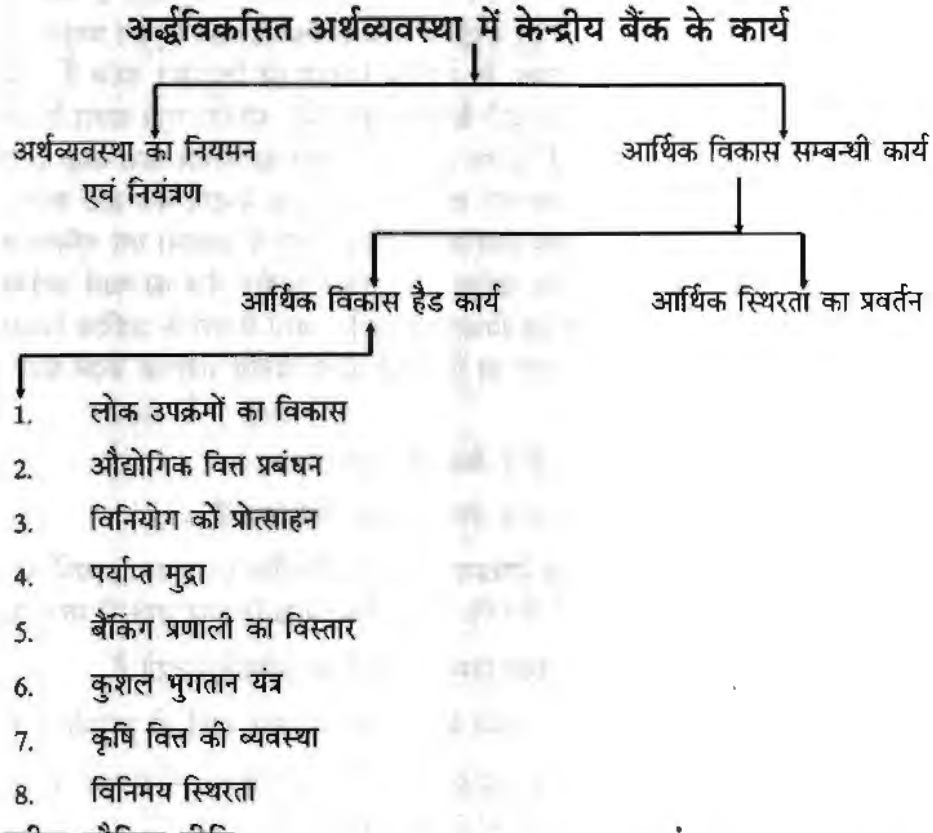

प्रभावशील मौद्रिक नीति

अर्द्धविकसित राष्ट्रों में मौद्रिक नीति को प्रभावशाली बनाने के लिए निम्न उपायों को करना आवश्यक माना जाता है–

(i) **मुद्रा बाजार की परिस्थितियाँ** – केन्द्रीय बैंक की नीति मुद्रा बाजार की परिस्थितियों पर निर्भर करती है, जिसकी सहायता से केन्द्रीय बैंक साख का उचित ढंग से नियंत्रण कर सकती है। मुद्रा बाजार में केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित नीतियों का ही पालन किया जाना आवश्यक है।

(ii) **साख प्रभावित करने की क्षमता** – मुद्रा नीति उसी समय सफल हो सकती है, जबकि केन्द्रीय बैंक सभी प्रकार की साख को प्रभावित करने की क्षमता रखता हो। इसके लिए साख प्रदान करने वाली समस्त संस्थाओं को केन्द्रीय बैंक का नेतृत्व स्वीकार करना आवश्यक होगा तथा व्यापारिक बैंकों का केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए।

प्राय: अर्द्धविकसित राष्ट्रों में उपर्युक्त बातों का अभाव पाए जाने से मुद्रा नीति प्रभावकारी ढंग से लागू नहीं हो पाती। अत: मौद्रिक नीति को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि उपर्युक्त दोनों बातों को पूर्ण किया जाए।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का स्पष्टीकरण कीजिए और केन्द्रीय बैंकिंग की तुलना वाणिज्य बैंकिंग से कीजिए।

   Explain the main functions of a Central Bank and compare Central Banking with commercial Banking.

2. क्या केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता सर्वव्यापी है? एक विकासशील अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक के महत्व की व्याख्या कीजिए।

   Are the central banks universally necessary of Discuss the role of a central bank in a developing economy.

3. 'आधुनिक केन्द्रीय बैंकिंग प्रवृत्तियों की सम्भवत: सबसे क्रांतिकारी विशेषता राज्य तथा केन्द्रीय बैंक के सम्बन्धों में परिवर्तन है।' इस कथन के आधार पर केन्द्रीय बैंक तथा राज्य के सम्बन्धों का विवेचन कीजिए।

   "Perhaps the most revolutionary feature of recent banking development in the changing concept of the relationship between the state and the central Bank." In the light of the statement, discuss the relation between the central Bank and the state.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली से आप क्या समझते हैं?

   What do you understand by Central Banking System?

2. केन्द्रीय बैंक के कार्य बतलाइये।

   Discuss the functions of Central Bank.

3. साख नियंत्रण के उद्देश्य क्या हैं?

   What are objectives of Credit Control.

4. केन्द्रीय बैंक के महत्व की व्याख्या कीजिये।

   Discuss the importance of Central Bank.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. "संसार में तीन महान आविष्कार हुये हैं- आग, पहिया तथा केन्द्रीय बैंकिंग।" यह कथन है-

   (अ) बिल रोजर्स (ब) मूर (स) वाटसन (द) पीगू

NOTES

"The have been three great inventions since the begining of time- The fire, the wheel and central banking." This statement is:

(a) Bil Rojours (b) Moor (c) Watson (d) Pigue

2. भारत में केन्द्रीय बैंकिंग की स्थापना हुई थी-

(अ) 1935 (ब) 1930 (स) 1938 (द) 1940

Central Banking in India was established:

(a) 1935 (b) 1930 (c) 1938 (d) 1940

3. केन्द्रीय बैंक के कार्य हैं-

(अ) नोट निर्गमन (ब) सरकार का बैंकर (स) बैंकों का बैंक (द) उपरोक्त सभी

Functions of a Central Bank are :

(a) Note issue (b) Banker of Govt.

(c) Banker of Banks (d) All of above

उत्तर- 1. (अ), 2. (अ), 3. (द)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

13

मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन
(INFLATION AND DEFLATION OF MONEY)

प्रारम्भिक : वर्तमान मुद्रा व्यवस्था में मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व का अभाव पाया जाता है और उसमें देश की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक नीतियों के आधार पर निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। विकासशील अर्थव्यवस्था में वस्तुओं के मूल्य बढ़ने पर मुद्रा के मूल्य में कमी हो जाती है और वस्तुओं के मूल्य गिरने पर मुद्रा के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। इन परिस्थितियों को ही मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन कहा गया है। व्यापारिक तेजी एवं मन्दी मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन के ही रूप हैं जिसके भीषण दुष्परिणाम देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ते हैं। देश के आर्थिक विकास के लिए अर्थव्यवस्था में स्थिरता लाना आवश्यक होगा, परन्तु मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा-संकुचन केवल मूल्यों में वृद्धि अथवा कमी की स्थिति को ही नहीं प्रदर्शित करता, बल्कि अन्य प्रभावों को भी बताता है। अत: वस्तुस्थिति की जानकारी के लिए इनका विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है।

मुद्रा-स्फीति
(Inflation)

प्राय: 1934 की मन्दी की समाप्ति तक यह समझा जाता था कि मुद्रा-स्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा की मात्रा में असाधारण रूप से वृद्धि होकर वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाये तथा मुद्रा की शक्ति घट जाये। केवल मुद्रा की मात्रा में वृद्धि को ही मुद्रा-स्फीति माना जाता रहा। इस विचार का खण्डन सर्वप्रथम **कीन्स** ने किया और उन्होंने मुद्रा प्रसार का कारण बचत विनियोग एवं ब्याज की दर को बतलाया। इस सम्बन्ध में **कीन्स** ने 'मुद्रा प्रसार न्यूनता' (inflationary gap) की धारणा प्रस्तुत की और स्थायी मूल्यों पर, सम्भावित व्यय के आधिक्य को 'मुद्रा प्रसार न्यूनता' कहा गया। देश में उपयोग, विनिमय एवं सरकारी व्यय (C+I+G) पर सम्भावित व्यय निर्भर करता है। इसी प्रकार रोजगार की मात्रा एवं तकनीकी दिशाओं पर 'उपलब्ध उत्पादन' निर्भर करता है। जब देश में विनियोग एवं सरकारी व्यय के कारण मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाये लेकिन उत्पादन क्षमता सीमित होने के कारण वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति में वृद्धि न हो तो 'मुद्रा प्रसार न्यूनता' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उस समय तक बनी रहती है जब तक कि यह न्यूनता समाप्त न हो जाये, फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार उस स्थिति को बताया गया है, जिसमें मौद्रिक आय-अर्जन प्रक्रिया के अनुपात में अधिक तेजी से बढ़ जाती है।"

सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जाता है कि पूर्ण रोजगार की प्राप्ति से पूर्व प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होती है और मूल्य नहीं बढ़ पाते, परन्तु जब पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती है तो मौद्रिक आय में वृद्धि होने पर उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती व मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार जब सरकारी व्यय की वृद्धि मौद्रिक आय को बढ़ाकर उत्पादन में वृद्धि सम्भव न कर सके तो प्रसार की स्थिति प्रारम्भ हो जाती है। प्राय: देखा जाता है कि देश में अर्थव्यवस्था में भिन्न-भिन्न प्रकार की कठिनाइयों के कारण माँग की वृद्धि का एक भाग मूल्यों की वृद्धि में व्यय कर दिया जाता है तथा शेष भाग को ही उत्पादन में वृद्धि में व्यय किया जाता है और इस प्रकार अपूर्ण रोजगार में भी मुद्रा प्रसार सम्भव हो जाता है। जब देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती है और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मौद्रिक आय में वृद्धि होने से मूल्य स्तर में भी आनुपातिक परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार की प्राप्ति पर मुद्रा प्रसार सम्भव हो पाता है। पूर्ण रोजगार की अवस्था न होने पर मुद्रा प्रसार एक अल्पकालीन प्रक्रिया है। मुद्रा प्रसार की समस्या दीर्घकाल में नहीं होती है, क्योंकि दीर्घकाल में जनसंख्या की वृद्धि,

NOTES

उत्पादन तकनीकी में सुधार, नवीन साधनों की खोज आदि से बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करना सम्भव हो जाता है और मूल्यों में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती।

परिभाषाएँ – मुद्रा प्रसार की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं –

(1) **क्राउथर के अनुसार** – "मुद्रा प्रसार की एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें मुद्रा का मूल्य गिर रहा है, अथवा मूल्य बढ़ रहे हैं।"

(2) **पीगू के अनुसार** – "मुद्रा प्रसार उस समय होता है, जबकि उत्पादन के साधनों द्वारा जिसके लिए भुगतान किया जाता है, उत्पत्ति की तुलना में मौद्रिक आय सापेक्षिक रूप में अधिक बढ़ रही हो।"

(3) **चैम्बर शब्दकोष के अनुसार** – "मुद्रा-स्फीति वह है जिसमें मुद्रा अथवा साख अथवा दोनों की मात्रा में खरीद करने के लिए उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा की तुलना में यकायक तीव्र गति से वृद्धि हो जाती है। मुद्रा स्फीति सदैव मूल्य स्तर में वृद्धि उत्पन्न करती है।"

(4) **ग्रेगौरी के अनुसार** – "क्रय-शक्ति की मात्रा में असाधारण वृद्धि की अवस्था को मुद्रा प्रसार कहते हैं।"

(5) **केमरर के अनुसार** – "व्यवसाय की भौतिक मात्रा की तुलना में मुद्रा एवं चलन जमा की राशि बहुत अधिक हो जाने की स्थिति को मुद्रा प्रसार कहते हैं।"

(6) **पॉलईजिग के अनुसार** – "मुद्रा प्रसार क्रय शक्ति की विस्तारशील प्रवृत्ति है, जो कि मूल्य स्तर में वृद्धि करती है तथा स्वयं उससे प्रभावित होती है।"

(7) **वेवस्टर शब्दकोष के आधार पर** – "वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा की तुलना में मुद्रा एवं साख के मूल्य में अधिक वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप सामान्य मूल्य स्तर में निरन्तर व महत्वपूर्ण वृद्धि की अवस्था को मुद्रा-स्फीति कहा गया है।"

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के अन्तर्गत एक ओर तो मुद्रा की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि होती है और दूसरी ओर वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती और इसी के परिणामस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है तथा मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति के लक्षण

मुद्रा-स्फीति के प्रमुख लक्षण निम्न हैं –

(1) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होकर उत्पादन स्थिर हो जाता है।

(2) मुद्रा की मात्रा में कमी तथा उत्पादन भी गिर रहा हो।

(3) मुद्रा की मात्रा बढ़ रही हो तथा उत्पादन भी गिर रहा हो।

(4) मुद्रा की मात्रा स्थिर तथा उत्पादन कम हो रहा हो।

(5) मुद्रा की मात्रा बढ़े तथा उत्पादन भी बढ़ रहा हो।

(6) मुद्रा एवं उत्पादन दोनों की मात्रा स्थिर हो तथा मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो।

मुद्रा-स्फीति की तीव्रता

तीव्रता की दृष्टि से मुद्रा-स्फीति की प्रमुख किस्में निम्न प्रकार हैं : (देखें चित्र 13.1)

(1) **तीव्रगामी स्फीति** (Galloping Inflation) – इसमें देश में वस्तुओं के मूल्यों में अत्यन्त तीव्र गति से वृद्धि होने लगती है, परिणामस्वरूप देश की मुद्रा एवं मूल्य व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और जनता का मुद्रा से विश्वास उठ जाता है व समाज में अशान्ति व असन्तोष व्यापक रूप में फैल जाता है। इससे मुद्रा के मूल्य में भारी गिरावट आ जाती है और लोग वस्तुओं को खरीदने के लिए दौड़ लगा देते हैं।

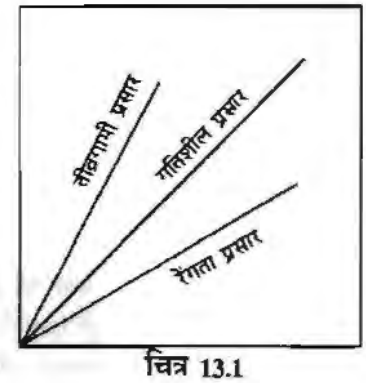

चित्र 13.1

(2) **गतिशील प्रसार** (Moving Inflation) – इससे राष्ट्र की आर्थिक स्थिति शनैः शनैः गतिशील मुद्रा प्रसार की स्थिति की ओर बढ़कर सामान्य जनता के लिए कष्टदायक होने लगती है और जनता को इससे अपार कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

(3) **रेंगता हुआ प्रसार** (Creeping Inflation) – जब कम मात्रा में मुद्रा प्रसार होता है तो उसे रेंगता हुआ प्रसार कहते हैं। इस प्रसार को स्वाभाविक माना जाता है और जो अधिक हानिप्रद एवं कष्टदायक नहीं होते।

मुद्रा-स्फीति के रूप
(Types of Inflation)

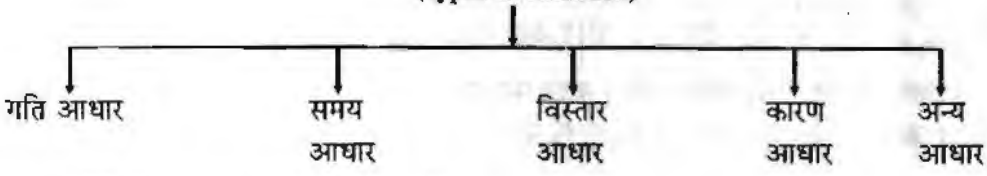

मुद्रा-स्फीति के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं–

(1) **गति के आधार पर** – गति के आधार पर मुद्रा प्रसार को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है–

(i) **तीव्र प्रसार** – इसमें मूल्यों की वृद्धि तेजी से होने लगती है और लोगों पर बुरा प्रभाव पड़ने लगता है।

(ii) **गतिशील प्रसार** – इसके अन्तर्गत मूल्यों में वृद्धि की गति कुछ तेजी से होती है तथा जनता पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है।

(iii) **रेंगता हुआ प्रसार** – इसमें मुद्रा प्रसार बहुत ही धीमी गति से होता है और यह जनता के लिए कोई विशेष खतरनाक नहीं होता।

(iv) **अत्यधिक मुद्रा प्रसार** – इस अवस्था में मूल्यों में वृद्धि की गति इतनी अधिक होती है कि उसे नापना भी कठिन है तथा उसका देश की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(2) **समय के आधार पर** – समय के आधार पर मुद्रा प्रसार को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है–

(i) **युद्धकालीन प्रसार** – राष्ट्र में युद्ध के समय जो मुद्रा का प्रसार किया जाता है उसे युद्धकालीन मुद्रा प्रसार कहते हैं। इसका देश की अर्थव्यवस्था पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है।

(ii) **युद्धोत्तर प्रसार** – जब मुद्रा प्रसार युद्ध के पश्चात् किया जाता है तो उसे युद्धोत्तर प्रसार कहते हैं। 1914-18 में जर्मनी में इस प्रकार का मुद्रा प्रसार अनुभव किया गया।

(3) **विस्तार के आधार पर** – व्यापकता के आधार पर मुद्रा प्रसार को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) **सीमित मुद्रा प्रसार** – जब कुछ ही वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाई जाये तो उसे सीमित मुद्रा प्रसार कहते हैं।

(ii) **व्यापक मुद्रा प्रसार** – जब देश की अर्थव्यवस्था में प्रत्येक वस्तु की कीमत में बढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाये तो उसे व्यापक मुद्रा प्रसार कहते हैं।

(4) **कारणों के आधार पर वर्गीकरण** – कारणों के आधार पर मुद्रा प्रसार को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) **महान प्रसार** – जब सरकार अधिक मात्रा में मुद्रा का निर्गमन करे और उसके फलस्वरूप मूल्य स्तर बढ़ जाये और सरकार द्वारा इन वस्तुओं को खरीदने के लिए और अधिक पत्र मुद्रा की निकासी की जाये तो उसे महान प्रसार कहा जाता है।

NOTES

(ii) **साख प्रसार** – जब देश में पत्र मुद्रा के स्थान पर साख मुद्रा का प्रसार बढ़ा दिया जाये, जिसके फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि हो जाये तो उसे साख प्रसार कहेंगे।

(iii) **मजदूरी प्रसार** – जब सेवायोजकों को श्रमसंघों के कारण मजदूरों को अधिक पारितोषिक देना पड़े, जबकि उत्पादन क्षमता समान ही रहे तो मूल्यों में वृद्धि होने लगती है और इस स्थिति को मजदूरी प्रसार के रूप में जानते हैं।

(iv) **छिपी स्फीति** – देश में मौद्रिक आय में वृद्धि होने पर सरकार नियंत्रण द्वारा मूल्यों की वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगा दे तो जनता अपनी धनराशि को बैंकों में जमा करा देती है। भविष्य में नियंत्रण हटने पर बैंक से जमा राशि निकाल कर वस्तुओं पर व्यय की जाती है, जिससे वस्तुओं की माँग बढ़ने से मूल्यों में वृद्धि हो जाती है जिसे छिपी हुई स्फीति कहा जाता है।

(v) **खुली स्फीति** – जब मौद्रिक आय बढ़ने पर उसके व्यय पर कोई प्रतिबन्ध न हो तो वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है और उसके फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि हो जाये तो इस अवस्था को उत्पादन स्फीति कहेंगे।

(vi) **उत्पादन स्फीति** – मुद्रा चलन में कमी न होने पर उत्पादन की मात्रा में कमी हो जाये और उसके फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि हो जाये तो इस व्यवस्था को उत्पादन स्फीति कहेंगे।

(vii) **लाभ स्फीति** – यदि उत्पादन कार्यक्षमता बढ़ने से प्रति इकाई लागत में कमी होकर मूल्य स्तर गिर जाये और सरकार कृत्रिम उपायों द्वारा मूल्यों में स्थिरता बनाये रखे जिससे उत्पादकों को अधिक लाभ प्राप्त हो तो इस अवस्था को लाभ स्फीति कहा गया है।

(viii) **चलन प्रसार** – जब आर्थिक संकट या युद्धकालीन समय बजट को सन्तुलन रखने के उद्देश्य से अत्यधिक पत्र-मुद्रा निर्गमित करने की नीति अपनाई जाये और उस अनुपात में वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा में कोई वृद्धि न हो, तो धीरे-धीरे इनके मूल्यों में वृद्धि होने लगती है, जिसे चलन प्रसार कहते हैं।

(5) **अन्य आधार** – अन्य आधारों पर मुद्रा-स्फीति के निम्न भेद किये जा सकते हैं–

(i) **लागत बढ़ोत्तरी स्फीति** (Cost Induced Inflation) – जब वस्तुओं की उत्पादन लागत बढ़ने से सरकार एवं जनता को अधिक धन व्यय करना पड़े तो उसे लागत बढ़ोत्तरी स्फीति कहेंगे।

(ii) **माँग वृद्धि स्फीति** (Demand Pull Inflation) – जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण माँग में वृद्धि होने पर वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि सम्भव न हो और मूल्यों में वृद्धि हो जाये तो इसे माँग वृद्धि स्फीति कहेंगे।

(iii) **पूर्णतया, अर्द्ध एवं आंशिक स्फीति** (Full, Semi - and Partial Inflation) – **कीन्स** के अनुसार देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति होने पर नवीन निकाली गई मुद्रा का पूर्ण उपभोग पर व्यय होना सम्भव नहीं होने से मूल्यों में जो वृद्धि होती है उसे पूर्णतया स्फीति कहते हैं। इसके विपरीत जब देश में पूर्ण रोजगार का अभाव हो तो नवीन मुद्रा का उपयोग नये व्यक्तियों को रोजगार देने में किया जाता है और उसके फलस्वरूप जो मूल्यों में वृद्धि होकर स्फीति आती है उसे अर्द्ध या आंशिक स्फीति कहेंगे।

(iv) **अवमूल्यन से स्फीति** (Inflation from Devaluation) – मुद्रा का अवमूल्यन करने से निर्यात की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जिससे जनता के उपभोग के लिए पदार्थों का अभाव हो जाता है। परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है और उससे जो स्फीति आती है उसे अवमूल्यन से स्फीति कहा जाता है।

(v) **हीनार्थ से स्फीति** (Inflation from Deficit) – आर्थिक विकास के लिए भी हीनार्थ प्रबंधन का सहारा लिया जाता है। इन योजनाओं के लिए पर्याप्त मात्रा में कर एवं ऋण प्राप्त न होने पर हीनार्थ प्रबंधन का सहारा लिया जाता है। इससे मूल्यों में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है और ऐसी स्फीति को हीनार्थ से स्फीति या बजटीय स्फीति कहते हैं।

मुद्रा-स्फीति के कारण
(Causes of Inflation)

मुद्रा-स्फीति को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं– (1) मौद्रिक कारण, एवं (2) सरकारी नीति सम्बन्धी कारण।

(1) मौद्रिक कारण

मुद्रा-स्फीति को प्रभावित करने वाले मौद्रिक कारणों में प्रमुख निम्नलिखित हैं–

(i) **लागत वृद्धि** – देश में श्रम शक्ति की कमी होने पर मजदूरी की दरों में वृद्धि हो जाती है, जिससे माल निर्मित करने के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है एवं निर्मित माल का मूल्य बढ़ जाता है। इस वृद्धि को लागत वृद्धि स्फीति कहते हैं। इसमें मुद्रा की मात्रा में वृद्धि मजदूरी की मात्रा में वृद्धि के अनुपात में होती है।

(ii) **पूँजी आयात स्फीति** – इसमें बचत वाले देशों में कमी वाले राष्ट्रों से पूँजी आयात होती है और घाटे वाले राष्ट्रों में प्राय: प्रसार की स्थिति बन जाती है। देश का भुगतान सन्तुलन पक्ष में होने एवं उस राष्ट्र से आयात होने से विदेशी पूँजी की माँग बढ़ जाती है, फलस्वरूप बैंकों द्वारा साख को प्रोत्साहन मिलता है व उस राष्ट्र में मुद्रा-स्फीति की दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(iii) **साख प्रसार** – बैंकिंग व्यवस्था का समुचित विकास हो जाने पर व्यापारिक बैंक देश के समस्त प्रकार के व्यवसायों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं जिससे साख की मात्रा में वृद्धि होकर साख प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(iv) **माँग वृद्धि स्फीति** – युद्ध एवं आपत्तिकालीन समय में वस्तुओं की माँग में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। क्रेताओं में आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण मूल्यों में वृद्धि हो जाती है और विक्रेता अधिकाधिक लाभ अर्जित करने की चेष्टा में लगा रहता है। उद्योगों में विनियोजन के लिए पूँजी की माँग में वृद्धि हो जाती है जिससे साख में भी विस्तार हो जाता है। इस प्रकार वस्तुओं की माँग में अपार वृद्धि हो जाने से मूल्यों में वृद्धि होकर स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(v) **उत्पादन में कमी** – जब मुद्रा की मात्रा पूर्ववत होने पर उत्पादन की मात्रा में कमी हो जाये तो मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती है। देश में उत्पादन में कमी होने के अनेक कारण हो सकते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं–

(a) **पुरानी मशीनों का प्रयोग** – जिन कारखानों में पुरानी मशीनों का उपयोग किया जाता है, वहाँ पर उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है जो माँग में वृद्धि पूर्ण करने में असमर्थ रहती है।

(b) **सूखा पड़ना** – देश में सूखा पड़ने पर उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल की सुविधायें प्राप्त न होने से उत्पादन में कमी हो जाती है।

(c) **हड़ताल या तालेबन्दी** – यदि औद्योगिक कारण से देश में हड़ताल या तालेबन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाये तो देश में उत्पादन में कमी हो जाती है।

(d) **दोषपूर्ण सरकारी नीति** – देश में सरकार की कर नीति या लाइसेन्स नीति दोषपूर्ण होने पर उत्पादन में भी कमी हो जाती है।

(2) सरकारी नीति सम्बन्धी कारण

देश में मुद्रा-स्फीति होने का कारण सरकारी नीति से सम्बन्धित होता है। इसमें निम्नलिखित का समावेश किया जा सकता है–

(i) **युद्धकालीन व्यवस्था** – प्राय: युद्ध से हारे हुए राष्ट्रों में स्फीति अधिक होती है क्योंकि इन राष्ट्रों का आर्थिक ढाँचा बिलकुल बिगड़ चुका होता है जिसे ठीक करने में उन्हें भारी मात्रा में धन व्यय करना पड़ता है तथा जीतने वाले राष्ट्र के हर्जाने के रूप में भारी राशि भी दी जाती है, जिसके फलस्वरूप भीषण मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(ii) **संरक्षणात्मक व्यापार नीति** – जब सरकार विदेशी आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर स्वदेशी उद्योगों को निरन्तर संरक्षण देती रहती है तो ये उद्योग शिथिल हो जाते हैं और वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि करके स्फीति का कारण बन जाते हैं। इसी कारण निर्यात बढ़ाने के प्रयास में माल का अभाव हो जाता है और मूल्यों में वृद्धि होकर मुद्रा-स्फीति हो जाती है।

(iii) **दोषपूर्ण कर नीति** – दोषपूर्ण कर नीति द्वारा निर्मित माल पर अधिक कर लगाने से नवीन साहसी हतोत्साहित हो जाते हैं जिससे उद्योगों में शिथिलता आकर स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है।

(iv) **ढीला प्रशासन** – सरकारी प्रशासन में ढीलापन या शिथिलता होने पर लाभ कमाने, घूसखोरी व जमाखोरी की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे वस्तुओं की कृत्रिम कमी होने से स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है।

(v) **कड़ा औद्योगिक नियंत्रण** – जब सरकार देश में उद्योगों की स्थापना पर सख्त नियंत्रण लगाकर नवीन उद्योगों के लिए लाइसेन्स व्यवस्था जारी करती है तो उत्पादन शिथिल हो जाता है तथा देश में मुद्रा-स्फीतिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(vi) **योजनाबद्ध विकास कार्यक्रम** – विकासशील राष्ट्रों में योजना द्वारा आर्थिक विकास के सफल प्रयास किये जाते हैं जिस पर बड़ी भारी राशि का विनियोग करना पड़ता है और उसकी पूर्ति या तो कर बढ़ाकर या विदेशों से पूँजी उधार लेकर व्यय किया जाता है इस प्रकार देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(vii) **घाटे की व्यवस्था** – युद्धकाल में सरकार का व्यय अधिक हो जाने पर उसकी पूर्ति कर लगाकर या विदेशों से ऋण लेकर नहीं हो पावे तो आवश्यक मात्रा में नोट छापकर घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा वित्तीय सुविधाएँ प्राप्त की जाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति के कारणों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है–

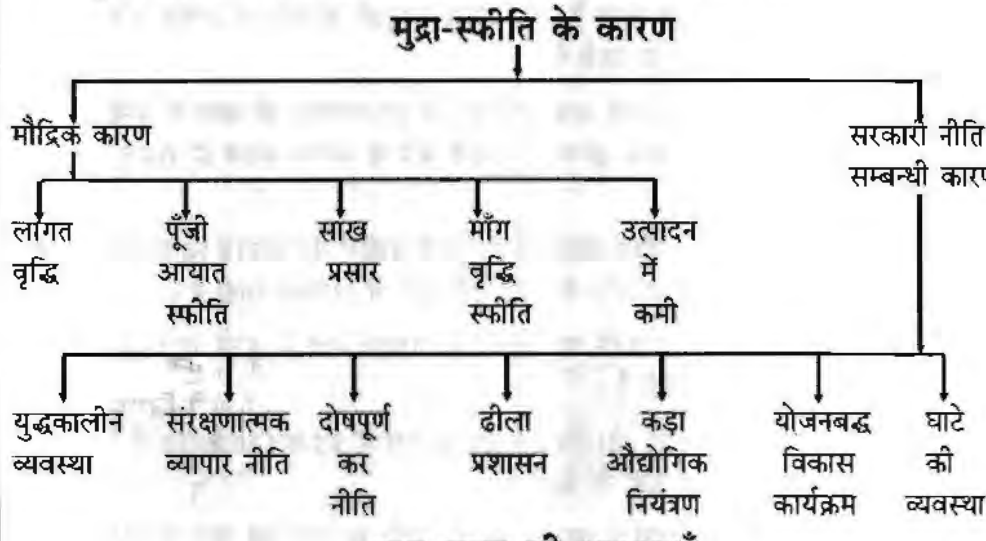

मुद्रा प्रसार की अवस्थाएँ
(Stages of Inflation)

मुद्रा प्रसार की प्रमुख अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) **पूर्ण रोजगार से पूर्व अवस्था** (Pre-Full-employment Stage) –

इस व्यवस्था में मुद्रा प्रसार की गति बहुत धीमी होती है जो उद्योगों की स्थापना के लिए लाभदायक होती है, जनता को रोजगार मिलता है व आय में वृद्धि होती है। इस व्यवस्था में मूल्यों में क्रमिक वृद्धि होकर उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि होती है। आंशिक स्फीति की घटना पूर्ण रोजगार बिन्दु से पूर्व उत्पन्न हो सकती है, परन्तु वास्तविक स्फीति की घटना पूर्ण रोजगार के बाद ही उत्पन्न होती है जैसा कि चित्र 13.2 में दिखाया गया है।

B बिन्दु पूर्ण रोजगार का संकेतक है। B बिन्दु के बाद ज्यों ही मुद्रा की मात्रा बढ़ायी जाती है AB रोजगार वक्र एक खड़ी रेखा हो जाती है और PP मूल्य रेखा पूर्ण रोजगार B के बाद ऊपर को चढ़ती हुई रेखा है जो मूल्य वृद्धि को बताती है। B बिन्दु के बाद ज्यों ही मुद्रा की मात्रा बढ़ायी जाती है AB रोजगार वक्र एक खड़ी रेखा बन जाता है जो यह बताता है कि रोजगार में कोई वृद्धि होने से मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। अत: मुद्रा स्फीति की स्थिति AB के बाद ही उदय होती है। इस वृद्धि के अनेक कारण हैं, जो कि निम्नलिखित हैं :-

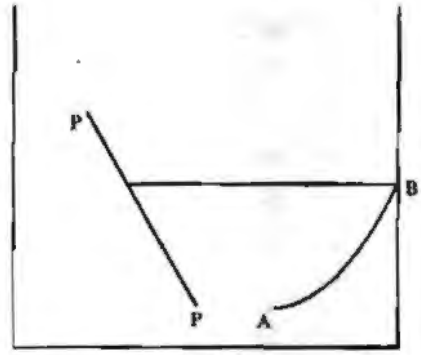

मूल्य स्तर व रोजगार

चित्र 13.2

(i) **साधनों की असाम्यता** – उत्पत्ति के साधनों में साम्य न होने से माँग बढ़ने पर उनकी पूर्ति बढ़ाने से ह्रास नियम लागू होकर उत्पादन लागत बढ़ जाती है, जिससे स्फीति के लक्षण दृष्टिगोचर होकर मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। उदाहरणार्थ श्रमिकों की कार्यकुशलता का अभाव होने से कम कुशल श्रमिकों के प्रयोग करने से उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार पूँजीगत सामग्री में साम्य के अभाव के कारण वस्तुओं की मूल लागत बढ़ जाती है, पूर्ति मूल्य बढ़ जाता है और उससे मूल्यों में वृद्धि कर दी जाती है।

(ii) **मजदूरी दरों में वृद्धि** – उत्पादन में वृद्धि होने पर श्रमिक अधिक मजदूरी के लिए दबाव डालते हैं जिससे उनके बढ़ते जीवन स्तर की पूर्ति हो सके, परन्तु साहसी उनकी मजदूरी में जीवन स्तर की तुलना में कम ही वृद्धि कर पाते हैं। इस वृद्धि से लागत व्यय बढ़ जाता है तथा मूल्यों में वृद्धि कर दी जाती है।

(iii) **सीमान्त लागत में वृद्धि होना** – अल्पकाल में श्रमिक के अतिरिक्त अन्य चल घटकों के मूल्यों में स्थायित्व बना रहता है तथा उनकी माँग बढ़ जाने से मूल्यों में वृद्धि हो जाना स्वाभाविक हो जाता है, फलस्वरूप सीमान्त लागत में वृद्धि होकर मूल्यों में वृद्धि हो जाती है।

(iv) **साधनों का पूर्णतया बेलोच होना** – उत्पत्ति के कुछ साधनों की पूर्ति सीमित होने से माँग बढ़ने पर उनकी पूर्ति में वृद्धि करना सम्भव नहीं हो पाता और अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। दीर्घकाल में यह कठिनाइयाँ साधनों की पूर्ति बढ़ाकर दूर की जा सकती हैं, परन्तु अल्पकाल में कुछ साधनों की पूर्ति की लोच लगभग शून्य होने के कारण माँग बढ़ जाने पर उनके मूल्यों में भी वृद्धि हो जाती है।

(v) **विविध साधन स्रोत** – प्रभावशाली माँग को कई भागों या साधनों में विभाजित किया जा सकता है तथा समाज के उपभोग व बचत तथा तरल सम्पत्ति व अतरल सम्पत्ति के चुनाव पर माँग की रचना निर्भर करती है। बढ़ी हुई मुद्रा पूर्णतया उत्पादन या लागत पर व्यय नहीं होती जिससे मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से प्रभावशाली माँग में वृद्धि हो जाती है, जिससे सामान्य मूल्य स्तर में भी वृद्धि हो जाती है। यदि आय का भाग सट्टे की ओर प्रवाहित हो जाये तो अंश बाजार में मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तथा नवीन उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती।

(2) पूर्ण रोजगार की अवस्था

(Full Employment Stage) –

मुद्रा की मात्रा में क्रमिक वृद्धि होने से उत्पादन एवं रोजगार में तेजी से वृद्धि होती है और अन्त में अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति में आ जाती है। इस अवस्था पर नवीन मुद्रा माँग में वृद्धि नहीं कर पाती और उत्पादन का क्रम रुक जाता है और मूल्यों में तीव्रता से वृद्धि होने लगती है।

(3) सम्पूर्ण रोजगार के बाद की अवस्था (Post-Full Employment Stage) –

मुद्रा स्फीति के तीव्रता से बढ़ने पर पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती है और नवीन मुद्रा, मूल्यों में वृद्धि उत्पन्न करती है व उत्पादन लगभग रुक सा जाता है। उत्पादन की तुलना में मुद्रा की मात्रा में

तेजी से वृद्धि होने से जनता का देश की मुद्रा व्यवस्था से विश्वास समाप्त हो जाता है और सरकार को पुरानी मुद्रा व्यवस्था को समाप्त करके नवीन मुद्रा का चलन करना पड़ता है।

मुद्रा-स्फीति की अवस्थाओं को क्रमशः रेंगती हुई स्फीति, चलती हुई स्फीति एवं दौड़ती हुई स्फीति भी कहा जा सकता है। इसे चित्र 13.3 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

मुद्रा-स्फीति की अवस्थाओं को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है–

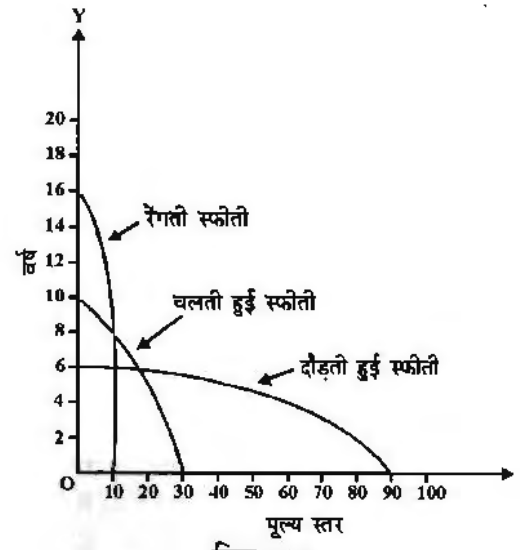

चित्र 13.3

मुद्रा-स्फीति की अवस्थाएँ

- पूर्ण रोजगार से पूर्व अवस्था
- पूर्ण रोजगार की अवस्था
- सम्पूर्ण रोजगार के बाद की अवस्था

एक अन्य विश्लेषण के आधार पर यह अवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :-

मुद्रा-स्फीति की अवस्थाएँ

- रेंगती हुई स्फीति
- चलती हुई स्फीति
- दौड़ती हुई स्फीति

मुद्रा-स्फीति एवं आर्थिक विकास
(Inflation and Economic Growth)

विकासशील राष्ट्रों में सरकार द्वारा ऐसी नीति का पालन किया जाता है जिससे देश की आर्थिक प्रगति सम्भव हो सके। अविकसित राष्ट्रों में प्रायः पूँजी का अभाव बना रहता है, जिससे मुद्रा- स्फीति द्वारा उस कमी को दूर करने के प्रयास किये जाते हैं। इसी प्रकार देश के उत्पादन का ढाँचा पिछड़ा होने से मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती, फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कर एवं ऋण वित्तीय व्यवस्था को पूर्ण करने में असमर्थ रहते हैं, जिससे मुद्रा-स्फीति का सहारा लिया जाता है। इस प्रकार अविकसित देशों में आर्थिक प्रगति के साथ मुद्रा प्रसार की व्यवस्था भी बनी रहती है।

पक्ष में तर्क – मुद्रा-स्फीति द्वारा आर्थिक विकास में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं–

(1) **माँग में वृद्धि** – मुद्रा-स्फीति में जनता की आय में वृद्धि होने से माँग में वृद्धि हो जाती है और उत्पादन को प्रोत्साहित करने का अवसर प्राप्त होता है।

(2) **विकास को प्रोत्साहन** – जिस देश में पर्याप्त प्राकृतिक साधन हों उन्हें स्वदेशी साधनों से ही अधिकतम कार्य करने के प्रयास करने चाहिए, क्योंकि विदेशी सहायता के साथ राजनैतिक स्वार्थ जुड़े रहते हैं।

(3) **विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन** – मुद्रा-स्फीति काल में अधिक लाभ होने के कारण विदेशी पूँजी के आगमन को प्रोत्साहन मिलता है तथा देश के आर्थिक विकास को सहायता प्राप्त होती है।

(4) **विनियोग में वृद्धि** – मुद्रा-स्फीति काल में जनता को अधिक मात्रा में पूँजी के विनियोजन के अवसर प्राप्त होते हैं, फलस्वरूप नवीन उद्योगों की स्थापना होती है तथा व्यवसाय व रोजगार में अपार वृद्धि होती है।

विपक्ष में तर्क – मुद्रा-स्फीति के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं–

(1) **विपक्ष भुगतान सन्तुलन** – स्फीति से निर्यात कम हो जाते हैं तथा मुद्रा की विनिमय दर गिर जाती है। पूँजीपति अपनी पूँजी को चोरी- छिपे विदेशों में जमा करने लगते हैं जिससे भुगतान सन्तुलन विपक्ष में हो जाता है।

(2) **आर्थिक संकट** – मुद्रा-स्फीति से देश में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है र ा देश में चोर बाजारी, कृत्रिम अभाव तथा घूसखोरी जैसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अधिक लाभ पाने की लालसा से व्यापारी उत्पादन करने लगते हैं, जिससे मूल्यों में कमी हो जाती है जिससे हानि की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं तथा देश में मन्दी का वातावरण फैल जाता है।

(3) **विनियोग हतोत्साहित होना** – निरन्तर बढ़ते हुए मूल्यों के कारण नवीन विनियोग हतोत्साहित होता है, क्योंकि प्रतिफल मिलने में काफी समय लग जाता है और पूँजी विनियोजन का आकर्षण भी प्राय: समाप्त हो जाता है। स्फीति काल में वास्तविक निजी पूँजी लगाने की प्रवृत्ति प्राय: कम होती है।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव
(Effects of Inflation)

मुद्रा प्रसार से कुल उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि रुक जाती है तथा समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रभाव पड़ते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न रूप से इसका असर पड़ता है। स्फीति का मुख्य प्रभाव यह पड़ता है कि लोग भविष्य में बचत नहीं कर पाते और उनका उत्साह भी कम हो जाता है। "प्राय: मुद्रा प्रसार का निम्न एवं स्थिर आय वर्ग पर बुरा प्रभाव पड़ता है, जबकि ऊँचे एवं गतिशील आय वर्ग पर ऐसा नहीं होता।"

मुद्रा प्रसार के आर्थिक, नैतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभाव निम्नलिखित हैं :-

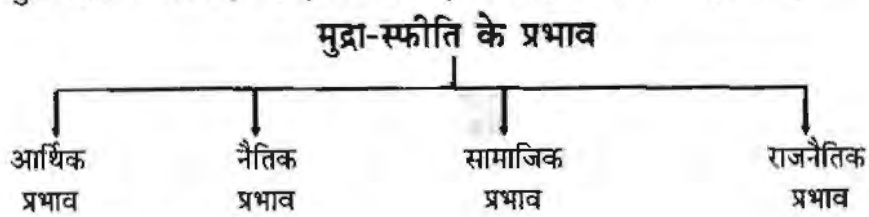

(I) आर्थिक प्रभाव (Economic Effects)

स्फीति के आर्थिक प्रभाव में निम्न को सम्मिलित किया जाता है–

(1) **उत्पादक व व्यापारी वर्ग** – मुद्रा प्रसार से उत्पादक एवं व्यापारी वर्ग को काफी लाभ होते हैं और इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

(i) **कम मजदूरी** – उत्पादकों को बिक्री के रूप में अधिक धन प्राप्त हो जाने से मजदूरी के रूप में कम धन देना पड़ता है जिससे उन्हें लाभ प्राप्त होता है।

(ii) **चोर बाजारी का अवसर** – व्यापारी वर्ग को स्फीति काल में चोर बाजारी एवं भ्रष्टाचार का अवसर प्राप्त होता है।

(iii) **ऊँचे मूल्य** – जनता के पास अधिक मात्रा में क्रय शक्ति बढ़ जाने से वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है, जबकि पूर्ति में यकायक वृद्धि सम्भव न होने से ऊँचे मूल्यों पर वस्तुएँ बेची जाती हैं जिससे उत्पादकों को लाभ प्राप्त होते हैं।

(iv) **सस्ती वस्तुएँ प्राप्त होना** – कच्ची सामग्री एवं मशीनें सस्ते मूल्यों पर प्राप्त करके तेजी के समय निर्मित माल को ऊँचे मूल्य पर बेचकर लाभ अर्जित किये जाते हैं।

(2) **उपभोक्ता वर्ग** – यदि उपभोक्ता की आय स्फीति के कारण बढ़ जाती है तो उस पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु उपभोक्ता का एक बड़ा वर्ग ऐसा होता है जिसकी आय प्राय: स्थिर होती है। इनकी आय की तुलना में निरन्तर वृद्धि होने से कुछ वस्तुओं का उपभोग स्थगित करना पड़ता है तथा कम वस्तुएँ ही प्राप्त हो पाती हैं।

(3) **ऋणी एवं ऋणदाता** – मुद्रा प्रसार काल में ऋणी को लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि वह थोड़ी मात्रा में ही वस्तुओं को बेचकर अपना ऋण एवं ब्याज चुका सकता है, परन्तु इस काल में ऋणदाता या विनियोक्ता को हानि सहन करनी पड़ती है क्योंकि अब उसे अधिक वस्तुयें देकर उतना ही ऋण प्राप्त हो सकेगा और उसे हानि का सामना करना पड़ेगा।

(4) **श्रमिक वर्ग** – स्फीति काल में श्रमिक वर्ग पर अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। (i) उत्पादन में वृद्धि होने से श्रमिकों को रोजगार मिलने में सुविधा हो जाती है। (ii) श्रमिकों में संगठन स्थापित होकर वे अपनी मजदूरी को जीवन स्तर तक लाने व उसमें वृद्धि करने के प्रयास करते हैं। मतभेद होने पर हड़ताल करते हैं जिसमें औद्योगिक शान्ति को भय उत्पन्न हो जाता है। (iii) श्रमिकों की माँग बढ़ने पर उनकी सौदा या व्यवहार करने की क्रय शक्ति में वृद्धि हो जाती है और श्रमिक अधिक मजदूरी प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

(5) **विनियोक्ता वर्ग** – निश्चित आय वाले विनियोगकर्ताओं को हानि का सामना करना पड़ता है, क्योंकि इन्हें निश्चित मात्रा में लाभांश प्राप्त होता है। एक ओर विनियोगों का मूल्य बढ़ जाता है और वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने पर भी मौद्रिक आय में कोई भी वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती। इससे इनकी वास्तविक आय में कमी हो जाती है। परिवर्तनशील आय वाले विनियोक्ताओं की आय व्यापार की आय पर निर्भर करती है तथा इन्हें कोई भी हानि सहन नहीं करनी पड़ती।

(6) **ऋणों में वृद्धि** – सरकार प्राय: घाटे के बजट बनाती है और उस घाटे को पूर्ण करने के सम्बन्ध में सरकारी एवं व्यापारी वर्ग तीव्रता से ऋण प्राप्त करते हैं तथा उत्पादन में वृद्धि करने के प्रयास करते हैं।

(7) **बचत की कम प्रवृत्ति** – साधारण वर्ग की जनता को बचाये गये धन का मूल्य कम प्राप्त होता है जिससे जनता में भविष्य में बचत करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है तथा धन का संचय रुक जाता है। जनता अपने उपभोगों को कम करके, सुख त्याग कर धन बचत करते हैं, परन्तु उन्हें उसका लाभ प्राप्त नहीं हो पाता।

(8) **असमान वितरण** – मुद्रा प्रसार से देश में धन व सम्पत्ति के असमान वितरण को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे गरीब अधिक गरीब तथा अमीर और अमीर हो जाते हैं।

(9) **निर्यात में कमी** – मुद्रा प्रसार से देश में कीमतें बढ़ जाने से निर्यात कम हो जाते हैं तथा विदेशी माल सस्ता होने से आयात में वृद्धि हो जाती है व व्यापारिक सन्तुलन विपक्ष में हो जाता है।

(10) **नियंत्रित प्रणाली** – प्रसार के कारण मूल्यों में वृद्धि एवं सट्टे कार्यों में बढ़ोत्तरी होती है, जिससे सरकार को नियन्त्रित प्रणाली का प्रयोग करके राशनिंग व नियन्त्रण का सहारा लेना पड़ता है।

(11) **सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि** – प्रसार के समय मूल्य स्तर एवं मजदूरी में वृद्धि के कारण सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि हो जाती है, जिसे पूरा करने के उद्देश्य से कर की मात्रा में वृद्धि की जाती है। मुद्रा प्रसार के कारण सरकार के सम्मुख मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रखने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में आन्तरिक व्यापार में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं तथा मुद्रा अपने प्रमुख कार्यों कोष का आधार एवं भावी भुगतानों के माध्यम को भी सम्पन्न करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। स्फीति की निरन्तर स्थिति बने रहने के कारण सरकारी प्रतिभूतियों एवं सरकारी ऋणपत्रों के मूल्यों में भी भारी कमी आ जाती है, जिससे सरकार की साख पर बुरा प्रभाव पड़ता है व राजनैतिक स्थिरता को सदैव खतरा बना रहता है।

(12) **कृषक वर्ग** – मुद्रा-स्फीति से कृषक वर्ग को लाभ प्राप्त होते हैं, परन्तु कृषकों को उद्योगपतियों एवं व्यापारियों की तुलना में कम लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि निर्मित पदार्थों की तुलना में कच्ची सामग्री के मूल्यों में अपेक्षाकृत कम वृद्धि होती है। इस प्रकार "मुद्रा-स्फीति के समय प्राय: कृषकों को लाभ, कृषि पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि होने से ही प्राप्त न होकर, उनके द्वारा भुगतान किये गये लागत व मूल्य (ब्याज एवं कर सहित) की अपेक्षा प्राप्त मूल्य की राशि से कम होने से प्राप्त होते हैं।"

(II) नैतिक प्रभाव

मुद्रा प्रसार के प्रमुख नैतिक प्रभाव निम्नलिखित हैं–

(1) **अनैतिकता में वृद्धि** – मुद्रा-स्फीति काल में निश्चित आय वाले व्यक्तियों को घटिया किस्म की वस्तुयें प्राप्त होती हैं तथा उन्हें मिलने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(2) **भ्रष्टाचार में वृद्धि** – मुद्रा प्रसार के समय समाज में भ्रष्टाचार में वृद्धि सम्भव हो जाती है तथा कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है।

(3) **नैतिक स्तर में कमी** – मुद्रा प्रसार के समय जनता का नैतिक स्तर काफी गिर जाता है तथा चोरी व डकैतियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है।

(4) **सट्टेबाजी को प्रोत्साहन** – स्फीति के समय सट्टेबाजी की क्रियाओं में अपार वृद्धि हो जाती है तथा प्रत्येक व्यक्ति सट्टे की प्रवृत्ति की ओर ही आकर्षित होने लगता है।

(5) **चोर बाजारी** – तेजी के कारण व्यापारीगण वस्तुओं का संग्रह करके चोर बाजारी को प्रोत्साहित करते हैं।

(III) सामाजिक प्रभाव

मुद्रा-स्फीति के प्रमुख सामाजिक प्रभाव अग्रलिखित हैं–

(1) **आर्थिक विषमता** – स्फीति काल में लाभ में वृद्धि का अधिकांश भाग प्राय: धनिकों को प्राप्त होने से आर्थिक विषमता में निरन्तर वृद्धि होती है जिससे समाज में असन्तोष की भावना बढ़ती है।

(2) **संग्रह प्रवृत्ति** – मुद्रा व्यवस्था में विश्वास उठ जाने से जनता धीरे-धीरे वस्तुओं का संग्रह करने लगती है जिससे समाज में वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो जाता है।

(3) **संचय में कमी** – भविष्य में मुद्रा की क्रय शक्ति के कम हो जाने के कारण जनता में धन संचय करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है और वह वस्तुओं पर ही उसे व्यय करने लगते हैं।

(4) **ऊँचा जीवन स्तर** – व्यावसायिक विकास एवं रोजगार में वृद्धि के फलस्वरूप आय में वृद्धि होने से जनता का जीवन स्तर पहले से ऊँचा हो जाता है।

(5) **बेरोजगारी में कमी** – स्फीति काल में अनेक नवीन उद्योग स्थापित हो जाते हैं जिससे बेरोजगारी में कमी हो जाती है तथा बेरोजगारी की समस्या का एक सीमा तक समाधान सम्भव हो जाता है।

(6) **बैंकिंग सुविधाओं में वृद्धि** – स्फीति में मुद्रा के रूप में जनता की आय बढ़ जाने से बैंकों में अधिक धन जमा किया जाता है जिससे बैंकों व बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार होने लगता है, परिणामस्वरूप बैंकों की शाखाएँ, जमा राशि एवं साख मुद्रा में वृद्धि हो जाती है।

(IV) राजनैतिक प्रभाव

मुद्रा-स्फीति के प्रमुख राजनीतिक प्रभाव निम्नलिखित हैं–

(1) **सम्पन्नता में वृद्धि** – स्फीति काल में नवीन कारखाने प्रारम्भ किये जाते हैं जिससे नवीन व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होता है, जनता की आय में वृद्धि होकर सम्पन्नता में वृद्धि होती है।

(2) **करों में वृद्धि** – स्फीति काल में सरकार अतिरिक्त मुद्रा के चलन से निकालने के लिए करों की मात्रा में वृद्धि करती है जिससे उद्योगपतियों द्वारा विरोध का वातावरण उत्पन्न किया जाता है।

NOTES

(26) **राजनैतिक अस्थिरता** – महँगाई के विरुद्ध आवाज उठाई जाती है, वेतन वृद्धि की माँग के लिए हड़तालें व तालाबन्दी की जाती है, जिससे राजनैतिक अस्थिरता एवं अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

मुद्रा-स्फीति के उपचार
(Remedies of Inflation)

"यदि वास्तव में मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो गई है, तो राष्ट्रीय बचत को संतुलित किये बिना उसको ठीक करना कठिन होता है। इसे आय से ही संतुलित करना चाहिए, क्योंकि ऋण प्राप्त करना कठिन होगा, भारी करारोपण एवं व्यय में मितव्ययिता ही सुरक्षा के उपाय माने जाते हैं।" मुद्रा-स्फीति को रोकने के प्रमुख उपायों में से मौद्रिक व्ययों को कम करना सम्मिलित किया जाता है। मुद्रा-स्फीति के उपचार के लिए चार प्रकार के उपाय (जिन्हें सम्मुख पृष्ठ पर दिये चार्ट द्वारा भी समझाया गया है) किये जा सकते हैं, जो कि निम्नलिखित हैं–

(1) अमौद्रिक उपाय।
(2) प्राशुल्किक उपाय।
(3) मौद्रिक उपाय।
(4) अन्य उपाय।

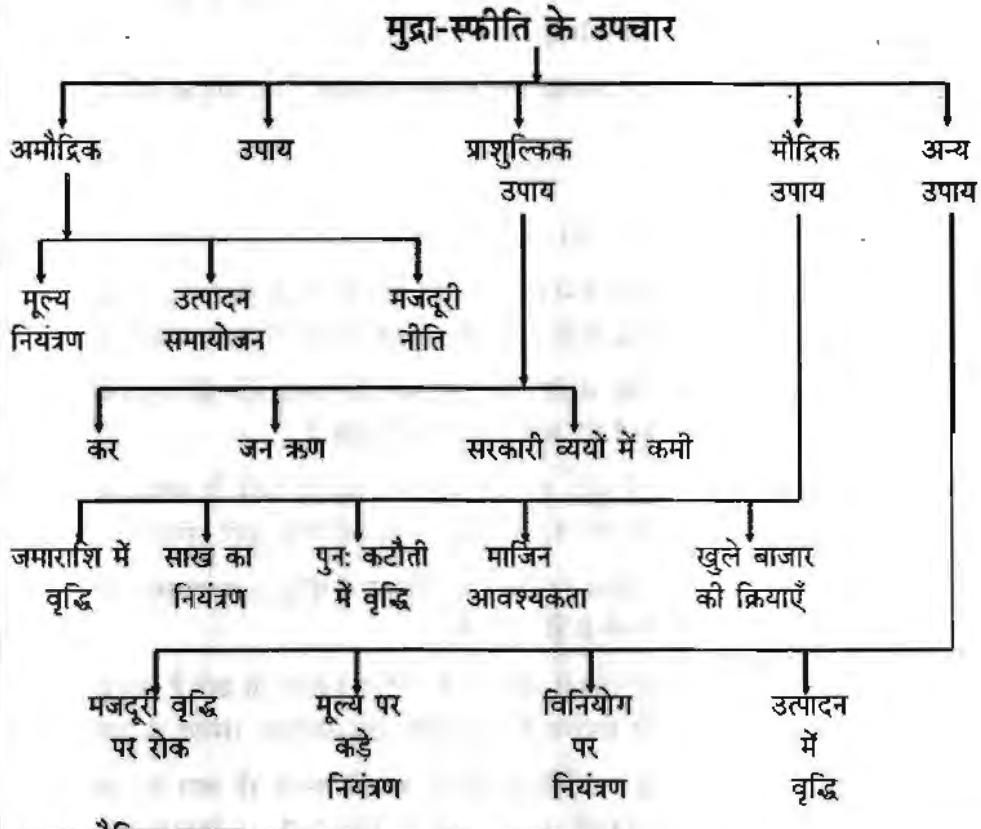

(1) **अमौद्रिक उपाय** (Non-Monetary Measures) –

मुद्रा- स्फीति को रोकने के लिए अमौद्रिक उपायों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है–

(a) **मूल्य नियंत्रण एवं राशनिंग व्यवस्था** (Price Control and Rationing Arrangement) – विश्व के अनेक राष्ट्रों ने मूल्य नियंत्रण एवं राशनिंग व्यवस्था द्वारा मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के प्रयास किये। मूल्य नियन्त्रण का प्रमुख कार्य देश में एक ऊपर सीमा का निर्धारण करना है जिसके आगे एक विशेष वस्तु के मूल्य नहीं बढ़ पाते, परन्तु इस नीति द्वारा क्रय शक्ति एवं उत्पादन में साम्य स्थापित करना कठिन हो जाता है। मूल्य नियन्त्रण से उपभोग के दबाव तथा वस्तुओं की कमी अनुभव होने लगती है जिसका वितरण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः **कीन्स** का सुझाव था कि करारोपण द्वारा क्रय शक्ति में कमी कर दी जाये तथा बचत को प्रोत्साहित करके उपभोक्ताओं को स्वतन्त्रता प्रदान की जाये।

राशनिंग का प्रमुख कार्य उन वस्तुओं के उपभोग को हस्तान्तरण करना है जिनकी पूर्ति सीमित है। राशनिंग के अभाव में सीमित वस्तुओं के मूल्यों में अपार वृद्धि हो जाती है और उन्हें साधारण उपभोक्ता सरलता से प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। राशनिंग द्वारा मूल्यों पर नियन्त्रण करके न्यायोचित ढंग से वितरण व्यवस्था की जाती है।

(b) **उत्पादन समायोजन करना** (Adjustment of Production) – स्फीति के उपचार के लिए उत्पादन में वृद्धि एक प्रभावकारी उपाय हो सकता है। देश में प्राथमिकता के आधार पर विशेष वस्तुओं (जैसे कपड़ा, खाद्यान्न, मकान आदि) में उत्पादन में वृद्धि करना चाहिए। अत: अल्पकाल में पूर्ति की कमी वाली वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने के प्रयास किये जाने चाहिए, विशेषकर उन वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक ध्यान देना चाहिए जिनके मूल्यों में परिवर्तन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकते हों। हड़तालें एवं अन्य रुकावटें उत्पादन वृद्धि में कठिनाइयाँ उपस्थित कर सकती हैं। अत: श्रमिक व प्रबन्ध के अच्छे सम्बन्ध बने रहने आवश्यक हैं जिससे उत्पादन में वृद्धि की जा सके। स्फीति काल में विलासिता एवं गैर-आवश्यक वस्तुओं का निर्यात करके उसके बदले में आवश्यक वस्तुओं को ही प्राप्त करना चाहिए। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से घरेलू कमी एवं आयात में वृद्धि को रोकने के लिए मुद्राकोष से धन उधार लिया जा सकता है तथा भुगतान सन्तुलन को ठीक किया जा सकता है।

(c) **मजदूरी नीति** (Wages Policy) – युद्धकालीन मुद्रा प्रसार के समय युद्ध की लागत को कम करने एवं देशभक्ति के लिए श्रमिकों से सरकार के साथ सहयोग करने की अपेक्षा करते हुए उनकी मजदूरी दरों पर नियंत्रण रखा जाता है, परन्तु यह व्यवस्था शान्तिकाल में नहीं अपनायी जाती। मुद्रा- स्फीति के समय मजदूरी एवं अन्य लागतों को स्वतंत्र नहीं छोड़ा जाता है। विकसित राष्ट्रों में मजदूरी स्तरों को बनाये रखने के लिए उसे सामान्य लागत ढाँचे से भिन्न रखना होगा। देश में श्रम संघ उचित मजदूरी नीति का पालन कर सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सामान्य उत्पादकता के अनुरूप मजदूरी दरों में वृद्धि की जाये। इस नीति से मूल्यों में वृद्धि नहीं हो पाती। परन्तु एकाधिकारिक स्थिति में उत्पादन एवं मौद्रिक मजदूरी में साम्य स्थापित करना कठिन हो जाता है। प्राय: यह कहा जाता है कि उत्पादकता में वृद्धि होने से मजदूरी में वृद्धि हो जाती है, परन्तु यह व्यवस्था पूर्ण प्रतियोगिता एवं दीर्घकाल में ही लागू होती है। जीवन स्तर में वृद्धि होने पर मजदूरी की दरों में भी वृद्धि होना आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से सरकार सदैव मूल्यों को बढ़ने से रोकती है। श्रमिक संघों द्वारा लागत में वृद्धि के आधार पर ही मजदूरी में वृद्धि सम्भव की जा सकती है।

(2) **प्राशुल्किक उपाय** (Fiscal Measure) –

देश के आर्थिक स्थायित्व के लिए प्रशुल्क नीति को ही एक शक्तिशाली साधन माना जाता है। प्राशुल्किक उपाय में उन समस्त उपायों को सम्मिलित किया जा सकता है जो सरकार के प्रशासनिक विभाग से सम्बन्धित होते हैं। प्रशुल्क उपायों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है–

(a) **कर** (Taxes) – करों के आधार पर जनता के हितार्थ धन व्यय किया जाता है तथा उसी के अनुरूप स्फीति का सहारा लिया जाता है। करों की प्राप्ति पर देश का बजट सन्तुलित ढंग से रखा जा सकता है। स्फीति के समय अधिक कर लगाकर मौद्रिक आय को कम करने के प्रयास करने चाहिए, परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाये कि देश की आर्थिक क्रियाओं पर बुरा प्रभाव न पड़े। करारोपण इस ढंग से किया जाना चाहिए कि वर्तमान आय स्तर में कमी हो जाये तथा व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की आय में कमी करके माँग मे कमी होनी चाहिए और इसके लिए आयकर ही उपयुक्त कर माना जाता है। जो उपभोग कम करने में सहायक सिद्ध होता है। देश में आयात किये जाने वाली आवश्यक वस्तुओं पर आयात कर कम कर देना चाहिए जिससे अल्पकाल में घरेलू स्फीतिक स्थिति को नियन्त्रित किया जा सके। सरकार द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे बजट का घाटा पूर्ण हो सके तथा सब विभागों से मितव्ययिता की व्यवस्था की जाये। देश में नवीन मदों पर भी कर लगाये जायें तथा कर नीति में कठोरता का पालन किया जाना चाहिए। करों द्वारा बजट का घाटा पूर्ण होने से सरकार को नवीन मुद्रा का सृजन करने की आवश्यकता नहीं होगी।

NOTES

(b) **जन-ऋण** (Public Debt) – स्फीतिक काल में सरकार द्वारा ऋणपत्र प्रकाशित करके जनता को उन्हें खरीदने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। जन-ऋण नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि विद्यमान क्रयशक्ति को प्राप्त किया जा सके। सरकार द्वारा आकर्षित व कम राशि के ऋण पत्र निर्गमित किये जाने चाहिए जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति उसे क्रय कर सके। जन-ऋणों में निम्नलिखित को सम्मिलित कर सकते हैं–

(i) **बचत** (Savings) – अनिवार्य बचत योजना जन-ऋण प्राप्त करने का एक प्रभावशाली ढंग है। इस योजना के अन्तर्गत उपभोक्ता को अपनी आय का एक भाग बचत बॉण्ड या ऋणपत्रों को क्रय करने में व्यय करना अनिवार्य हो जाता है, जिनका भुगतान एक निश्चित अवधि बाद कर दिया जाता है। इससे सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी की प्राप्ति हो जाती है, जिसे आवश्यक वस्तुओं के क्रय करने में व्यय किया जा सकता है। अनिवार्य बचत योजना का प्रमुख उद्देश्य जनता (विशेषकर सटोरियों) के हाथों में मुद्रा की पूर्ति को कम करना होता है। यह नीति स्फीतिक परिस्थितियों में अधिक लाभकारी सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त स्वैच्छिक बचत को भी प्रोत्साहित करना चाहिए और इसके लिए आकर्षण इनामी बॉण्ड या अन्य इसी प्रकार के ऋणपत्रों का निर्गमन किया जा सकता है।

(ii) **स्वर्ण पर प्रतिबन्ध** (Restriction on Gold) – स्फीतिक परिस्थितियों में स्वर्ण के भण्डारों पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं तथा बैंकों को अधिक मात्रा में स्वर्ण कोष रखने के आदेश दिये जा सकते हैं। स्वर्ण कोष की मात्रा बढ़ने से बैंक की साख देने की क्षमता में कमी हो जाती है तथा साख का विस्तार सीमित मात्रा में ही सम्भव हो पाता है, फलस्वरूप उपभोक्ता का त्याग करना पड़ता है तथा स्फीति पर नियंत्रण रखा जा सकता है। यह नीति संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे राष्ट्र में अधिक सफल हो पाती है, जहाँ मुद्रामान स्वर्ण पर आधारित हो।

(iii) **अधिमूल्यन** (Overvaluation) – देश में स्फीति को नियंत्रित करने के लिए अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन किया जा सकता है। मुद्रा का अधिमूल्यन निम्न कारणों से स्फीति को रोकने में सहायक सिद्ध होता है–

इससे आयात में वृद्धि होगी तथा आयात व्यय बढ़ेंगे।

विदेशी आयात सस्ते होने से उत्पादन लागत में कमी हो जायेगी तथा मूल्यों में वृद्धि सम्भव न हो सकेगी।

निर्यातों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा तथा घरेलू मौद्रिक आय में कमी हो जायेगी।

यदि अन्य राष्ट्रों में भी स्फीतिक परिस्थितियाँ हों तो यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन कर दिया जाये। ऐसा करने से आयात की कीमतों में कमी हो जायेगी, परन्तु इससे देश के भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के कारण इस नीति को दीर्घकाल तक अपनाया जाना सम्भव नहीं हो पाता।

(iv) **ऋण प्रबन्ध** (Debt Management) – अदत्त ऋणों का प्रबन्ध इस प्रकार से किया जा सकता है कि आगे साख का विस्तार या मुद्रा की पूर्ति को रोका जा सके। ऋणों का भुगतान करने के लिए प्रायः आधिक्य बजट बनाये जाते हैं जिससे व्यापारिक बैंक उन प्रतिभूतियों के आधार पर और अधिक मात्रा में साख का विस्तार न कर सकें। ऋणों का भुगतान बजट आधिक्य से अथवा बैंकों द्वारा लिये गये ऋणपत्रों की गैर-बैंकिंग संस्थाओं को बेचकर किया जा सकता है। परन्तु इनका उपयोग सीमित मात्रा में ही सम्भव हो सकता है।

(c) **सरकारी व्यय में कमी करना** (Decrease in Governmnet Spending) – मुद्रा- स्फीति के काल में सरकार अपने व्ययों में कमी करती है तथा अपनी आय के साधनों को बढ़ाकर स्फीति को रोकने के प्रयास करती है। सरकार के सम्मुख करों में वृद्धि करना कोई समस्या न होकर व्ययों में कमी करना है। इसके अतिरिक्त अल्पकालीन मुद्रा स्फीतिक उद्देश्य, दीर्घकालीन सार्वजनिक विनियोग के कारण असन्तुलित हो जाते हैं। सार्वजनिक व्ययों के सम्बन्ध में स्फीतिक मुद्रा- स्फीतिक प्रभावों को रोकने के सम्बन्ध में मुख्य बाधा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की स्थिति व भय से उपस्थित होती है जो सुरक्षात्मक कार्यवाहियों के लिए राष्ट्रीय बजट के विस्तार को प्रोत्साहित करती है। सुरक्षा की दृष्टि से सरकारी व्यय में वृद्धि करना आवश्यक होता है, परन्तु अल्पकाल में स्फीतिक परिस्थितियों को दूर करने की दृष्टि से सरकार व्ययों में कमी कर सकती है। सरकारी व्ययों में कमी करना ही स्फीति पर नियंत्रण करने के लिए पर्याप्त

नहीं है, बल्कि जनता से कर एवं-ऋण के रूप में मौद्रिक आय को प्राप्त करना भी आवश्यक माना गया है। कुल आय (Y) का उपभोग (C) तथा विनियोग (I) के योग के बराबर माना गया है। अपस्फीति को रोकने हेतु सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि तथा स्फीति को रोकने के लिए सार्वजनिक व्यय में कमी की जानी चाहिए। अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय का G द्वारा व्यक्त करने पर कुल बढ़ा हुआ व्यय C+I+G होगा व सार्वजनिक व्यय कम करने पर कुल व्यय C+I-G होगा। यदि कुल व्यय C+I के स्थान पर C+I+G कर दिया जाये तो आय में वृद्धि होगी और यदि कुल व्यय C+I से घटाकर C+I-G कर दिया जाये तो आय में कमी होगी जैसा कि चित्र 13.4 में दिखाया गया है। कुल व्यय C+I होने पर सन्तुलन बिन्दु P व राष्ट्रीय आय OM है। सार्वजनिक व्यय बढ़ाने पर कुल व्यय C+I+G होने से सन्तुलन बिन्दु P_1 व आय OM_1 होगी। सार्वजनिक व्यय कम करने से कुल व्यय C+I-G होने से सन्तुलन बिन्दु P_2 व आय कम होकर OM_2 होगी।

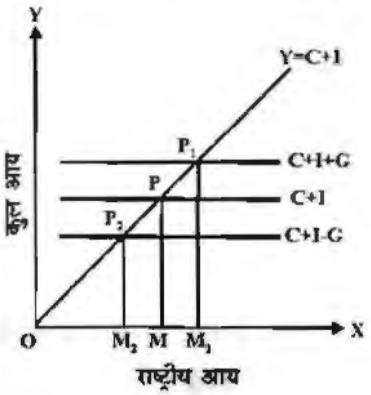

चित्र 13.4

(3) **मौद्रिक उपाय** (Monetary Measures)

मुद्रा-स्फीति को नियंत्रण करने में प्रमुख मौद्रिक उपायों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है –

(i) **जमाराशि में वृद्धि करना** (Increase in Deposits) – स्फीति काल में रिज़र्व बैंक व्यापारिक बैंकों द्वारा रखे जाने वाले जमा राशियों की मात्रा में वृद्धि करके बैंकों के साख विस्तार पर प्रतिबन्ध लगाता है। ऐसा करने से बैंकों के पास उधार देने एवं विनियोग के लिए कम मात्रा में धन शेष रहता है।

सीमायें – इस नीति के पालन करने में निम्न सीमायें रहती हैं–

(a) यदि बैंकों के पास रिज़र्व फण्ड पर्याप्त मात्रा में हो तो वह साख का विस्तार सुविधापूर्वक कर सकते हैं और जमा राशि में वृद्धि करने का उनके साख विस्तार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकेगा।

(b) यदि सरकार द्वारा ब्याज की दर कम रखी जाती है तो बैंक जमा राशि में धन जमा करना स्वीकार न करके अपने पास ही रखना अधिक पसन्द करेंगे।

(c) यदि सदस्य बैंकों के पास अधिक मात्रा में रिज़र्व हों तो आधारभूत कानूनी आवश्यकतायें परिवर्तित करनी होंगी, जिसमें कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(d) निर्यात में वृद्धि होने से बैंकों को पर्याप्त मात्रा में धन की व्यवस्था करनी होती है, जिससे जमाराशि में वृद्धि करने के प्रयास असफल सिद्ध हो जाते हैं।

(ii) **उपभोक्ता साख का नियंत्रण करना** (Regulating Consumer's Credit) – उपभोक्ता साख का नियंत्रण करके स्फीति को नियंत्रित किया जा सकता है। उपभोक्ता साख का नियमन इस बात पर निर्भर करता है कि स्थायी वस्तुओं के लिए उपभोक्ता की मौद्रिक माँग पूर्णतया स्थिर रहे तथा सामान्य मूल्य वितरण में उसका सामरिक महत्व हो तथा वह रोजगार एवं उत्पादन को प्रभावित करता हो, जो राष्ट्र स्थायी वस्तुओं में जितना अधिक धनी होगा, उतनी ही अस्थिर उसकी अर्थव्यवस्था होगी। एक राष्ट्र में पूर्ण रोजगार की स्थिति में उपभोक्ता साख के नियमन से (अ) अर्थव्यवस्था की भावी स्थायित्व के लिए साख विस्तार का खतरा न्यूनतम हो जायेगा, (ब) उपभोक्ता सम्बन्धी स्थायी वस्तुओं पर व्यय की मात्रा कम हो जायेगी।

(iii) **पुनः कटौती की दर में वृद्धि करना** (Increasing Rates of Rediscount) – सामान्यतया पुनः कटौती दर में वृद्धि करना इस बात का सूचक है कि सरकार मुद्रा एवं साख नीति का सख्ती से पालन कर रही है जिसके परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंक भी साख कार्यवाहियों को नियंत्रित करने लगते हैं। ऊँची दर पर सदस्य बैंक न्यूनतम मात्रा में ऋण प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार ग्राहक भी कम से कम मात्रा में ऋण प्राप्त करके स्फीतिक दबाव को कम कर देते हैं। बैंक दर भी इस दर के साथ-साथ बढ़ जाती है और समाज में उद्योगों व व्यापार के लिए कम मात्रा में ही धन प्राप्त हो पाता है। यदि व्यापारिक बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त रिज़र्व है तो इस प्रकार के साख नियंत्रण का कोई महत्व नहीं रहता।

NOTES

सीमायें – निम्नलिखित परिस्थितियों से उच्च पुन: कटौती दर भी बेकार सिद्ध हो जाती है–

(a) यदि व्यापारिक बैंकों के पास भारी मात्रा में अल्पकालीन शासकीय प्रतिभूतियाँ हों, तो वह इन प्रतिभूतियों को बेचकर नकद राशि प्राप्त कर सकते हैं और स्फीतिक परिस्थितियों को नियंत्रित करना कठिन हो जायेगा।

(b) यदि शासकीय प्रतिभूति बाजार की सहायता के लिए बढ़े हुए बैंक संचय का उपयोग किया जाये तो स्फीति के प्रभाव को नियंत्रित करना सम्भव नहीं हो सकेगा। सरकार शासकीय प्रतिभूतियों के मूल्य ऊँचे रखेगी क्योंकि इससे कुल ब्याज भार की मात्रा में कमी होगी तथा वित्तीय संस्थाओं के हितों की सुरक्षा होगी, विशेषकर वह संस्थायें जिन्होंने सरकारी बॉण्ड ले रखे हैं।

(c) यदि गैर-बैंकिंग धारी सरकारी प्रतिभूतियों को नकद में परिवर्तित करें तो स्फीतिक नियंत्रण सम्भव नहीं हो पाता है। इन संस्थाओं द्वारा प्रतिभूतियों को नकद में बदलने से मुद्रा की गति में वृद्धि होगी तथा बैंकों द्वारा रखी गई सरकारी प्रतिभूतियों में वृद्धि होगी।

(iv) **मार्जिन आवश्यकता** (Margin Requirements) – मार्जिन आवश्यकता की सहायता से स्फीति को नियंत्रित किया जा सकता है। साख की मात्रा पर नियंत्रण करके सट्टे की साख का नियमन किया जा सकता है। यदि मार्जिन में वृद्धि कर दी जाये तो व्यक्ति को अधिक मात्रा में नकद राशि रखनी होगी अथवा प्रतिभूतियों को क्रय करने के लिए कम मात्रा में साख प्राप्त होगी तथा विनियोग राशि सट्टे के कार्य से हटकर उत्पादक क्रियाओं में प्रवाहित हो जायेगी। ऊँचे मार्जिन से मौद्रिक विस्तार पर नियमन किया जा सकता है। ऊँचे मार्जिन आवश्यकता के लिए आय प्रभाव को नहीं भूलना चाहिए। इससे सट्टे की क्रियाओं पर नियंत्रण लगाकर अर्थव्यवस्था में स्थायित्व लाने में सफल प्रयास किये जा सकते हैं। इसी प्रकार कम्पनियों में जोखिम एवं अनिश्चितताएँ समाप्त होने लगेंगी तथा देश की अर्थव्यवस्था को विकास की ओर ले जाया जा सकेगा।

(v) **खुले बाजार की क्रियाएँ** (Open Market Operations) – जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में साख प्रतिभूतियों को खरीदता है, तो इससे बैंकों की कुल जमा में वृद्धि हो जाती है और उसकी साख विस्तार की क्षमता में वृद्धि होती है। इसके विपरीत जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में साख प्रतिभूतियों को बेचने लगते हैं, तो बैंकों के पास रिज़र्व कम हो जाते हैं, परिणामस्वरूप उनकी उधार देने व विनियोग करने की क्रियायें शिथिल पड़ जाती हैं।

(4) **अन्य उपाय** (Other Measures) –

मुद्रा-स्फीति के उपचार के अन्य उपायों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है–

(i) **मजदूरी वृद्धि पर रोक** (Check on Increase in Wages) – मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए मजदूरी वृद्धि पर रोक की नीति का पालन किया जाता है जिसमें नियोक्ता एवं मजदूर यह समझौता करते हैं कि आगामी 10 या 12 वर्षों तक मजदूरी की दरों में कोई भी वृद्धि नहीं की जायेगी। यदि प्रत्येक मूल्य वृद्धि के साथ-साथ मजदूरी की दरों में भी वृद्धि की जाये तो एक आर्थिक कुचक्र उत्पन्न हो जायेगा, जिससे छुटकारा पाना कठिन हो जायेगा।

(ii) **मूल्यों पर कड़े नियंत्रण** (Strict Control on Price) – स्फीति पर नियंत्रण लगाने के लिए वस्तु-मूल्यों पर कड़े नियंत्रण लगाने चाहिए जिससे उपभोक्ताओं द्वारा कम से कम माल खरीदा जा सके। इस सम्बन्ध में बैंकों को ऋण देने पर कड़े प्रतिबन्ध लगा देने चाहिए, इससे वस्तुओं की माँग कम होकर स्फीति पर नियंत्रण लगाया जा सकेगा तथा उपभोक्तागण भी न्यूनतम मात्रा में वस्तुएँ प्राप्त कर सकेंगे।

(iii) **विनियोग पर नियंत्रण** (Control on Investment) – विनियोग की मात्रा बढ़ने पर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, परन्तु उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि न होने से मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अत: स्फीति को नियंत्रित करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार द्वारा नवीन विनियोजन पर कड़े नियंत्रण लगाये जायें।

(iv) **उत्पादन में वृद्धि** (Increase in Production)– यदि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि कर दी जाये तो पूर्ति में वृद्धि हो जाने से मूल्यों में वृद्धि पर रोक लग जाती है और स्फीति पर नियंत्रण किया जा सकता है।

भारत में मुद्रा प्रसार
(Inflation in India)

युद्ध की समाप्ति के पश्चात देश में आर्थिक व राजनीतिक स्थिरता रही। 1951 से देश का आर्थिक विकास पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर किया गया जिससे मुद्रा की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होती गई।

रुपये का मूल्य 1949 की तुलना में घटकर आज 38 पैसे रह गया है और रुपये का मूल्य निरन्तर घट ही रहा है जिसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है–

रुपये की क्रय-शक्ति

वर्ष	रुपये का आन्तरिक मूल्य	वर्ष	रुपये का आन्तरिक मूल्य
1950-51	98	1965-66	0.59
1955-56	1.04	1970-71	0.44
1960-61	0.80	1972-73	0.38
	0.90	1999-2000	0.10
		2000-01	0.12
		2001-2002	0.11

मुद्रा-स्फीति के कारण

योजनाकाल में मुद्रा-स्फीति होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे–

(1) **वित्तीय क्रियाओं का विस्तार** – नियोजित विकास योजनाओं के द्वारा सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में व्ययों में निरन्तर वृद्धि होती गई जिससे मुद्रा की गति एवं साख की मात्रा में अधिकाधिक वृद्धि हुई व साथ ही बैंकों की वित्तीय क्रियायें भी बढ़ीं।

(2) **उत्पादन लागत में वृद्धि** – प्राय: सभी वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में वृद्धि होने से मजदूरी की दरों में भी वृद्धि हुई, फलस्वरूप सामान्य वस्तुओं को क्रय करने में अधिक धनराशि की व्यवस्था की गई व मुद्रा का प्रयोग बढ़ा, जिससे मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिला तथा उसका कारण बनीं।

(3) **हीनार्थ प्रबन्धन** – योजनाओं में हीनार्थ प्रबन्धन के कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की गई। प्रथम योजना में 333 करोड़ रुपये, द्वितीय योजना में 951 करोड़ रुपये, तृतीय योजना में 1,151 करोड़ रुपये एवं चतुर्थ योजना में 948 करोड़ रुपये से हीनार्थ प्रबन्धन किया गया। पाँचवीं योजना में यह राशि केवल 550 करोड़ रुपये ही रखी गयी है। इस निरन्तर हीनार्थ प्रबन्धन के परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति हुई व मूल्यों में वृद्धि हुई।

(4) **बिगड़ी राजनैतिक दशायें** – विश्व की राजनैतिक दशायें बिगड़ने से भारत में मूल्यों में वृद्धि हुई। भारत ने 1949 में अवमूल्यन किया जिससे आयात महँगे हो गये। पाकिस्तान ने भी साथ नहीं दिया। 1950 में कोरिया युद्ध के फलस्वरूप हथियारों के निर्माण पर ध्यान दिया गया जिससे नागरिक वस्तुओं के उत्पादन के लिए कमी होने से मूल्यों में वृद्धि होती गई।

(5) **असफल बचत व ऋण नीति** – युद्ध के पश्चात् युद्ध एवं बचत नीति के असफल होने के कारण देश में भी स्फीतिक दशायें उत्पन्न हो गयीं और मुद्रा प्रसार फैल गया।

(6) **उत्पादन में गिरावट** – देश में उत्पादन में वृद्धि न होने से भी मुद्रा-प्रसार प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। देश के कुछ भागों में बाढ़ों का प्रकोप रहा जिससे कृषि क्षेत्र में उत्पादन न बढ़ सका। औद्योगिक क्षेत्र में भी श्रम समस्यायें मशीनों का अभाव आदि के कारण उत्पादन में वृद्धि सम्भव न हो सकी।

(7) **नियंत्रणों की समाप्ति** – वस्तुओं के वितरण एवं मूल्यों पर नियंत्रण इस कारण से हटाया गया कि व्यापारीगण अपना स्टॉक बाजार में ले आयेंगे व मूल्य कम होंगे, परन्तु इसके विपरीत ही कार्य हुआ और नियंत्रण के हटते ही फिर से मूल्यों में वृद्धि हो गई।

(8) **चलन मुद्रा में वृद्धि** – इस काल में चलन मुद्रा में काफी वृद्धि हुई। 1950-51 में 2,016 करोड़ रुपये की मुद्रा बढ़कर 1967-68 में 5332 करोड़ रुपये और 10 जनवरी, 2003 को 4,54,490 करोड़ रुपये तक हो गई जिससे वस्तुओं के मूल्यों में अपार वृद्धि हुई। चलन मुद्रा में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन में वृद्धि सम्भव न हो सकी।

(9) **खाद्यान्न संकट** – देश विभाजन के बाद खाद्यान्न उगाने वाले अच्छे व उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान के क्षेत्र में चले जाने से खाद्यान्न की कमी हो गई व साथ ही शरणार्थियों के आगमन से खाद्यान्न की माँग बढ़ी व कृषि पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि हुई व कृषकों की मौद्रिक आय में वृद्धि हुई।

(10) **नैतिक पतन** – समाज में वस्तुओं की कमी एवं कीमत वृद्धि के कारण जमाखोरी एवं चोर बाजारी को प्रोत्साहन मिला, जिसके फलस्वरूप वस्तुओं का संचय होने लगा तथा विक्रेताओं द्वारा माल में मिलावट करके क्रेताओं के शोषण करने के प्रयत्न किये गये।

(11) **खुले बाजार की क्रियायें** – रिज़र्व बैंक देश में आवश्यकता पड़ने पर सरकारी एवं प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों का क्रय एवं विक्रय करता था जिससे समाज में मुद्रा की पूर्ति बढ़ी एवं मुद्रा प्रसार को प्रोत्साहन मिला।

(12) **योजनाओं में भारी विनियोजन** – योजनाओं द्वारा देश के विकास के कार्यक्रम बनाये गये तथा विभिन्न योजनाओं पर भारी राशि व्यय की गई। योजनाओं के लिए विदेशी पूँजी का सहारा लिया गया। इस सबके उपरान्त भी उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि न होने से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई।

प्राय: माँग में वृद्धि होने से मूल्यों में वृद्धि होती है जो स्फीति को जन्म देती है इसे चित्र 13.5 द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं –

माँग बढ़ने के साथ मूल्य भी बढ़कर P_1, P_2, P_3, P_4 आदि हो जाते हैं।

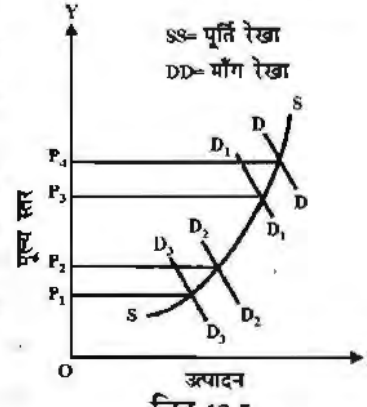

चित्र 13.5

मुद्रा-स्फीति रोकने के उपाय

भारत सरकार ने मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए विभिन्न उपायों का प्रयोग किया जो कि निम्नलिखित हैं –

(1) **वितरण व्यवस्था करना** – देश में आवश्यक वस्तुओं की वितरण व्यवस्था को सुधारने के उद्देश्य से राशनिंग व्यवस्था को चालू किया गया। देश में पर्याप्त मात्रा में सस्ते अनाज की दुकानों को खोलकर अनाज, घी, शक्कर आदि का सही वितरण किया गया।

(2) **उद्योगों का विकास** – स्वदेशी उद्योगों के विकास के प्रयास किये गये जिससे आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि सम्भव हो सके।

(3) **साख नीति पर नियंत्रण** – साख विस्तार को रोकने के उद्देश्य से बैंकों की साख नीति पर कठोर नियंत्रण लगाये गये।

(4) **उपभोक्ता सहकारी भण्डार** – देश में आवश्यक वस्तुओं के उचित वितरण के लिए उपभोक्ता सहकारी भण्डारों की स्थापना की गई जिससे उचित मूल्यों पर माल की पूर्ति सम्भव हो सके।

(5) **सट्टे पर प्रतिबन्ध** – सट्टेबाजी पर नियंत्रण लगाये गये जिससे मूल्यों में वृद्धि सम्भव न हो सके।

(6) **वस्तु संग्रह दण्डनीय** – देश में वस्तु संग्रह को दण्डनीय घोषित करके गोदामों पर छापा मारकर माल जब्त किया गया जिससे मूल्यों में वृद्धि न हो सके।

(7) **बचत योजनायें** – इस काल में बचत योजनायें प्रारम्भ करके अतिरिक्त राशि को खींचने के प्रयास किये गये जिससे मुद्रा प्रसार को नियंत्रित किया जा सके।

(8) **करारोपण** – करारोपण में वृद्धि की गई जिसमें कुछ नवीन कर लगाये गये जिससे जनता के पास मुद्रा की मात्रा में कमी हो सके।

(9) **वेतन में वृद्धि** – देश में नौकरी करने वालों के वेतन एवं महँगाई भत्तों में इस आशय से वृद्धि की गई कि उनकी मौद्रिक आय में वृद्धि हो सके तथा मूल्यों में वृद्धि का प्रभाव न पड़ सके।

(10) **परिवहन साधनों का विकास** – देश में परिवहन के साधनों के विकास किये गये जिसमें अभावग्रस्त क्षेत्रों में वस्तुओं को भेजकर मूल्य वृद्धि को रोका जा सके।

(11) **आयात में वृद्धि** – अभावशाली आवश्यक वस्तुओं के आयात में वृद्धि करके उनके अभाव की पूर्ति करने के प्रयास किये गये जिससे वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि सम्भव न हो सके।

(12) **मूल्य निश्चित करना** – देश में अधिकांश वस्तुओं के मूल्यों को पहले से निश्चित कर दिया गया जिससे उनमें उच्चावचन उन्हीं सीमाओं के **अन्तर्गत सम्भव** हो सके।

(13) **सार्वजनिक व्यय में कमी** – सरकार ने सरकारी व्ययों में कमी करके सार्वजनिक व्ययों में कमी करने के भरसक प्रयास किये। सरकारी कार्यों में मितव्ययिता को प्रोत्साहित किया गया।

(14) **आठ-सूत्री कार्यक्रम** – 1949 में रुपये के अवमूल्यन से पर्याप्त वांछित लाभ प्राप्त न हो सके और मूल्य वृद्धि का दौर बढ़ता गया। इस स्थिति पर नियंत्रण करने के लिए सरकार ने आठ-सूत्री कार्यक्रम बनाया, जिसके फलस्वरूप मूल्यों में गिरावट आ सके।

(15) **सं.रा. अमेरिका से गेहूँ का ऋण** – इस काल में सं.रा. अमेरिका से गेहूँ का ऋण लिया गया जिससे अनाज की कीमतों में वृद्धि न हो सके व दूसरे अनाज आदि को क्रय करने में जनता की क्रय शक्ति सरकार के पास हस्तांतरित हो गई। खाद्य वितरण के लिए सस्ते मूल्यों की दुकानें एवं राशनिंग व्यवस्था का सहारा लिया गया।

(16) **आपात स्थिति** – 26 जून, 1975 से देश में आपात् स्थिति की घोषणा की गयी, जिससे सभी वस्तुओं के मूल्यों पर नियंत्रण लगाये गये एवं मूल्य सूचियाँ लगाकर ग्राहकों को अधिक सुविधायें दी गयीं, जिससे मूल्यों में भारी कमी आई।

मुद्रा-विस्फीति (संकुचन)

(Deflation)

प्रारंभिक – मुद्रा-स्फीति की विपरीत स्थिति को मुद्रा-विस्फीति या मुद्रा-संकुचन कहते हैं। मुद्रा-संकुचन का सम्बन्ध वस्तुओं की गिरती हुई कीमत स्तर से लगाया जाता है, परन्तु जिस प्रकार मूल्यों में प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं होती, उसी प्रकार मूल्यों का प्रत्येक पतन मुद्रा-संकुचन नहीं हो सकता। मुद्रा-संकुचन से आशय उस स्थिति से लगाया जाता है जिसमें मूल्यों की प्रत्येक कमी बेरोजगारी में वृद्धि करे तथा उत्पत्ति के साधनों में कमी कर दे। जब राष्ट्र का भुगतान सन्तुलन निरन्तर विपक्ष में रहने पर विदेशी पूँजी का आयात होने पर भी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि सम्भव न हो और मूल्यों में भी स्थिरता बनी रहे तो मुद्रा-विस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

परिभाषायें – मुद्रा-संकुचन की प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं–

(1) **पीगू के अनुसार**, "जब समाज की मौद्रिक आय की तुलना में वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन तेजी से बढ़े जिससे मुद्रा की क्रय शक्ति में वृद्धि होकर, वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतें गिर जायें तो इस स्थिति को मुद्रा संकुचन कहेंगे।"

(2) **क्राउथर के अनुसार**, "मुद्रा-संकुचन वह स्थिति है, जिसमें मुद्रा के मूल्य में वृद्धि हो अर्थात् मूल्यों में कमी हो।"

परिस्थितियाँ – प्रायः मूल्यों के गिरने से मुद्रा-संकुचन निम्न परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकता है–

(1) उत्पादन पूर्ववत् रहने से मौद्रिक आय में कमी हो तो मुद्रा संकुचन होता है।

(2) मौद्रिक आय एवं उत्पादन दोनों बढ़े, परन्तु उत्पादन में तेजी से वृद्धि होने पर।

NOTES

(3) जब देश में उत्पादन बढ़े, परन्तु मौद्रिक आय में कमी हो।

(4) जब उत्पादन एवं मौद्रिक आय दोनों में कमी हो, परन्तु मौद्रिक आय तेजी से घटे।

(5) मौद्रिक आय यथा स्थिर रहने पर यदि उत्पादन तेजी से बढ़ जाये तो संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

लक्षण – मुद्रा-विस्फीति के प्रमुख लक्षण निम्न हैं–

(1) **मूल्यों में कमी** – मुद्रा संकुचन में मूल्यों में कमी होना पाया जाता है।

(2) **उत्पादन में अधिक वृद्धि होना** – मुद्रा की मात्रा की तुलना में तुलनात्मक दृष्टि से उत्पादन में अधिक मात्रा में वृद्धि होती है। उत्पादन में अधिक वृद्धि हो जाने से वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं व मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है जिससे धीरे-धीरे मुद्रा-संकुचन या विस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(3) **विपक्ष भुगतान सन्तुलन** – भुगतान सन्तुलन के निरन्तर विपक्ष में रहने से विदेशी पूँजी के आयात होने पर भी मुद्रा की मात्रा एवं वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि सम्भव न हो तो उस समय भी विस्फीति उत्पन्न हो सकती है।

मुद्रा-संकुचन के कारण
(Causes of Deflation)

प्राय: मुद्रा-संकुचन निम्न कारणों से उदय होता है–

(1) **भारी करारोपण एवं ऋण लेना** – सरकार जनता पर भारी करारोपण करके तथा ऋण लेकर मुद्रा की मात्रा में कमी करके विस्फीति उत्पन्न कर सकती है।

(2) **वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि** – चलन मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने पर वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो जाने पर मूल्यों में कमी हो जाती है और मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(3) **मुद्रा परिमाण में कमी** – सरकार मुद्रा के परिमाण में कमी करके या अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को रद्द करके संकुचन की स्थिति उत्पन्न कर सकती है।

(4) **साख नियंत्रण नीतियाँ** – केन्द्रीय बैंक साख-निर्माण पर नियंत्रण लगाकर मुद्रा-संकुचन कर सकती है। इसमें बैंकों के रक्षित कोष की मात्रा को बढ़ाकर, जनता से प्रत्यक्ष रूप में ऋण लेकर एवं खुले बाजार की क्रियायें आदि सम्मिलित की जाती हैं।

(5) **बैंक दर में वृद्धि करके** – केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर में वृद्धि करने पर अन्य बैंकिंग संस्थायें भी अपनी ब्याज दर में बढ़ोत्तरी कर देती हैं जिससे देश में साख का संकुचन हो जाता है और परिणामस्वरूप विस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

अपस्फीतिकारी एवं स्फीतिकारी अन्तराल
(Deflationary and Inflationary Gap)

(1) **अपस्फीतिकारी अन्तराल** – पूर्ण रोजगार बनाये रखने हेतु जितने व्यय की आवश्यकता और उस मात्रा से कम व्यय करने पर दोनों के अन्तर को अपस्फीतिकारी अन्तराल कहते हैं। इसे चित्र 13.6 द्वारा दिखाया गया है। MB पूर्ण रोजगार स्तर है और PB कुल व्यय की मात्रा है, अत: अपस्फीतिकारी अन्तराल = MB – PB = MP है।

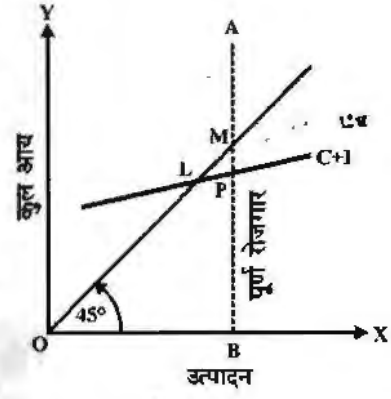

चित्र 13.6

(2) **स्फीतिकारी अन्तराल** – पूर्ण रोजगार बनाये रखने वाले व्यय से जितना अधिक व्यय सरकार द्वारा किया जाये वह सब स्फीतिकारी अन्तराल कहलाता है। इसे चित्र 13.7 द्वारा स्पष्ट किया गया है। LM कुल व्यय की आवश्यकता

तथा NM कुल व्यय है, तो स्फीतिकारी अन्तराल = NM–LM = NL है।

मुद्रा-संकुचन के प्रभाव
(Effects of Deflation)

मुद्रा संकुचन से समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न ढंग से प्रभाव पड़ता है। मुद्रा-संकुचन के प्रभाव का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है–

(1) नैतिक प्रभाव। (2) आर्थिक प्रभाव। (3) सामाजिक व अन्य प्रभाव।

(1) **नैतिक प्रभाव** – मुद्रा-संकुचन के नैतिक प्रभाव निम्न प्रकार हैं :

(i) **निराशा की भावना** – मुद्रा-संकुचन के समय कार्य बन्द होने लगते हैं, मजदूरों को काम नहीं मिलता जिससे उनमें निराशा की भावना फैलने लगती है।

(ii) **चोरी में वृद्धि** – जनता की आय में कमी होने लगती है जिससे जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिए मनुष्य को चोरी का सहारा भी लेना पड़ता है जिससे अनैतिकता में वृद्धि हो जाती है।

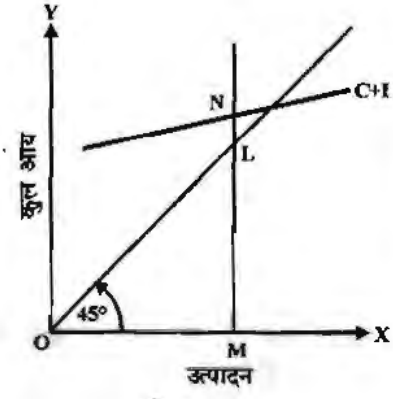

चित्र 13.7

(iii) **बेरोजगारी** – कारखानों की उत्पादन क्षमता में कमी हो जाने एवं माँग में कमी हो जाने से अनेक कारखाने बन्द हो जाते हैं, जिससे बेरोजगारी की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। बेरोजगारी फैलने से देश में अराजकता का वातावरण उत्पन्न होने लगता है, जिसे रोकने के सरकार हर सम्भव प्रयास करती है।

(2) **आर्थिक प्रभाव** – मुद्रा-संकुचन के आर्थिक प्रभाव निम्नलिखित हैं :

(i) **व्यापारी एवं उत्पादक वर्ग** – देश में वस्तुओं की कीमतें गिरने से व्यापारी एवं उत्पादक वर्ग को हानि का सामना करना पड़ता है क्योंकि इस काल में माँग कम हो जाने से बिक्री कम हो जाती है और स्टाक में वृद्धि होने से उसे कम मूल्य पर बेचने के प्रयास किये जाते हैं, फलस्वरूप हानि की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। ग्राहकों को सन्तुष्ट करने के अतिरिक्त छूट दी जाती है तथा माल न बिकने से पूँजी का अभाव अनुभव किया जाता है।

(ii) **कृषकों को हानि** – मुद्रा-संकुचन से किसानों को हानि सहन करनी पड़ती है। उन्हें लगान के रूप में एक पूर्व निश्चित राशि भुगतान करनी पड़ती है, जिससे इस राशि का वास्तविक भार बढ़ जाता है और कृषकों पर भार बढ़ जाता है। कृषि उपज की कीमतें अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक गिरती हैं। इससे भी कृषकों को भारी हानि सहन करनी पड़ती है।

(iii) **उपभोक्ता वर्ग को लाभ** – मूल्यों के गिरने से सीमित आय में अधिक वस्तुयें प्राप्त की जा सकती हैं, जिससे मुद्रा-संकुचन उपभोक्ताओं को लाभप्रद होता है। सीमित आय वाले उपभोक्ताओं को अधिक लाभ प्राप्त होता है वे अपनी आवश्यकताओं को अधिक मात्रा में सन्तुष्ट करने में सफल हो जाते हैं।

(iv) **ऋणी को हानि व ऋणदाता को लाभ** – मुद्रा संकुचन से ऋणी वर्ग को हानि होती है क्योंकि उसे मूलधन व ब्याज के लिए वस्तुओं व सेवाओं के रूप में अधिक त्याग करना पड़ता है और उन्हें ऋण का भार असहनीय हो जाता है। इसके विपरीत ऋणदाताओं को लाभ होता है, क्योंकि वस्तुओं व सेवाओं के रूप में मुद्रा का मूल्य पहले से अधिक हो जाता है और उन्हें लाभ प्राप्त होता है।

(v) **श्रमिक वर्ग को हानि** – प्रारम्भिक अवस्था में मुद्रा संकुचन के कारण मूल्यों में कमी होने से मजदूरों को लाभ होते हैं क्योंकि उनकी मजदूरी पूर्ववत ही रहती है, परन्तु थोड़े समय पश्चात उद्योगपति जब मजदूरी घटाने लगते हैं तो अनेक मजदूरों की छँटनी हो जाती है और इस प्रकार बेरोजगारी में वृद्धि होकर श्रमिकों की आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है जिससे उनके आर्थिक जीवन-स्तर पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

NOTES

(vi) **विनियोक्ताओं को हानि** – मुद्रा संकुचन के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के अंश एवं प्रतिभूतियों के मूल्य गिरने से विनियोक्ताओं को हानि उठानी पड़ती है। मन्दी के कारण व्यापार व व्यवसाय के बन्द हो जाने से विनियोग-पत्रों का मूल्य गिर जाता है।

(3) **सामाजिक एवं अन्य प्रभाव** – मुद्रा संकुचन के सामाजिक एवं अन्य प्रभावों में निम्न को सम्मिलित किया जाता है :

(i) **सरकार पर ऋण भार में वृद्धि** – मुद्रा क्रय शक्ति के बढ़ जाने से सरकार पर ऋण का भार बढ़ जाता है तथा उसे कभी-कभी अतिरिक्त ऋण भी लेना पड़ता है।

(ii) **बैंकिंग काम में कमी** – मन्दी के कारण बैंक एवं बीमा कम्पनियों का कार्य भी धीमा हो जाता है तथा उनकी आर्थिक स्थिति भी खराब हो जाती है। अनेक बैंक कार्य की कमी के कारण अपना व्यवसाय बन्द करने पर मजबूर हो जाते हैं।

(iii) **करदाताओं को हानि** – मन्दी के समय जो कर लगाये जाते हैं, वस्तुएँ व सेवाओं के रूप में उनकी मात्रा अधिक होती है। इस प्रकार करदाताओं को कर चुकाने में हानि सहन करनी पड़ती है।

(vi) **व्यापार शेष पक्ष में** – मन्दी आ जाने से निर्यात की मात्रा में वृद्धि होती है तथा आयात घटने से व्यापार शेष देश के पक्ष में हो जाता है, परन्तु बाद में मन्दी का प्रभाव सदैव फैलने पर व्यापार में भी मन्दी आ जाती है और धीरे-धीरे विदेशी व्यापार ही समाप्त हो जाता है।

(v) **सामान्य जनता को लाभ** – मुद्रा संकुचन के कारण वस्तुओं के मूल्यों में कमी आ जाने से जनता को लाभ प्राप्त होते हैं, क्योंकि पहले की अपेक्षा उन्हें अब अनेक वस्तुयें सस्ते मूल्यों पर प्राप्त होने लगती हैं।

मुद्रा-संकुचन के प्रभावों को निम्न चार्ट द्वारा स्पष्ट किया गया है :

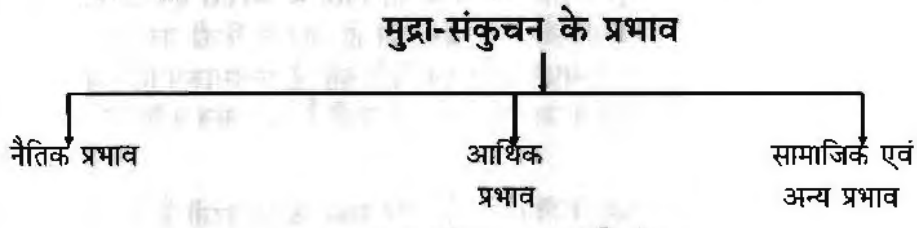

मुद्रा-संकुचन पर नियंत्रण
(Control on Deflation)

मुद्रा-संकुचन को नियंत्रित करने के लिए निम्न उपायों को काम में लाया जा सकता है।

I. सरकारी नीति एवं उपाय।

II. मौद्रिक उपाय।

I. सरकारी नीति एवं उपाय

सरकार द्वारा संकुचन को नियंत्रित करने के लिए निम्न कार्य किये जा सकते हैं–

(1) **ऋणों को लौटाना** – इस काल में सरकार अपने द्वारा लिये गये ऋणों को लौटाकर जनता व बैंकों के पास धन की वृद्धि करती है जिससे समाज में नवीन मुद्रा के आने से संकुचन का प्रभाव कम होगा।

(2) **करों में छूट** – सरकार अनेक क्षेत्रों में करों की मात्रा में छूट देकर जनता के पास अधिक मात्रा में क्रय शक्ति छोड़ देती है, इससे मुद्रा संकुचन का प्रभाव कम हो जाता है।

(3) **सरकार द्वारा खरीद** – सरकार अतिरिक्त माल को स्वयं खरीदकर मूल्यों में होने वाली कमी को रोकती है। यह खरीदा हुआ माल भविष्य के लिए संग्रह करके अथवा दूसरे राष्ट्रों को ऋण के रूप में दिया जा सकता है।

(4) **विदेशी विनियोग** – संकुचन का प्रभाव कम करने के लिए सरकार विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित करती है जिससे नवीन पूँजी आगमन से संकुचन की स्थिति में सुधार सम्भव हो सके।

(5) **अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट करना** – मूल्यों की कमी को रोकने के लिए देश के अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट करके मूल्यों को गिरने से रोका जा सकता है। यह व्यवस्था विकसित देशों में विशेषकर अपनायी जाती है। विकासशील एवं अर्द्धविकसित देशों में इसे बहुत कम प्रयोग किया जाता है।

(6) **निर्यातों को प्रोत्साहन** – मुद्रा-संकुचन के समय सरकार निर्यात प्रोत्साहन के लिए आवश्यक योजनाओं का निर्माण कर सकती है जिससे मूल्यों में कमी न हो। इसके लिए आर्थिक सहायता, सस्ते ऋण की व्यवस्था आदि उपायों को अपनाया जा सकता है।

(7) **पूँजी की सहायता** – मुद्रा-विस्फीति काल में सरकार नवीन उद्योगों को पूँजी एवं ऋण सम्बन्धी सहायता प्रदान कर सकती है जिससे नवीन उद्योगों की स्थापना से रोजगार में वृद्धि हो तथा आय में भी वृद्धि सम्भव हो सके।

(8) **नवीन निर्माण कार्य** – मुद्रा-संकुचन के समय सरकार द्वारा अनेक नवीन निर्माण कार्य प्रारंभ करने से रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। इससे माँग में वृद्धि होकर संकुचन के प्रभावों को कम किया जा सकता है।

II. मौद्रिक उपाय

मुद्रा-संकुचन पर नियंत्रण लगाने के लिए निम्न मौद्रिक उपायों का पालन किया जा सकता है–

(1) **बैंकिंग विकास** – सरकार द्वारा बैंकों के विकास के लिए आर्थिक सहायता देकर साख का विस्तार किया जा सकेगा तथा मुद्रा संकुचन पर नियन्त्रण लगाया जा सकेगा।

(2) **मुद्रा का निर्गमन** – देश में मुद्रा का अधिक मात्रा में निर्गमन करके गिरते हुए मूल्यों को रोका जा सकेगा तथा मुद्रा-संकुचन पर रोक लगाई जा सकेगी। इसके लिए नवीन प्रकार के नोटों का प्रचलन किया जाता है तथा देश में मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया जाता है।

(3) **साख नीति में सुविधा** – केन्द्रीय साख नीति में सुविधाएँ देने से व्यापारी बैंकों को अधिक साख विस्तार के अवसर प्राप्त होंगे। ब्याज की दर कम होने से व्यापारी भी अधिक ऋण लेगा तथा मुद्रा-संकुचन की स्थिति में सुधार होने लगेगा।

इसे निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है–

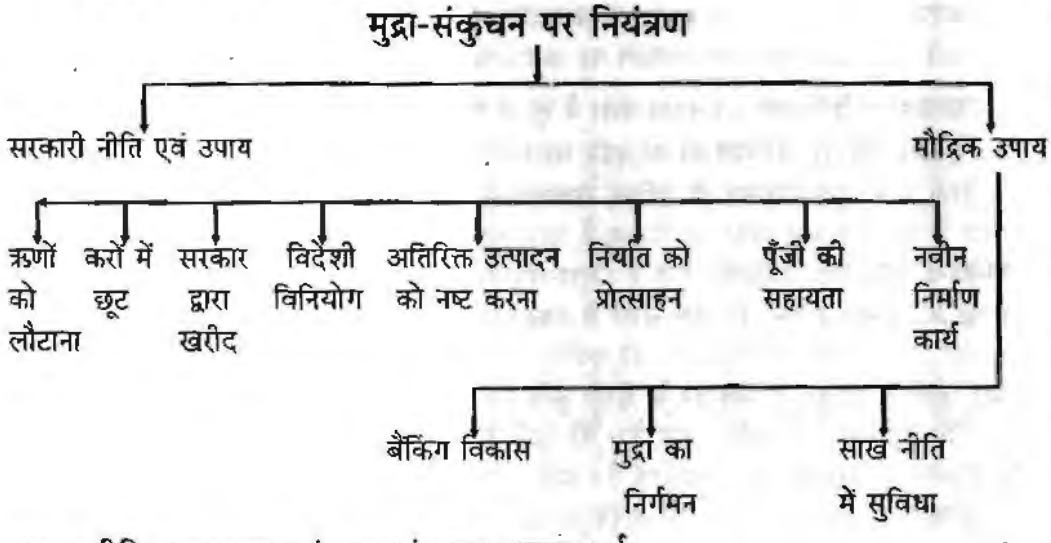

मुद्रा-स्फीति अनुपयुक्त एवं मुद्रा-संकुचन अन्यायपूर्ण

रोजगार एवं उत्पादन की पूर्णता ही मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-संकुचन की कसौटी है। देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति होने के बाद भी मूल्यों में यदि वृद्धि हो तो वह मुद्रा-प्रसार होगा। इसी प्रकार मूल्यों में कमी आने से रोजगार एवं उत्पादन में कमी आने लगे तो उसे मुद्रा-संकुचन कहेंगे।

NOTES

मुद्रा-प्रसार अनुपयुक्त – मुद्रा-प्रसार से द्रव्य का मूल्य गिर जाता है व उसकी क्रय शक्ति कम हो जाती है जिससे प्रतिभूतियों में विनियोग से व्यक्ति की वास्तविक आय कम हो जाती है। उत्पादकों को मुद्रा-स्फीति से लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि वे कम मूल्य पर कच्चा माल खरीदकर ऊँचे दाम पर निर्मित माल बेचकर लाभ अर्जित करते हैं। उधार देने वालों को मुद्रा-प्रसार से लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि ऋण वापस करते समय मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है परन्तु उधार देने वालों को हानि का सामना करना पड़ता है। यदि हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा नोटों की मात्रा में वृद्धि कर दी जाये तो इसका भार निर्धनों पर पड़ेगा और उनकी आय में कमी हो जायेगी जिससे वे अपनी आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने में भी असफल रहेंगे। इस प्रकार मुद्रा-प्रसार के समय समाज के एक वर्ग को लाभ प्राप्त होते हैं, परन्तु दूसरी ओर समाज के दूसरे वर्ग के व्यक्ति हानि उठाते हैं। इसी कारण मुद्रा प्रसार को अनुपयुक्त कहा गया है।

मुद्रा-स्फीति के कारण –

(i) सामान्य जनता की क्रय शक्ति बहुत कम हो जाती है और उसे वस्तुएँ महँगे मूल्यों पर मिलती हैं।

(ii) इससे ऋणदाता वर्ग को हानि होती है, क्योंकि जिस समय राशि उधार ली जाती है, उस समय मुद्रा की क्रय शक्ति वह नहीं रहती जो पहले थी।

(iii) इससे निश्चित आय वाले वर्ग को हानि होती है और मूल्य बढ़ने से उनका नियमित खर्चा चलना कठिन हो जाता है।

(iv) स्फीति से अनेक प्रकार के अनैतिक अपराध होने लगते हैं, जिससे नागरिकों को कष्ट होता है और प्रशासन पर भी दबाव बढ़ जाता है और असन्तोष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

मुद्रा-संकुचन अन्यायपूर्ण – मुद्रा-संकुचन में माल की माँग कम होने से वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं जिससे निश्चित आय वाले व्यक्तियों को अल्पकाल में लाभ प्राप्त होते हैं, परन्तु दूसरी ओर उद्योग एवं व्यापारिक संस्थाएँ बन्द होने लगती हैं, क्योंकि वे अपने लागत मूल्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं फलस्वरूप कारखाने बन्द हो जाते हैं, मजदूरों में बेरोजगारी फैलती है तथा समाज को भयंकर मन्दी का सामना करना पड़ता है। बैंकों की प्रतिभूतियों के मूल्य भी गिरने लगते हैं जिससे बैंकों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। देश की समस्त व्यापारिक एवं औद्योगिक व्यवस्था व्यर्थ हो जाती है, सरकार भी सरलता से करों को वसूल करने में असमर्थ रहती है तथा प्रत्येक वर्ग को मन्दी की हानि का सामना करना पड़ता है। मुद्रा-संकुचन के अन्यायपूर्ण होने के मुख्य कारण निम्न हैं–

(i) **बेरोजगारी** – मुद्रा-संकुचन से देश में कारखाने बन्द हो जाते हैं और अनेक श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं, जिससे समाज में असन्तोष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

(ii) **उत्पादन में शिथिलता** – संकुचन काल में मूल्यों में कमी होने से उत्पादकों के लाभ कम हो जाते हैं और देश की अर्थव्यवस्था को हानि सहन करनी होती है।

दोनों में से मुद्रा-संकुचन ही अधिक कष्टदायक – मुद्रा प्रसार केवल कुछ वर्गों को ही अधिक कष्ट देता है और यह कष्ट शनैः-शनैः फैलता है, परन्तु मुद्रा-संकुचन का प्रभाव व्यापक रूप से फैलता है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को बिगाड़ देता है। मुद्रा-संकुचन में मूल्यों में गिरावट प्रारम्भ हो जाती है और जनता का अविश्वास उद्योगों को आगे बढ़ने में रुकावटें उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार मुद्रा से व्यापार, उद्योग, बैंक व्यवस्था तथा श्रमिकों आदि को पर्याप्त लाभ प्राप्त होते हैं और देश की अर्थव्यवस्था उन्नति की ओर जाती है, परन्तु मुद्रा संकुचन के समय कृषि व्यवस्था एवं विदेशी व्यापार में मन्दी आ जाती है अनेक व्यक्ति बेरोजगार हो जाते हैं तथा देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है। मुद्रा-प्रसार यदि बुरा है तो मुद्रा-संकुचन असह्य एवं आवश्यक है। इसी कारण **प्रो. कीन्स** का कथन है कि मुद्रा प्रसार की स्थिति अन्यायपूर्ण है तथा मुद्रा-संकुचन अनुपयुक्त और इन दोनों में मुद्रा-संकुचन ही अधिक बुरा है।

मुद्रा अपस्फीति
(Dis-Inflation)

देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर उसे सामान्य मूल्य स्तर तक लाने के लिए मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाती है, जिसे मुद्रा-अपस्फीति कहते हैं। इसे व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रायः

मुद्रा-संकुचन की रीतियों को ही काम में लाया जाता है। मुद्रा-अपस्फीति में मुद्रा की मात्रा को एक असामान्य ऊँचे स्तर से सामान्य स्तर तक लाने के सफल प्रयास किये जाते हैं। मुद्रा-अपस्फीति देश की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए आवश्यक मानी जाती है, जबकि मुद्रा-संकुचन से राष्ट्र को हानि होने की सम्भावना बनी रहती है।

चित्र 13.8 में मुद्रा-प्रसार, मुद्रा-संकुचन, संस्फीति एवं विस्फीति को समझाया गया है–

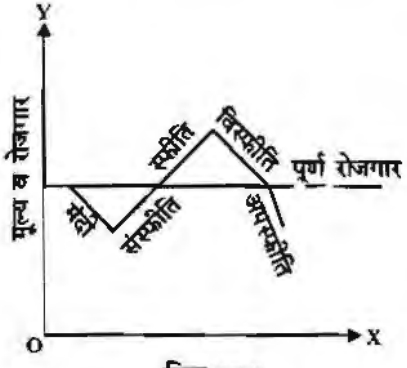

चित्र 13.8

मुद्रा-अपस्फीति के ढंग

मुद्रा-अपस्फीति लाने के प्रमुख ढंग निम्नलिखित हैं–

(1) **मुद्रा को रद्द करना** – पुरानी मुद्रा का एक बड़ा भाग रद्द करके मुद्रा की मात्रा को कम कर दिया जाता है जिससे स्थिति में सुधार लाया जा सके।

(2) **बचत को प्रोत्साहन** – देश में बचतों को प्रोत्साहित करके मुद्रा चलन में कमी कर दी जाती है।

(3) **कर लगाना** – सरकारी भारी करारोपण करके या ऋणपत्रों को बेचकर चलन से अधिकाधिक मात्रा में चलन मुद्रा को वापस लेने के प्रयास किये जाते हैं।

(4) **मुद्रा की मात्रा** – मुद्रा-अपस्फीति में मुद्रा की मात्रा को घटाकर एक सामान्य स्तर तक लाया जाता है। इसके विपरीत मुद्रा-संकुचन की स्थिति में मुद्रा की मात्रा सामान्य स्तर से गिरकर बहुत नीचे की ओर चली जाती है।

(5) **बेकारी** – संकुचन में बेकारी फैलती है परन्तु अपस्फीति में यह दोष नहीं रहता क्योंकि सरकार मूल्य को इस प्रकार समायोजित करती है कि बेरोजगारी न हो पावे।

मुद्रा-अपस्फीति के उपाय

मुद्रा-अपस्फीति के लिए सरकार (i) पुरानी मुद्रा का एक बड़ा भाग रद्द कर सकती है जैसा कि जर्मनी में हुआ था। (ii) बचतों को प्रोत्साहित किया जा सकता है, जिससे मुद्रा चलन में कम हो जाती है। (iii) सरकार ऋणपत्र बेचकर या नया कर लगाकर चलन में अधिक मुद्रा वापस कर सकती है, (iv) उत्पादन में शीघ्रता से वृद्धि करके अतिरिक्त मुद्रा का शोषण करने के प्रयत्न किये जाते हैं।

मुद्रा-संस्फीति

(Reflation)

मुद्रा-संकुचन के कारण मूल्यों में कमी होने से देश में बेरोजगारी बढ़ती है और उसे सुधारने की दृष्टि से जान- बूझकर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके मूल्यों में वृद्धि की जाये तो उसे मुद्रा-संस्फीति कहेंगे। मन्दी के अभावों को दूर करने की दृष्टि से जान- बूझकर किये गये मुद्रा प्रसार को मुद्रा संस्फीति कहेंगे।" इस प्रकार नियंत्रित मुद्रा-प्रसार को संस्फीति कहा जाता है।

मुद्रा-संस्फीति के ढंग

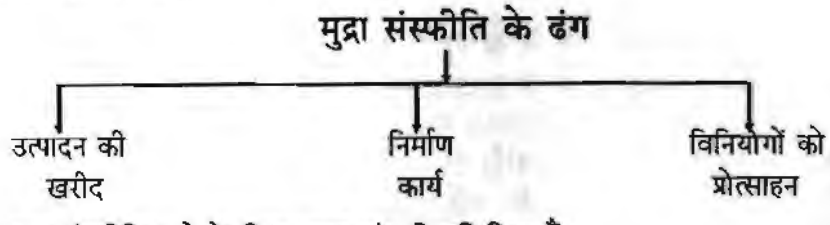

मुद्रा-संस्फीति लाने के लिए प्रमुख ढंग निम्नलिखित हैं–

(1) **उत्पादन की खरीद** – देश में अतिरिक्त उत्पादन को सरकार स्वयं क्रय कर ले या विदेशों में माल निर्यात कर दिया जाये तो मुद्रा-संकुचन की स्थिति का अन्त हो जायेगा।

(2) **निर्माण कार्य** – सरकार जनता को ऋण देकर अथवा निर्माण कार्य प्रारम्भ करके अधिक मुद्रा को चलन में डालने के प्रयास किये जाते हैं जिससे मन्दी को समाप्त किया जा सके।

NOTES

(3) **विनियोगों को प्रोत्साहन** – इसमें सरकार द्वारा विनियोगों को प्रोत्साहित किया जाता है, जिससे पूँजी का उपयोग नवीन कारखानों की स्थापना में सुविधापूर्ण ढंग से किया जा सके।

मुद्रा-संस्फीति एवं मुद्रा-स्फीति में अन्तर

मुद्रा-संस्फीति एवं मुद्रा-स्फीति में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं–

(1) **प्रभाव** – मुद्रा-संस्फीति से सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती है, परन्तु स्फीति से मूल्यों में वृद्धि होती है।

(2) **नियंत्रण** – मुद्रा-संस्फीति को एक निश्चित सीमा पर नियंत्रित किया जा सकता है, परन्तु मुद्रा-स्फीति को रोकना कठिन होता है।

(3) **सुधार** – मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य संकुचन की अवस्था में सुधार करना होता है, परन्तु मुद्रा-स्फीति अल्पकालीन कारणों से उदय होती है।

(4) **जान-बूझकर** – मुद्रा-संस्फीति को जान-बूझकर प्रारम्भ किया जाता है और इसका आरम्भ मुद्रा-संकुचन की चरम सीमा तक पहुँचने पर होता है। मुद्रा-स्फीति विशेष परिस्थितियों में प्रारंभ की जाती है जिस पर प्राय: सरकार का नियंत्रण बना रहता है।

इस प्रकार मुद्रा-संस्फीति देश के लिए लाभदायक परन्तु मुद्रा-स्फीति हानिकारक होती है।

इसे निम्न चित्र से दिखाया जा सकता है :–

मुद्रा-संस्फीति के मुख्य उपाय निम्न हैं :

(i) सरकार ऋण देकर या नवीन कार्य प्रारम्भ करके अधिक मुद्रा प्रचलन में डालने का प्रयास करती है।

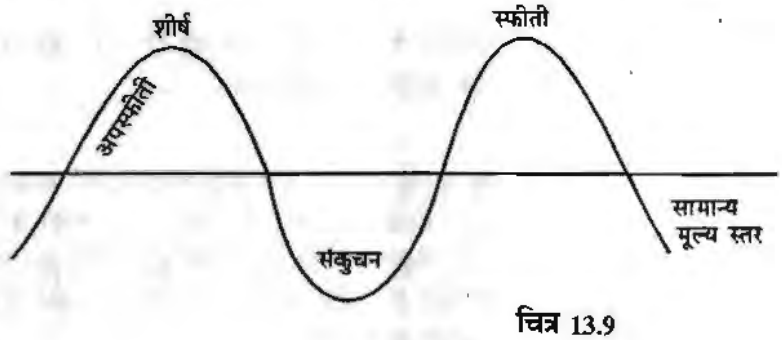

चित्र 13.9

(ii) देश में विनियोजकों को प्रोत्साहित करने के प्रयास किये जाते हैं।

(iii) अतिरिक्त उत्पादन को सरकार स्वयं क्रय करके या विदेशों में निर्यात करने का प्रयत्न करके स्थिति को सुलझा सकती है।

आर्थिक निष्क्रियता या मुद्रास्फीति मिश्रित स्थिति

(Stagflation or Slumpflation)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के अधिकांश राष्ट्रों में तेजी से विकास हुआ तथा औद्योगिक देशों में यह प्रगति अधिक महत्वपूर्ण थी, परन्तु 1973 के बाद औद्योगिक देशों की अर्थव्यवस्था को एक नवीन प्रकार के आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। इन देशों में मुद्रा- स्फीति की दर काफी ऊँची हो गयी। 1973 में इन देशों में औसत स्फीति दर 7 प्रतिशत से बढ़कर 1997 में 12 प्रतिशत हो गयी व दूसरी ओर आर्थिक विकास की गति रुक गयी। अधिकांश देशों में औद्योगिक शिथिलता बढ़ी व बेरोजगारी में वृद्धि हुई। आर्थिक विकास में स्थिरता आयी तथा कीमतों में तेजी से वृद्धि हुई है। आर्थिक निष्क्रियता व आर्थिक विकास में स्थिरता और मुद्रा स्फीति के मिश्रित रूप को Stagflation कहते हैं तथा गिरावट व स्फीति के मिश्रित रूप को Slumpflation कहा गया है।

1976 में स्थिति में सुधार हुआ। औद्योगिक देशों की अर्थव्यवस्थाएँ एक झटके के साथ ऊपर उठने लगीं। राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होने लगी, परन्तु मुद्रा- स्फीति व बेरोजगारी के स्तर काफी ऊँचे

रहे। 1977 में विकास दर 4.9 प्रतिशत थी जबकि कीमतों में वृद्धि की दर 5.5 प्रतिशत थी। कीमतों में निरन्तर वृद्धि की स्थिति का विकास दर तथा रोजगार का स्तर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

अधिकांश औद्योगिक देशों में स्थिति चिन्ताजनक रही है। आर्थिक स्थिरता की स्थिति रही, बेरोजगारी बढ़ी व भुगतान सन्तुलन के घाटे में वृद्धि हुई। यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के व देशों में स्फीति की दर 7 से 23 प्रतिशत तक रही व बेरोजगारी की संख्या 33 लाख थी। पश्चिमी योरोप के सभी देश आर्थिक शिथिलता की स्थिति में थे। एक ओर जहाँ कीमतें बढ़ी वहीं दूसरी ओर बेरोजगारी में निरन्तर वृद्धि हुई।

औद्योगिक देशों में मूल्य वृद्धि का मुख्य कारण तेल की कीमतों में वृद्धि होना था, परन्तु कीमतों में वृद्धि का क्रम पहले ही प्रारम्भ हो गया था इससे इसकी गति और तेज हो गयी। आर्थिक अस्थिरता के लिए सबसे अधिक उत्तरदायित्व इन अर्थव्यवस्थाओं पर पड़ने वाले स्फीतिक प्रभावों का रहा है। मुद्रा-स्फीति को आर्थिक विकास के लिए एक सहायक तत्व के रूप में स्वीकार करने वाली धारणा गलत प्रमाणित हुई। औद्योगिक राष्ट्रों में आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य विकास के स्थान पर स्थिरता को महत्व देना है। आर्थिक नीति में निम्न तत्वों को स्वीकार किया गया है :-

(i) अल्पकाल में रोजगार के ऊँचे स्तर को मुद्रा- स्फीति की ऊँची दरों से प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

(ii) औद्योगिक देशों में पूर्ण रोजगार स्तर तक पहुँचने में अनेक वर्ष लग जाते हैं।

(iii) साधनों का उपभोग भुगतान सन्तुलन में सुधार व विनियोग में वृद्धि के लिए करना होता है।

(iv) निजी व सार्वजनिक उपभोग के स्तर में अधिक वृद्धि सम्भव नहीं है।

(v) कीमत स्थिरता एवं पूर्ण रोजगार की प्राप्ति हेतु आर्थिक विस्तार की धीमी दर ही अधिक उपयुक्त मानी जाती है।

विश्व के आर्थिक संकट के रूप में Stagflation की चर्चा 1973 से हो रही है, परन्तु भारत में यह समस्या पिछले अनेक वर्षों से है। कीमतों में निरन्तर वृद्धि से आर्थिक विकास की दर धीमी रही है और बढ़ती हुई जनसंख्या एवं बेरोजगारी के कारण प्रति व्यक्ति आय में कोई विशेष सुधार नहीं हो पाया है। अर्थव्यवस्था में अनिश्चितता बढ़ी है और भविष्य के लिए सही अनुमान लगाना कठिन हो गया है।

वर्तमान परिस्थितियों में मुद्रा-स्फीति को रोकना आवश्यक हो गया है, परन्तु Stageflation की स्थिति में इसकी रोकथाम के लिए एक उपयुक्त नीति का अपनाना जटिल हो गया है। अत: ऐसे उपाय अपनाने की आवश्यकता है, जिससे मुद्रा- स्फीति रुक सके परन्तु इससे आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव न पड़े। इस प्रकार का सन्तुलन प्राप्त करना एक गम्भीर समस्या माना जाता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. 'माँग-प्रेरित स्फीति' एवं लागत प्रेरित स्फीति में अन्तर बताइए। क्या यह तत्व मुद्रा-स्फीति पर पृथक-पृथक प्रभाव डालते हैं?

   Distinguish between 'Demand pullinflation' and 'Cost pushinflation'. Do these factors exert their pressure on inflation independently?

2. मुद्रा-स्फीति आर्थिक विकास के क्रम को किस प्रकार प्रभावित करती है? क्या यह आर्थिक विकास की ही एक उपज है?

   How does inflation affect the process of economic growth? Is it a by-product of economic growth.

NOTES

3. मुद्रा-स्फीति के आर्थिक प्रभावों की व्याख्या कीजिए। स्फीतिक दबावों को रोकने हेतु आप क्या उपाय देंगे ?
Discuss the economic consequences of inflation. What measures should you recommend to check inflationary pressures in the economy?

4. मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पादन, रोजगार तथा विभिन्न वर्गों की वास्तविक आय पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिए।
Discuss fully the effect of changes in the value of money on the volume of production, employments and real income of the various section in the community.

5. "किसी वस्तु की माँग समस्त पूर्ति से अधिक होना ही मुद्रा-स्फीति है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए और मुद्रा- स्फीति उत्पन्न करने वाले तत्वों का विश्लेषण कीजिए।
"Inflation is an excess of demand of anything other the supply of everything." Discuss this statement and analyse factors that result in inflation."

6. 'स्फीतिक अन्तर' की धारणा स्पष्ट कीजिए। क्या यह आलोचना से मुक्त है ?
Explain the concept of inflationary gap.' Is it free from criticism.

7. मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूप बताइए। इसकी गति को प्रभावित करने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिए।
Explain various types of inflation. Discuss those factors which influence its speed.

8. "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है और अवस्फीति अनुपयुक्त।" व्याख्या कीजिए।
"Inflation is unjust and deflation is inexpredient." Elucidate."

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. मुद्रा-स्फीति क्या है ?
What is Inflation?

2. मुद्रा-स्फीति के प्रकार समझाइये।
Explain the types of Inflation.

3. मुद्रा-स्फीति के क्या कारण हैं ?
What are the causes of Inflation?

4. मुद्रा-स्फीति के प्रभाव समझाइये।
Explain the effects of Inflation.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. "मुद्रा प्रसार एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें मुद्रा का मूल्य गिर रहा है अथवा बढ़ रहा है।" यह कथन है-
(अ) क्राउथर (ब) पीगू (स) फिशर (द) कोई नहीं
"Inflation is a state in which the value of money is falling i.e. prices are falling." This statement is:
(a) Crowther (b) Pigoue (c) Fisher (d) None of these

2. मुद्रा स्फीति के प्रभाव होते हैं-
(अ) आर्थिक (ब) सामाजिक (स) राजनीतिक (द) उपरोक्त सभी
Effects of Inflation are:
(a) Economic (b) Social (c) Political (d) All of above

उत्तर- 1. (अ), 2. (द)।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress